सत्यार्थ प्रकाश

प्रकाशक :-

विश्व संदेश परिषद्

१६/२, शक्तिनगर, दिल्ली-७

[illegible]

भूमिका

बड़े आनन्द से समस्त सज्जनों को विदित कराते हैं कि जीवन का एक मात्र लक्ष्य परमपिता परमात्मा को पहिचानना तथा भगवद् दर्शन ही है, क्योंकि श्रुति-स्मृति उपनिषद् गीतादि धर्म-ग्रन्थ तथा ऋषि, महर्षि, संत, महात्मा जिस के ज्ञान होने के लिये मुक्त कंठ से कह रहे हैं, श्रुति का भी वचन है 'ऋतेज्ञानान्न मुक्ति' भगवान ने भी कहा है 'सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञानेपरिसमाप्यते' हे पार्थ ? सब प्रकार के समस्त कार्यों का पर्यवसान ज्ञान में होता है। फिर भगवान इस प्रकार कहते हैं ' नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ' इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र सचमुच और कुछ भी नहीं है । जिस प्रकार प्रज्वलित की हुई अग्नि (सब) ईंधन को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार हे अर्जुन ! (यह) ज्ञान रूपी अग्नि सब कर्मों को (शुभ-अशुभ बन्धनों को) जला डालती है, जिस ज्ञान को पाकर हे पाण्डव ! फिर तुझे ऐसा मोह नहीं होगा, और जिस ज्ञान के योग से समस्त प्राणियों को तू अपने में और मुझ में भी देखेगा। 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः । ' ध्यान में रख कि प्रणिपात से, निष्कपट भाव से, प्रश्न करने से और सेवा से तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष तुझे (उस) ज्ञान का उपदेश करेंगे; और वह तत्त्वज्ञान बिना मन की एकाग्रता के नहीं होता है । गीता में कहा है

'चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़म् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् '' ॥

हे कृष्ण! यह मन बड़ा ही चंचल, स्वभाव वाला हठीला, बलवान और दृढ़ है। वायु की गठरी बाँधने के समान इस

का निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दीखता है। भगवान ने भी कहा है 'हे महावाहो अर्जुन ! इस में सन्देह नहीं कि मन बड़ा चंचल है और उसका निग्रह करना कठिन है, परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से स्वाधीन किया जा सकता है।' योगसूत्र में भी लिखा है 'योगश्चित वृत्तिनिरोध' चित्त की वृत्तियों का निरोध ही मुख्य योग है। और फिर भगवान ने गीता में कहा है 'तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।' हे अर्जुन ! तपस्वी से ज्ञानी, कर्मी योगाभ्यासी श्रेष्ठ है, इसलिये तू योग कर (गी० ६-४६) 'यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव। न ह्यसंन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन॥' हे पाण्डव ! जिसको संन्यास ऐसा कहते हैं, उसी को तू योग जान, क्योंकि संकल्पों को न त्यागने वाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता। इसी रहस्य को बतलाने के लिये मैंने इस संसार रूपी बाग में वेदादि नाना ग्रन्थ रूपी पुष्पों से केशर रूपी सार निकाल कर इस छोटी सी पुस्तक-रूपी छत्ते में संग्रह किया है। जिस प्रकार कुछ काल पाकर केशर ही मधुरूप में परिणत हो जाता है इसी प्रकार मन को रोकने से आप भी तद्रूप हो जाँयेगें। जैसे चतुर वैद्य अपनी बूटी द्वारा पारे को मार देता है उसी तरह सद्गुरु-रूपी वैद्य अपनी नाम रूपी बूटी से मनरूपी पारे को मार देते हैं। जिस प्रकार कीट भृंगी के नाद को सुनकर भृंगीरूप हो जाता है उसी तरह आप भी इस पुस्तकरूपी नाद को भृंगीरूपी सद्गुरु द्वारा श्रवण, मनन, निधिध्यासन न करेंगे तो आप भी तद्रूप हो जायेंगे।

इस के लिखने से क्या अभिप्राय है सुनो ! मैं ही लिख देता हूं । भगवान ने गीता में कहा है कि जो तप नहीं करता, भक्ति नहीं करता और सुनने की इच्छा नहीं रखता, तथा जो मेरी निन्दा करता हो, उसे यह (गुह्य) कभी मत बतलाना ! जो यह परम गुह्य मेरे भक्तों को बतलावेगा उसकी मुझ में परम भक्ति होगी और वह निस्सन्देह मुझ में ही आ मिलेगा। उसकी अपेक्षा मेरा अधिक प्रिय और कोई न होगा । तत्व, बोधादि शास्त्रों में लिखा है कि ब्रह्म का इस प्रकार चिंतन करना चाहिए कि जो एकान्त में बैठे तो ब्रह्म का ही चिंतन करे, और जो परस्पर बात करे तो ब्रह्म की ही करे, किसी को कथन करना हो तो ब्रह्म का ही करे, यही ब्रह्म प्राप्ति का सहज उपाय है । लेकिन ये काम चित्त-शुद्धि के बिना नहीं हो सकता। चित्त-शुद्धि के लिए योग, भक्ति आदि मुख्य साधन इस पुस्तक में संग्रह किए गये हैं। मोक्ष-रूपी पदार्थ सब को सहज साध्य नहीं है किन्तु प्रबलतर संस्कार साध्य है । वे संस्कार स्ववर्णा-श्रोमुचित धर्मानुष्ठान द्वारा यम नियमादि साधन संपत्ति प्राप्ति पर्यन्त उपचित हो कर चित्त की शुद्धि करते हैं तदोपरान्त सद्-गुरू का उपाश्रयण कर के उन के मुखार बिन्द द्वारा उपदिष्ट हुये वेदादि धर्मग्रन्थों के वाक्यों के अर्थ तात्पर्य का विचार करने से तत्वपदार्थ बोध होता है। उसके तदनन्तर शीघ्र ही भगवद्दर्शन हो जाता है । फिर पूर्ण शांति की प्राप्ति हो जाती है।

सर्व सज्जनों से सविनय प्रर्थना है कि मैंने श्रुति-स्मृतिउप-निषदादि शास्त्रों से अपनी अल्प-बुद्धि से जो सार संग्रह किया है । उसको आप अपनी विशाल विवेक वाली बुद्धि से विचार करें जो शास्त्र के विरुद्ध हो उसको अङ्गीकार न करें, और

किसी जगह प्रकरण संगति या पुःनुरुक्ति आदि दोष प्रतीत होते हों, या भाषा अच्छी न हो अथवा भली प्रकार समझ में न आवे सब प्रकार क्षमा करने योग्य है। जो इस में परमेश्वर के स्वरूप का चिन्तन किया गया है इस गुण की विशेषता स्वीकार करें, कुछ इस में वाणी की चतुराई नहीं।

स्थाणुरयंभारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानातियोऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकनेति ज्ञान विधूतपाप्मा॥

जो वेद को पाठ मात्र पढ़ के अर्थ नहीं जानता वह जैसा वृक्ष, पत्ते, फल का और पशु, धान्य आदि का भार उठाता है वैसेही भारवाह भार उठाने वाला है। जो वेद को पढ़ उनका यथावत् अर्थ जानता है वही सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होकर देहान्त के पश्चात् ज्ञान से पापों को छोड़ पवित्र धर्माचरण से सर्वानन्द को प्राप्त होता है। (निरूक्त मत्र १। १८।)

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषदु।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इते समासते॥

जिस व्यापक अविनाशी सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में सब विद्यवान और पृथ्वी सूर्य आदि सब लोक स्थित हैं; जिसमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है उस ब्रह्म को जो नहीं जानता वह ऋगवेदादि से क्या कुछ सुख को प्राप्त हो सकता है! नहीं २ किन्तु जो वेदों को पढ़ के धर्मात्मा योगी होकर उस ब्रह्म को जानते हैं वे सब परमेश्वर में स्थित होके मुक्ति-रूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं इस लिए जो कुछ पढ़ना-पढ़ाना हो वह अर्थ ज्ञान सहित चाहिये। (ऋ० मं० १ सू १६४मं० ३९)।

आपका
"हंस"

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
जीवन परिचय	झ
चर्पट पंजरिका	(१)
हमारे जीवन का उद्देश्य	(८)
नीड् ऑफ् सद्गुरु (इंगलिस)	(/)
मंगला चरण	१
गुरु महिमा	७
गुरु वन्दना	२
गुरुदेव शरणम् (पद)	४
सद्गुरु कैसा हो	५
गुर्वष्टकम्	६
गुरु की मूरत मन में (पद)	१७
सद्गुरु अपने आप पहिचाना जाता है	२४
मनुष्य रूप के सिवाय ईश्वर को—	२६
महा पुरुषों के लक्षण	४४
विश्व रचना	४८
कर्म योग	६३
लक्ष्मणजी का निषादराज के प्रति	१०१
भक्ति योग	१०३
शिष्य कैसा होना चाहिये	१५२
गुरु पइयाँ लागू (पद)	२०८
झूठे गुरु से कोई लाभ नहीं	२०९
निगुरा—	२१०
गुरु मुख और मन मुख	२१३
१६– सेवक या दास	२१४

विषय	पृष्ठ
नाम महिमा	२१७
सुमिरन	२६६
गुरु भक्ति	२७४
सन्त महिमा	२७७
सत्संग	२८३
कुसंग	२८५
गुरु वशिष्ठ जी का राम के प्रति	२८७
प्रेम	२९८
परोपकार	३००
अनुभव ज्ञान	३२९
वैराग्य	३३०
खेचरीमुद्रा	३३९
अनहद नाद	३४३
नाड़ी भेद	३४६
अष्टांगयोग	३४८
यम	३४९
नियम	,,
आसन	,,
प्राणायाम	३५०
प्रत्याहार	३५२
धारणा	,,
ध्यान	,,
समाधी	३६२
आत्मनिवेदन भक्ति	३६५
ईश्वर दर्शन	३७३
आवश्यक सूचनाएँ	३८४

श्री सद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः

परमसंत सद्गुरुदेव श्री 'हंस' जी महाराज का दिव्य जीवन परिचय

प्रभु का यह संसार ही सचित्र जीवन चरित्र है जो देखने समझने और विचारने योग्य है। यह संसार ही धर्मक्षेत्र है जहाँ धर्म का बीज बोने के लिये असंख्यों प्राणी प्रतिदिन आते जाते रहते हैं। जो जैसा बीज बोता है उसे वैसा फल मिलता ही है, साथ में वह स्वयं भी वैसा ही बन जाता है। पाठ करने योग्य यह संसार ही धर्म-ग्रंथ है जिसे विचार पूर्वक पढ़ने से सभी जानने योग्य बातें जानी जाती हैं। इच्छानुसार कर्म करने के लिए यह संसार ही कुरुक्षेत्र है जिसमें मानव नाना प्रकार के कर्म करके नाना योनियों को प्राप्त होता है। इस संसार में सारे चित्रमय जगत का बीज, केवल एक मनुष्य योनि ही ऐसा वृक्ष है जो सब फलों का दाता एवं भोक्ता है। यह जैसी कामना करता है वैसा ही बन जाता है।

इस विचित्र-सचित्र संसार का माली भी बड़ा विचित्र है। उत्पत्ति और स्थिति के कारण उसने अनेकों माली प्रकट किये परन्तु वह भी एक से एक विचित्र; विचार रूपी दृष्टि से देखो तो जिस भी पौधे को देखो वो माली ही माली दिखाई देता है, बाकी कुछ नहीं। ऐसे अद्भूत विचित्र माली के जीवन का चरित्र यदि वर्णन किया जाये तो कैसे, जबकि यह सारा ब्रह्माण्ड जगत ही उसका चरित्र है।

समयानुसार सभी भगवद्भक्तों ने अपने जीवन काल के चैतन्य, महा-प्रभु के जीवन का वर्णन किया परन्तु उस पूर्ण पर-

ब्रह्म परमेश्वर का (जो सब ईश्वरों का ईश्वर है, जन्म देने वाले ब्रह्मा को भी जो जन्म देता है, पालन करने वाले विष्णु का भी जो पालन करता है और संहार करने वाले शिव का भी जो सहारा और ज्ञान दाता है) जो शिव के हृदयरूपी मानसरोवर में विराजमान हंस है उसका वर्णन कैसे हो सकता है? जिसके लिए गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं कि:—

अगुण, अखण्ड अनन्त अनादी ।
जेहि चिंतहिं परमारथ वादी ।।
नेति नेति जेहि वेद निरूपा ।
चिदानन्द निरुपाधि अनूपा ।।१।।

नित्य अनादि रूप भगवान शंकर जो सद्गुरु रूप से सदा रहने वाले सदाशिव कहलाते हैं, दूसरे निमित्त रूप भगवान विष्णु तीसरे स्वायम्भू मनु ब्रह्मा जिनसे यह सारी सृष्टि उत्पन्न होती है। ये तीनों तीन गुणों में वर्त्तते हैं। इन तीनों को उत्पन्न करके ज्ञान देने वाले परम-गुरु, परम-प्रभु-परमेश्वर जो तीनों गुणों से परे और अखण्ड हैं जिनका अन्त ब्रह्मा, विष्णु और महादेव जी भी नहीं पा सके, वह अनन्त हैं, अनादि हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव भी उनके अंश है और सभी परमार्थ-वादी जिसका ध्यान करते हैं। नेति नेति कह कर वेद जिसका निरुपण करते हैं। जो उपमा रहित सब उपाधियों से न्यारा सत् चिदानन्द स्वरूप है ।।१।।

उर अभिलाष निरंतर होई ।
देखिय नयन परम प्रभु सोई ।।
शम्भु विरंचि विष्णु भगवाना ।
उपजहिं जासु अँश ते नाना ।।२।।

स्वायंभू मनु ब्रह्मा ने अपनी बनाई हुई सृष्टि का अन्त देख उसकी रक्षा के लिए भगवान की आराधना की। हृदय में सदा यही इच्छा रहती थी कि मैं परम प्रभू परमेश्वर के दर्शन अपने इन प्राकृत नेत्रों से करूँ। जिसके अंश से शिव, ब्रह्मा, विष्णु भगवान उत्पन्न होते हैं ॥२॥

ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई।
भक्त हेतु लीला तनु गहई॥
सुनु सेवक सुरतरु सुर धेनु।
विधि हरि हर वंदित पद रेनू ॥३॥

ऐसे प्रभु सेवक के वश में रहते हैं और भक्तों के हित के लिए पंचभौतिक शरीर धारण करते हैं। सेवक की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने के लिए कल्पवृक्ष और पालन करने के लिए कामधेनु के समान भगवान सुनिये! ब्रह्मा और शिव आपके चरणों की रज की वन्दना करते हैं ॥३॥

सेवत सुलभ सकल सुखदायक।
प्रनत पाल सचराचर नायक॥
जौं अनाथ हित हम पर नेहू।
तौ प्रसन्न होई यह वर देहू ॥४॥

सेवा करने से आप सहज में ही प्राप्त होते हैं और सब प्रकार के सुख देते हैं, आप शरणागत की रक्षा करने वाले चर, अचर सारे विश्व के स्वामी हैं। यदि आपका मेरे पर नेह है तो हे अनाथों का हित करने वाले! प्रसन्न होकर ये वर दो ॥४॥

जो स्वरूप बस शिव मन माहीं ।
जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ॥
जो भुसुण्डि मन मानस हंसा ।
अगुन सगुन जेहि निगम प्रशंसा ॥५॥

जो स्वरूप शिवजी के मन में रहता है जिसके लिए ऋषि मुनि लोग बड़े प्रयत्न करते हैं, जो शिवजी और भुसुण्डि जी के मन मन्दिर के मानसरोवर में रहने वाला हंस-स्वरूप है जिस सगुन और अगुन रूप की वेद प्रशंसा करते हैं ॥५॥

देखहिं हम सो रूप भरि लोचन ।
कृपा करहु प्रणतारति मोचन ॥
भक्त वत्सल प्रभु कृपा निधाना ।
विश्व वास प्रगटे भगवाना ॥६॥

उसी हंस रूप से प्रगट होकर दर्शन दीजिए । हम उस रूप को इन नेत्रों से देखना चाहते हैं । हे कृपा निधान कृपा कीजिये । तब भक्तों पर कृपा करने वाले और विश्व में जिसका वास है वह परमेश्वर **भगवान 'हंस'** प्रकट हुये ॥६॥

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम ।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत्काम ॥१॥

उनके नीले कमल के समान मुख, नील मणि के समान चमकते ललाट और नीले बादल के समान सुन्दर बदन की शोभा को देखकर सैकड़ों-करोड़ों कामदेव लजाते हैं ॥१॥

सरद मयंक बदन छवि सीवा ।
चारु कपोल चिबुक दर ग्रीवा ॥

"विश्व वास प्रगटे भगवाना"

अधर अरुन रद सुन्दर नासा ।
विधु कर निकर बिनिंदक हासा ॥१॥

शरद ऋतु की पूर्णिमा के समान जिनका मस्तक शोभायमान था। गाल और ठोड़ी अति ही सुन्दर लाल ओठ तथा सुन्दर नासिका थी। मुस्कराहट तो चन्द्रमा की किरणों को भी लजाने वाली थी ॥१॥

नव अंबुज अंबक छवि नीकी ।
चितवनि ललित भांवति जी की ॥
भृकुटि मनोज चाप छवि हारी ।
तिलक ललाट पटल दुतिकारी ॥२॥

नेत्रों की शोभा नये कमल के समान और भौहें मानो कामदेव के धनुष की शोभा को हरती थीं, मस्तक में बिजली के प्रकाश के समान तिलक की शोभा तो अद्भुत ही निराली थी। उनकी चितवन भक्तों के हृदय को आनन्द मगन करने वाली तथा जीवों के भावों को विदीर्ण करने वाली थी ॥२॥

कुण्डल मकर मुकुट सिर भ्राजा ।
कुटिल केस जनु मधुप समाजा ॥
उर श्री वत्स रुचिर बन माला ।
फटिक हार भूषण मनिजाला ॥३॥

कानों में मकराकृत कुण्डल शोभायमान थे और शीश पर मणिमय मुकुट विराजमान था। बड़े घुंघराले बाल मानों भौरों के समूह थे। हृदय श्रीवत्स, सुन्दर बनमाला हीरों के हार और रत्न जड़ित गहने शोभायमान थे ॥३॥

केहरी कंधर चारु जनेऊ ।
बाहु बिभूषन सुन्दर तेऊ ॥
करि कर सरिस सुभग भुजदंडा ।
कटि निषंग कर सर को दंडा ॥४॥

सिंह के समान ऊँचे कंधे जिसमें सुन्दर जनेऊ शोभायमान था। हाथी की सूंड के समान सुन्दर भुजदंड सुन्दर आभूषणों से शोभायमान थे । पेट में त्रिवली पड़ी थी । नाभि ऐसी सुन्दर थी मानों यमुना की भँवर की शोभा उसने छीन ली हो ॥४॥

तड़ित बिनिन्दक पीत पट उदर रेख बर तीनि ।
नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवर छबि छीनि ॥२॥

जिनका पीला दुपट्टा बिजली की कान्ति को लज्जित करता है त्रिवलीयुक्त मन को हरने वाली नाभि ऐसी गम्भीर है जो यमुना के भँवर की शोभा भी छीन लेती है। जिनके हृदयाकाश में तीनों रेखा सुन्दर विराजमान हैं ॥२॥

पद राजीव बरनि नहिं जाहीं ।
मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं ॥
वाम भाग सोभति अनुकूला ।
आदि शक्ति छवि निधि जग मूला ॥१॥

जिन चरणों में मुनियों के मन भौंरों के समान रहते हैं, उनकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती । जिनके बाईं ओर संसार की मूल, शोभा की खान, आदि शक्ति भवानी शोभायमान थी ॥१॥

जासु अंश उपजहिं गुण खानी ।
अगनित उमा रमा ब्रह्मानी ॥

छवि समुद्र हरि रूप विलोकी ।
इक टक रहे नयन पट रोकी ॥२॥

जिसके अंस से अगनित गुणों की खान उमा, रमा (लक्ष्मी) ब्रह्माणि उत्पन्न होती हैं।

"यद्यपि मनु महाराज ने शिव, ब्रह्मा, विष्णु भगवान के उत्पन्न करने वाले केवल परम प्रभु के दर्शन मांगे थे। परन्तु बिना आदिशक्ति के इन सबका न तो उत्पन्न ही होना था और न इनके बिना नष्ट होती हुई सृष्टि को ही किसी ने बचाना था। इसी लिए हरि सद्गुरुदेव परमेश्वर ने अपनी आदिशक्ति भवानी के साथ दर्शन दिये।"

जगत माता के साथ जगत पिता का दिव्य दर्शन पाकर मनु और सतरुपा एक टक होकर देखते रहे। उनके प्रेम को देख कर दयानिधान दीनबन्धु भगवान बोले कि:—

अंशन सहित देह धरी ताता ।
करिहऊं चरित भक्त सुख दाता ॥
आदि शक्ति जेहि जग उपजाया ।
सोउ अवतरहि मोरि यह माया ॥३॥

मैं तेरी इच्छा पूरी करने के लिये तथा तेरी बनाइ हुई सृष्टि की रक्षा करने के लिये अपने अंशो सहित देह धारण करूंगा और भक्तों को सुख देने वाले चरित्र करूंगा जिनको सुनकर भाग्यवान मनुष्य अहंकार ममता–मोह त्याग कर संसार सागर को तर जाएंगे। आदि शक्ति जिसने जगत उपजाया है वह मेरी मूल प्रकृति भी अवतार लेगी। मैं तेरी सारी इच्छा पूर्ण करूंगा। तू सत्य जान मेरी यह सत्य प्रतिज्ञा है तूं शोक न कर मैं अवश्य ही प्रगट होकर रक्षा करूंगा ॥३॥

"रामायण में चारों युगों और–चारों युगों के मुख्य अवतारों का वर्णन आया है। सतयुग में सतयुग और देवताओं की रक्षा करने भगवान विष्णु का अवतार हुआ। हार कर जगत माता की उपासना की तब अशुरों का संहार हुआ परन्तु फिर भी सतयुग की एक टांग टूट ही गई त्रेतायुग आया।' त्रेता युग में ऋषि मुनि तथा भक्तों की रक्षा करने एवं त्रेतायुग की मर्यादा रखने के लिये भगवान राम का अवतार हुआ परन्तु निशाचरों के बध होने पर भी–सतयुग का दूसरा चरण भी गायब हो ही गया जिससे द्वापर आगया। द्वापर में भगवान श्री कृष्णावतार हुआ, अधर्म का नाश भी किया अधर्मियों का संहार करने के लिये ज्ञान भक्ति प्रेम धर्म नीति का उपदेश भी दिया परन्तु फिर भी धर्म तीन टांग से लंगड़ाता हुआ दिखाइ दिया, कलियुग आया। कलियुग के दुराचारी भेष धारियों ने नाना भांति के भेष बनाकर नाना भांति के मतभेद फैलाकर चौथी टांग भी लंगड़ी करदी। अब तो केवल एक प्रभू के सच्चे नाम का ही सहारा रह गया वह भी नाना मतों ने भरमा दिया।"

ऐसे महान घोर कलियुग में जबकि दशों दिशाओं में आतंक के बादल छा गये। सभी मुलकों के राष्ट्रपतियों ने संसार को भस्म करने का साधन बना लिया तब परम प्रभु ने दया करके स्वयंभू मनु ब्रह्मा को दिये बचनों के अनुसार प्रगट हो कर के श्री सतपाल–सतदेव–सतनारायन भगवान विष्णु, भोले भण्डारी सदा शिव महिपाल, चक्रवर्ती राजा धर्मराज धर्मपाल जिनके राज्य में इस सृष्टि का एक नया ही

रुप होगा तथा अपना ही स्वरूप प्रेमियों का पालन करने हेतु प्रेमपाल–प्रेमसरुप सदगुरु रुप को अपने अंश से प्रगट करके भक्तों का उद्धार तथा दुष्टों का सुधार किया । क्रोड़ों जीवों को अपने पवित्र नाम का साक्षातकार कराया । इस ही महान कार्य के लिये अर्थात् कलियुग का नाश कर सतयुग लाने के लिये–सतपाल, महिपाल, धर्मपाल, प्रेमपाल ये चारों विभूतियाँ प्रगट कीं । पांचवी आदि शक्ति सब की माता जगद्जन्नी अपनी प्रजा पर दया करने वाली राजा महाराजाओं की ईश्वर–सर्वेस्वरी माता अपने महान कार्य में आज सकुशल संलग्नहैं ।

भगवान और भक्तों की जय सच्चिदानंद ।

: ज्ञान यज्ञ :

द्रव्य यज्ञास्तपो यज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयःसंशित व्रताः ।। (गी० ४-२८)

सद्गुरु की सेवा में, सत्सग प्रचार में अथवा परमात्मा के जानने वा दूसरों के जनाने में, धन को लगाना "द्रव्य यज्ञ" है दूसरा "तपो यज्ञा" सत्संग प्रचार के लिए शारीरिक परिश्रम (सेवा करना) ही तप यज्ञ है तीसरा परमात्म के सच्चे नाम व परम प्रकाश-रूप में मन को जोड़ना ही "योग यज्ञ" है । चौथा ज्ञान प्राप्ति के हेतु वा दूसरों को ज्ञान कराने के हेतु सत्सग सुनना व सुनाना स्वाध्याय यज्ञ है । पाँचवां सेवा, सत्सग भजन अभ्याम करके भगवान को पहचानना ही ज्ञान-यज्ञ है; इसीलिए ज्ञान-यज्ञ को महायज्ञ कहा है । जहाँ श्रीसद्गुरु-देव विराजमान हैं वहाँ ये पाँचों महायज्ञ पूर्ण हैं ।

चर्पट पंजरिका (चपेटों का पिंजरा)

काशी से एक बार भगवान शंकराचार्य जी गंगास्नान करने जा रहे थे। उन्होंने मार्ग में एक बूढ़े ब्राह्मण को 'डुकृञ्करणे' धातु को रटते देखा। उसकी ऐसी कुचेष्टा को देखकर भगवान को बड़ी दया आई। उन्होंने विचार करके देखा कि यह कब व्याकरण पढ़ेगा, कब वेदों को पढ़कर उनके अनुसार गुरु की शरण जाकर सच्चे ज्ञान को प्राप्त करेगा। यह तो मरने के निकट ही पहुँचा हुआ है। इसे तो अब भगवान का भजन ही करना चाहिए। तब भगवान शंकराचार्य जी ने उसे सुनाया कि: —

भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढ़ मते।
प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहिं नहिं रक्षति डुकृञ्करणे॥ भज०

हे ब्राह्मण! आप मरने के निकट पहुँचे हुए हो, अब जो 'डुकृञ्करणे' धातु को रट रहे हो, यह तुम्हारी रक्षा नहीं करेगी। अरे मूढ़ मते! अब तो तुम्हें भी गोविन्द का भजन ही करना चाहिए॥१॥

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिर बसंतौ पुनरायतः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुंचत्याशावायुः॥ भज०

दिन होता है, फिर रात आ जाती है। सांझ होती है और सोने के बाद सवेरा हो जाता है। शिशिर और बसन्त ऋतुएँ आती जाती रहती हैं। काल रूपी खिलाड़ी जीवों के शरीर रूपी गोटों से खेल रहा है। इसी प्रकार आयु तो बीत जाती है मगर तुम्हें अब भी आशा रूपी पवन छोड़ता ही नहीं। अरे मन्द बुद्धि! गोविन्द का भजन करने में ही भलाई है॥ २॥

बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणी रक्तः ।
वृद्धस्तावच्चिंता मग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥ भज०

बाल अवस्था तो खेल-कूद में गुजरती है। जवानी में नवयौवना स्त्रियों में आसक्त रहता है। बुढ़ापे में अनेक प्रकार के रोग तथा चिन्ताएँ सताती हैं। सभी की ऐसी गति होती है। मगर कोई भी परमात्मा की तरफ लगन नहीं लगाता। अरे पागल ! गोबिन्द का स्मरण करने में ही कल्याण है ॥३॥

अंङ्ग गलितं पलितं मुण्डं दशन विहीनं जातं तुण्डम् ।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशा पिण्डम् ॥ भज०

शरीर का एक-एक अंग गल गया, अर्थात् मुँह और नाक से बदबू आने लगी। कानों ने सुनना छोड़ दिया। नैनों से नीर बहने लगा, दांतों के गिरने पर मुँह पोपला हो गया, सिर के बाल सफेद हो गए, कमर झुक गई और लाठी के सहारे चलने लगा पर ऐसा निर्लज्ज है कि आशा का पिंड नहीं छोड़ता। अरे मूर्ख ! अब भी गोविन्द का भजन कर ॥४॥

यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निज परिवारो रक्तः ।
पश्चाद्धावति जर्जरदेहे वार्ता पृच्छति कोऽपि न गेहे ॥ भज०

जब तक मनुष्य धन कमाकर लाने में समर्थ रहता है, तब तक वह परिवार में आसक्त रहता है। उसका धर्म-कर्म और ईश्वर सब कुछ परिवार की सेवा करना होता है। परन्तु जब शरीर कमजोर हो जाता है, धन कमाने की शक्ति नहीं रहती तो परिवार का कोई भी आदमी उसकी बात नहीं पूछता। इसलिए संसार को असार समझ कर गोविन्द का भजन ही करना चाहिए ॥५॥

पुनरपि जन्मं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्।
इह संसारे खलु दुस्तारे कृपापारे पाहि मुरारे ॥ भज०

यदि तू परमात्मा का भजन नहीं करेगा तो बार-बार जन्म होगा, बार-बार मरण होगा, बार-बार माता की जठराग्नि में जलना होगा। इन सारे कष्टों से छूटने के लिए प्रभु से प्रार्थना कर और हर समय गोविन्द का भजन कर। ६॥

पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः।
पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं तदपि न मुंचत्याशामर्षम् ॥ भज०

दिन के बाद रात और रात के बाद दिन, दिनों के बाद हफ्ते, महीने बीतते हैं। महीने-महीने करके छः ऋतुएँ और ऋतुओं के बीतते बर्ष गुजर जाते हैं। मगर आशा कभी नहीं मरती, नित नए साज लेकर जीवों को नचा रही है। आशा तो तभी मरेगी, जबकि परमात्मा का भजन करेगा ॥७॥

वयसि गते कः काम विकारः शुष्के नीरे कः का सारः।
नष्टे द्रव्ये कः परिवारो ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः ॥ भज०

जैसे आयु के बीतने पर काम का विकार नहीं रहता, जल के सूख जाने पर उसे कोई भी सरोवर नहीं कहता, धन के नष्ट होने पर परिवार के लोग अपने नहीं होते वैसे ही तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्मबोध होने पर संसार का यह स्वरूप नहीं रहता; पर यह बात तभी होगी, जबकि गोविन्द का भजन करेगा ॥८॥

नारीस्तनभरनाभिनिवेशं मिथ्या माया मोहावेशम्।
एतन्मांसवसादि विकारं मनसिविचारय बारंबारम् ॥ भज०

नारि स्तनों का भार और जघा की रचना को देखकर मिथ्या मोह में मत फँस। जो स्तन रूपी पहाड़ों में भटक

जाता है फिर उसे निकलने का मार्ग नहीं सूझता । यह केवल मांस और चर्बी का ही विकार है, इस प्रकार बारम्बार विचार करके गोविन्द का भजन कर ॥६॥

का तव कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः ।
कस्य त्वं वा कुत आयातस्तत्वचिन्तय तदिदं भ्रातः ॥ भज०

विचार करके देख तो सही, तेरी कौन स्त्री है, कौन तेरा पुत्र है, इस विचित्र संसार में तू किसका है और तू कहाँ से आया है ? हे भाई ! इन सभी बातों के तत्त्व पर विचार करके गोविन्द का भजन कर ॥१०॥

कस्तवं कोऽहं कुत आयातः का मे जननी का मे तातः ।
इति परिभावय सर्वमसारं विश्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ॥ भज०

तू कौन है, यहाँ संसार में कहाँ से आया है ? कौन तेरी माता है, कौन तेरा पिता है? इन सभी बातों पर अच्छी तरह सोच विचार करके देख, तथा संसार को स्वप्न के समान समझ कर इसकी आशा का त्याग करके गोविन्द का भजन कर॥११॥

सुखतः क्रियते रामाभोगः पश्चाद्धन्तशरीरे रोगः ।
यद्यपि लोके मरणं शरणं तदपि न मुंचति पापाचरण् ॥ भज०

झूठा सुख मानकर नारी संग किया, इसके पश्चात् शरीर को रोगों ने घेर लिया यद्यपि सभी लोगों को काल की शरण में जाते हुए देख रहा है, फिर भी पाप कर्मों को नहीं छोड़ता । मगर पापों में चैन कहाँ ? गोविन्द का भजन करने से ही पापों से छुटकारा होगा ॥१२॥

यावच्जीवोनिवसति देहे कुशलं तावत्पृच्छतिगेहे ।
गतवति वायौ देहापाये भार्याविभ्यति तस्मिन्काये ।। भज०

जब तक शरीर में प्राण हैं, तभी तक घर के प्यारे इसकी कुशलता पूछते हैं । मगर प्राणों के निकलते ही यह शरीर किसी मतलब का नहीं रहता, सबको भार स्वरूप हो जाता है । इस लिये देह से प्यार करने वालों से किसी प्रकार की आशा न करके और शरीर को क्षणभंगुर जानकर गोविन्द का भजन करना चाहिए ।।१३।।

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू रात्रौ चिबुक समर्पितजानुः ।
करतल भिक्षा तरुतल वासस्तदपि न मुंचत्याशपाशः ।। भज०

यदि कोई संसार को दुःख रूप जान कर त्याग दे और ऐसी तपस्या करे कि आगे पंच धुनि जला ले और पीठ की ओर से सूर्य का ताप सहन करे अथवा सर्दी की रातें घुटनों के बीच में ठोड़ी देकर बिताने लगे, करपात्री बन कर हाथों से भिक्षा लेकर खाने लगे, वृक्षों के नीचे रहने लगे, तो भी आशा रूपी फाँसी नहीं छूट सकती । आशा का बन्धन तो गोविन्द का भजन करने से ही छूट सकता है ।।१४।।

अग्नि अगाड़ी, धूप पिछाड़ी, रात करे घुटनों बिच दाढ़ी ।
कर धरि खाता, तरु तर बसता, तो भी आशा पास न तजता ।।

रथ्या चर्पट विरचित कंथः पुण्यापुण्य विवर्जित पन्थः ।
नत्वं नाह नायं लोकस्तदपि किमर्थ क्रियते शोकः ।। भज०

मार्ग में पड़े हुए चिथड़ों को गुदड़ा बनाकर ओढ़ने लगे, पाप-पुण्य के मार्ग को ही छोड़ दे । मिल गया तो खा ले नहीं

तो भूखा रह कर ही समय बिताने लगे। मैं, तू और लोक की किसी बात का शोक भी न करे। तब भी भला गोविन्द का भजन करने से ही होगा ॥१५॥

सुर तटनी तरु मूल निवास: शय्या भूतल मजिनं वास: ।
सर्व परिग्रह भोग त्याग: कस्य सुखं न करोति विराग: ॥ भज०

गंगा किनारे के वृक्ष की मूल अर्थात् कोटर में निवास करने लगे, अथवा भूमि ही बिस्तर, मृग चर्म ही वस्त्र, परिवार और सब भोगों का त्याग करके ऐसा वैरागी भी हो जाय तो भी गोविन्द के भजन के बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥१६॥

जटिलो मुण्डी लुंचित केश: काषायांबर बहुकृत वेश: ।
पश्यन्नपि न च पश्यति मूढ़ उदर निमित्तं बहुकृत वेश: ॥ भज०

सिर पर जटा जूट रख ले या जैनी महात्माओं की तरह बालों को नुचवाने लगे, अथवा सिर को मुडवाने लगे, भगवा-वस्त्र रंग कर अनेक भेष बनाने लगे; परन्तु ये सभी भेष पेट भरने के लिए ही हैं। ऐसा करने वाले सभी लोग यह जानते हैं कि इन बाह्य वेशों से आत्मिक शान्ति नहीं मिलती। किन्तु मूढ़ देखते हुए भी नहीं देखते और दुनियाँ की देखा देखी ऐसे ही आडम्बर करते हैं। कल्याण तो गोविन्द का भजन करने से ही होगा ॥१७॥

गेयं गीता नाम सहस्रं ध्येयं श्रीपति रूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसंगे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥ भज०

गीता पढ़ी, विष्णु-सहस्र नाम का पाठ किया मगर इन पर विचार करके सत्य को जानने की कभी इच्छा नहीं की;

केवल पाठ करने में ही कल्याण समझता रहा। न कभी माया-पति भगवान के स्वरूप को जान कर ध्यान ही किया और न कभी श्री हरि का यश गाया। न कभी सत्पुरुषों का संग किया और न दीन-दुखियों को धन देकर उनका दुःख ही दूर किया। अरे मूढ़ ! अब भी गोविन्द का भजन कर।।१८।।

भगवद्गीता किंचित धीता गंगा जललव कणिका पीता ।
सुकृदपि यस्य मुरारि समर्चा तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम् ।। भज०

यदि तू गीता को पढ़कर उस पर थोड़ी भी विवेक बुद्धि से काम लेता, सत्संग रूपी गंगा के थोड़े कणों को भी पान करता। भाव यह कि सन्तों की संगत में जाकर अपनी आत्मा को पहचान लेता। मुरारी भगवान की ही पूजा करता तो यम को क्या ताकत थी, जो चर्चा भी कर लेता ? अभागे ! अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। अब भी श्री गोविन्द का भजन कर।।१९।।

कुरुते गंगा सागर गमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम् ।
ज्ञान विहीनः सर्वमनेन मुक्तिर्नभवति जन्मशतेन ।। भज०

चाहे गंगा सागर आदि तीर्थों में गमन करो, अनेक व्रतों का परिपालन करो अथवा अनेक प्रकार के दान करते रहो, मगर आत्म-ज्ञान के बिना यह सभी बातें बेकार हैं। न तो इन बातों से मोक्ष ही मिलेगी और न जन्म-मरण से छुटकारा ही मिलेगा। क्योंकि सबका सार तो गोविन्द का भजन ही है। इसलिए गोवन्दि (प्रभु) का भजन करके चपेटों के पिंजरे से छूटने का प्रयत्न करना चाहिए।।२०।।

हमारे जीवन का क्या उद्देश्य है ?

हम सभी इस संसार में अपना अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं और कुछ न कुछ कार्य भी कर रहे हैं। मनुष्य मात्र किसी न किसी कार्य में लगा हुआ है, परन्तु यदि देखा जाय कि उसका यह कार्य कहाँ तक ठीक है तो प्रायः यही ज्ञात होगा कि मुख्यतः यह ठीक नहीं प्रत्येक मनुष्य अपने कर्त्तव्य-पथ से कुछ न कुछ विमुख सा है तो क्या सभी मनुष्य अपने कर्त्तव्य को भूले हुए हैं ? उत्तर में कहना पड़ता है, हाँ ! अधिकांश भूले हुए हैं। प्रश्न है कि हम जीते किसलिए हैं ? हमारे जीवन का उद्देश्य क्या है ? इस संसार में हमारा मुख्य कर्त्तव्य क्या होना चाहिए ? संसार का सभी कार्य प्रायः देश काल के अनुसार हुआ करता है। अतएव हमारे जीवन का कोई ऐसा उद्देश्य कदापि नहीं हो सकता, जिसकी पूर्ति के लिए यह संसार योग्य न हो। जिस तरह अपनी जीवन यात्रा में मछली का कोई कार्य ऐसा नहीं हो सकता, जिसका सम्बन्ध जल से न हो, अथवा जो जल में पूरा न हो सके, क्योंकि जल के बिना मछली का जीवन नहीं हो सकता, इसी तरह जब हम इस संसार में रहते हैं तब निश्चय ही हमारे जीवन का उद्देश्य ऐसा ही हो सकता, जिसकी पूर्ति इस संसार में ही हो सके। दूसरी बात यह है कि मनुष्य सृष्टि लाखों वर्षों से है और करोड़ों वर्षों तक चली जायगी। अतएव हमारा उद्देश्य अवश्यमेव कोई ऐसा होना चाहिये जिसका पालन हम हर समय कर सकें। ऐसा कार्य हमारे जीवन का उद्देश्य कदापि नहीं हो सकता, जिसमें समय का हेरफेर और राज्य सम्बन्धी उलट पुलट बाधक हो जाएँ और उसकी पूर्ति न होने दें।

अतएव अब देखना है कि इन सारीबातों को ध्यान में रखते हुए हमारे जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य क्या हो सकता है ? यहाँ पर कहा जा सकता है कि "दुनियाँ का प्रधान उद्देश्य केवल दुनियाँदारी हो सकता है । धन कमाना, मान तथा ऐश्वर्य प्राप्त करना अथवा नाना प्रकार की उपाधियों से विभूषित होना, ऐसे ही कार्य तो इस संसार में हमारे जीवनोद्देश्य हो सकते हैं और हम जन समुदाय को भी दिन रात ऐसा ही कहते अथवा करते देखते हैं। इस संसार में इसके अतिरिक्त हो ही क्या सकता है ? " परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय और विचार किया जाय, तो मालूम हो जायेगा कि वास्तव में ऐसा नही है । ऐसा सोचना बड़ी भूल है। इस संसार में केवल दुनियांदारी के कामों से ही जीवन लक्ष्य को पूर्ण समझ लेना कदापि उचित नहीं ।

किसी कार्य को करने के लिये केवल वही स्थान उचित स्थान कहा जा सकता है जहाँ वह कार्य सरलता, सुगमता और उत्तमता अथवा थोड़ी बहुत कठनाईयों के झेलने से पूरा किया जा सके । जहाँ नाना प्रकार की दुर्गम कठिनाईयों तथा नाना प्रकार के विघ्नों से कभी छुटकारा पाने की सम्भावना ही न हो, वह स्थान उस कार्य के लिए उचित स्थान नहीं कहा जा सकता । ठीक यही बात इस संसार में धन, मान इत्यादि के विषय में घटित होती है । धन, मान, उपाधि तथा ऐश्वय के सम्बन्ध में हम, अनुलंघनीय कठिनाईयों, मानसिक क्लेशों और अनेक प्रकार की अन्य चिन्ताओं तथा बाधाओं से कभी छुटकारा नहीं पा सकते । प्रथम तो इन को प्राप्त करने में ही अनेक दुस्सह कष्ट उठाने पड़ते हैं । तिस पर भी इनको सुरक्षित रखने में

विशेष चिन्ता, आर्थिक हानि, स्वास्थ्य-हानि, मानसिक क्लेश और कभी-कभी शरीर का अन्त तक करना पड़ता है। ये बातें हमारे जीवन का उद्देश्य नहीं हो सकती । उनका तो स्मरण करते ही हृदय काँपने लगता है। ये बातें किसी से छिपी नही हैं। हमारे प्रायः सभी धनाढ्य और उपाधिधारी सज्जन इससे परिचित हैं। उदाहरणार्थ प्रथम धन-प्राप्ति को ही लीजिये—धन एक ऐसी वस्तु है जिसका कमाना और संग्रह करना मनुष्य-मात्र प्रायः अपना कर्त्तव्य समझता है। पर देखिये ! इस धन के लिये मनुष्य को कितनी कठिनाइयाँ, कितने क्लेश क्या शारीरिक, क्या मानसिक और क्या क्या आत्मिक क्लेश उठाने पड़ते हैं ? फिर इन सारी विपत्तियों और कष्टों को सहन करने पर भी कितने मनुष्य ऐसे हैं जो अपनी इच्छानुसार कमाने में पूर्णतया सफल हुए हैं ? हम तो यही कहेंगे कि बहुत ही कम। अनेक कष्टों से प्राप्त किये धन को मनुष्य चिरकाल तक अपने पास रख भी तो नहीं सकता। मरने के बाद सब मिट्टी ! जीते जी के कारण अनेक संकट ! जो आज राजा है, वही कल रङ्क हो सकता है, आज असंख्य रुपयों से घर भरा हुआ है, कल उसी घर के आदमी दर-दर भीख मांग रहे हैं। अतएव केवल धन-प्राप्ति ही इस संसार में हमारे जीवन का मुख्य उद्देश्य कदापि नहीं। ठीक यही दशा मान तथा ऐश्वर्य की है उन को प्राप्त करने में भी अनेकानेक मानसिक क्लेष, शारीरिक कष्ट, आत्मिक पतन, आर्थिक तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी हानियां उठानी पड़ती है। किसी तरह सफलता भी हुई, तो उनको सुरक्षित रखने में जीवन्न पर्यन्त चिन्तित

रहना पड़ता है। उनके नाश की चिन्ता लगी ही रहती है। इसके अतिरिक्त समय के हेर-फेर से अथवा देश विप्लव, राजा की अदला-बदली आदि के कारण जो हृदय-विदारक परिवर्तन हुआ करते हैं, वह सर्वथा अकथनीय हैं। इन सब बातों पर विचार करने से तो यही कहना पड़ता है कि इस संसार में हमारे जीवन का उद्देश्य धन कमाना अथवा मान तथा ऐश्वर्य प्राप्त करना कदापि नहीं हो सकता।

अच्छा तो हमारे जीवन का उद्देश्य फिर क्या हो सकता है? हम जो कुछ करते हैं उसका भला अथवा बुरा प्रभाव हमारे जीवनोद्देश्य पर पड़ता है चाहे हमारा कार्य उद्देश्य के अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल। अब देखना है कि हमारा कौन सा कर्त्तव्य है जिस पर हमारे प्रत्येक कार्य का अवश्मेव थोड़ा या बहुत; अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य ही पड़ता है। यही कर्त्तव्य हमारे जीवन का उद्देश्य हो सकता है। विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि ऐसा कर्त्तव्य केवल आत्म-सम्बन्धी ही है। आप अपने किसी भी धन, मान तथा ऐश्वर्य सम्बन्धी कार्य में चाहे सफल हों, चाहे असफल, परन्तु उस कार्य के साधनों द्वारा आपकी आत्मा का थोड़ा बहुत उन्नत अथवा अवनत होना हमारे प्रत्येक कार्य से ही अवश्यम्भावी है तब यह स्पष्ट है कि केवल आत्मा को उदार तथा उन्नत बनाना ही हमारे जीवन का परम उद्देश्य हो सकता है। इस पर न तो समय-चक्र का ही हेर-फेर कोई विघ्न डाल सकता है और न कोई राजकीय उलटफेर ही इसके मार्ग में कोई रुकावट पैदा कर सकता है। आप संसार के कर्त्तव्यों पर दृष्टि डालिए तो

विशेषतः आप यही पावेंगे कि कोई कर्त्तव्य-कार्य हार्दिक वेदनाओं से पूर्ण है तो कोई मानसिक अशान्ति का अड्डा बन रहा है, कहीं आर्थिक और शारीरिक हानियाँ चरम-सीमा तक पहुँच चुकी हैं, तो कहीं आत्मा का पतन सबसे नीचे की सीढ़ी को प्राप्त हो चुका है। आत्मा को उदार तथा उन्नत बनाना ही एक ऐसा कर्त्तव्य है, जिसमें आप सच्चा सुख और पूर्ण शान्ति पावेंगे। यहाँ पर यह पूछा जा सकता है कि यदि आत्मा को उन्नत बनाना ही हमारा मुख्य कर्त्तव्य और जीवन का ध्येय है, और यह दुःखदायक नहीं किन्तु अपार आनन्द बढ़ाने वाला है तो क्यों बड़े-बड़े महात्माओं को भी अनेक महान कष्ट उठाने पड़े ? क्या सुकरात और ईसामसीह, महात्मा पुरुष न थे ? फिर क्या कारण है कि एक को विष का प्याला और दूसरे को सूली दी गई ? क्यों उनको ऐसे घोर कष्ट मिले ? क्यों लोग उनके इतने शत्रु हो गए कि उन्होंने उन के प्राण लेकर ही पीछा छोड़ा ? यदि कहा जाय कि लोगों ने उनके साथ घोर अन्याय किया तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यह एक प्राकृतिक नियम है कि जो किसी को पैर से दबायेगा और कुछ नहीं तो वह कम से कम नीचे से काटेगा अवश्य ही। इन महात्माओं की आत्मायें बहुत ही उन्नत थीं। अतएव उन्होंने अपने-अपने विचारानुसार अपने-अपने समय के लोगों के सर्वथा प्रतिकूल विचार प्रकट किए, उनको सर्वसाधारण में फैलाने के प्रयत्न किए। अथवा यह कहना चाहिए कि उन्होंने अपने समय के जनसमुदाय के हृदय-पटल पर कठोर आघात किए। इस कारण उन्होंने बदले में इनके प्राण ले लिए। यदि सूक्ष्म

रूप से विचार किया जाय तो मालूम होगा कि ऐसा वास्तव में ठीक नहीं। जब यह ठीक नहीं है तो क्यों एसे महानपुरुषों के साथ ऐसा व्यवहार किया गया? किस कारण उनको प्राणान्त तक कष्ट पहुँचाया गया? कारण केवल यही है कि हम उन महानपुरुषों के चरित्रों को प्रायः अपने संकुचित विचारों से जाँचते हैं। उनकी आत्मायें बहुत उन्नत थीं। ऐसे महात्माओं की आत्मा बहुधा उनके समय से भी बहुत आगे के समय के अनुकूल होती हैं। इसी से भविष्य में आने वाली जिन बातों का अनुभव वे रात-दिन किया करते हैं, उनकी हम कल्पना तक भी नहीं कर सकते। इसीलिए जिन कामों को हम सुख-दुःख के विषय समझा करते हैं, वे उनके लिए सुख-दुख के विषय हैं ही नहीं। उनका सुख और दुःख तो कुछ और ही बातों से सम्बन्ध रखता है। छोटा बच्चा अपने दुःख के अतिरिक्त अपनी माता, भगिनी आदि के दुःख का अनुभव नहीं कर सकता। कुछ बड़ा होने पर उसे उनके कष्टों का कुछ-कुछ अनुभव होने लगता है। पर जवान होने पर वह अपने आत्मीय जनों के ही दुःख-सुख का नहीं किन्तु सारे देश अथवा सारे संसार के कष्टों को अपना कष्ट समझता है और उनका अनुभव भी करता है। जैसे ही हमारी आत्मा धीरे-धीरे उन्नत होती है, वैसे ही हम दूसरों के कष्टों को दूर करने की सोचते हैं और अन्त में ऐसा समय भी आता है जब कहने लगते हैं:—

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

महान् पुरुषों की आत्मायें उन्नतावस्था की अन्तिम सीढ़ी तक पहुँच जाती हैं। सारे संसार को वे अपना कुटुम्ब समझते हैं। अपने दुःखों को वे कुछ समझते ही नहीं। वे तो अपने क्षणिक दुःख-सुख की परवाह न करके संसार के दुःख दूर करने में ऐसे लीन हो जाते हैं कि अपने प्राणों तक को सहर्ष न्योछावर कर देते हैं। ऐसा करने से वे उस परमात्मा को प्राप्त होते हैं जो हमारे क्षणिक सुख से लाखों गुणा बढ़ कर है और जिसका अनुमान भी हम जैसे संकुचित हृदय और छोटी बुद्धि के मनुष्य नहीं कर सकते। अस्तु, जिन बातों को हम दुःख और कष्ट समझते हैं और यह कहते हैं कि उन महात्माओं का जीवन दुःखमय बीता, वे उनके लिए कदापि दुःखदायक नहीं थे। उन्हें दुःखी समझना हमारी बड़ी भूल है। कष्ट और दुःख तो वे हमको प्रतीत होते हैं। वास्तव में वे उनके लिए कष्ट और दुःख नहीं हैं। हलाहल (विष) जो हमारे लिए प्राणनाशक और महा भयंकर है, कर्त्तव्य पालन के समय तत्त्वज्ञानियों के लिए वही अमृत है। जैसे उनकी सुख सामग्री कुछ और ही होती है वैसे ही उनके दुःखद विषय भी कुछ और ही हुआ करते हैं। हमारे सदृश संकुचित-हृदय मनुष्यों से नहीं। इतिहास में भी ऐसे महात्मा पुरुषों के चरित्र यही सिखाते हैं कि आत्मा को महान् और समुन्नत बनाना ही जीवन का परम पुनीत कर्म और सबसे ऊँचा उद्येश्य है।

सच्चा सुख तथा पूर्ण शान्ति प्राप्त करने का यही एक सर्वोत्तम मार्ग है।

राजा जनक को आत्म-ज्ञान

परम विवेकी राजा जनक ने जब यह स्वप्न देखा कि मैं राजा होकर भी रात भर क्षुधावश महा दुःखी रहा तो विचार करने लगा कि मेरा जागृत काल में राजा होना सत्य है या स्वप्नकाल में भिखारी होना सत्य है। राजा ने विचार किया ये दोनों ही मिथ्या है। अतः देखना है कि सत्य क्या है?

राजा जनक ने अपने समय के सभी विद्वानों. ऋषि-मुनियों, गुरुओं को पूछा कि सत्य क्या है, तो सभी मौन थे।

श्री अष्टावक्रजी जो आठों अंगों से टेढ़े थे, राजा जनक के दरबार में पहुँचे। सभा ने टेढ़े अंगों को देख कर हंस दिया। अज्ञानियों को हंसते देख अष्टावक्र ने कहा कि आज तो मैं चमारों की सभा में आ गया। यह बात सभी को बुरी लगी कि विद्वानों की सभा को चमारों की सभा कहा गया।

राजा ने अष्टावक्रजी से पूछा कि आपने यह अपशब्द कैसे कहे। अष्टावक्रजी बोले कि इनको चमड़े का ज्ञान है, यदि आत्मा का ज्ञान होता तो ये लोग न हंसते। तब राजा जनक ने अष्टावक्र को राज-सिंहासन पर बिठा कर पूछा कि महाराज वह आत्मा क्या है? कृपा कर मुझे उसका ज्ञान कराइये।

अष्टावक्र ने कहा कि राजन्! जिस ज्ञान को यह सब विद्वान सारी उम्र में न जान सके तो मैं तुझे ऐसे ही बता दूं? राजा ने कहा कि मेरा कुछ नहीं सिर्फ यह मन है जिसके द्वारा मैं सोचता हूँ यह मन आपके अर्पण है। राजा की बात पर प्रसन्न होकर अष्टाबक्रजी ने राजा का मन ध्यान में लगा दिया।

The Need of a 'Guru'

Every soul is destined to be perfect, and every being, in the end, will attain the state of perfection. Whatever we are now, is the result of our acts and thoughts in the past; and whatever we shall be in the future, will be the result of what we think and do now. But this the shaping of our own destinies, does not preclude our receiving help from outside; nay, in the vast majority of cases such help is absolutely necessary. When it comes, the higher powers and possibilities of the soul are quickened, spiritual life is awakened, growth is animated, and man becomes holy and perfect in the end.

This quickening impulse cannot be derived from books. The soul can only receive impluses from another soul, and from nothing else. We may study books all our lives, we may become very intellectual; but in the end, we find that we have not developed at all spiritually. It is not true that a high order of intellectual development always goes hand in hand with a proportionate development of the spiritual side in man. In studying books we are some time deluded into thinking that thereby we are being spiritually helped; but, if we analyse the effect of the study of books on ourselves, we shall find that, at the utmost, it is only our intellect that derives profit from such studies, and not our inner spirit. This inadequacy of books to quicken spiritual growth is the reason why, although almost everyone of us can speak most wonderfully on spiritual matters, when it comes to action and

the living of a truly spiritual life, we find ourselves so awfully deficient. To quicken the spirit, the impulse must come from another soul.

The person from whose soul such impulse comes is called the Guru-the teacher; and the person to whose soul, the impulse is conveyed is called the Sishya-the student. To convey such an impulse to any soul in the first place, the soul from which it proceeds must possess the power of transmitting it as it were, to another; and, in the second place, the soul to which it is transmitted must be fit to receive it. The seed must be a living seed, and thê field must be ready ploughed; and when both these conditions are fulfilled, a wonderful growth of genuine religion takes place. The true preacher of religion has to be of wonderful capabilities, and clever shall his hearer be "आश्चर्यो वक्ताकुशलोऽस्य लब्धा" and when both of these are really wonderful and extraordinary, then will be a splendid spiritual awakening result,and not otherwise. Such alone are the real teachers, and such alone are also the real students, the real aspirants. All others are only playing with spirituality. They have just a little curiosity awakened, just a little intellectual aspiration kindled in them, but are merely standing on the outward fringe of the horizon of religon. There is, no doubt, some value even in that, as it may, in course of time, result in the awakening of a real thirst for religion; and it is a mysterious law of nature that, as soon as the field is ready, the seed must and does come, as soon as the soul earnestly desires to have religion, the transmitter of the

religious force must and does appear to help that soul. When the power that attracts the light of religion in the receiving soul, is full and strong, the power which answers to that attraction and sends in light, does come as a matter of course.

There are, however, certain great dangers in the way. There is, for instance, the danger to the receiving soul of its mistaking momentary emotions for real religious yearning. We may study that in ourselves. Many a time in our lives somebody dies whom we loved; we receive a blow; we feel that the world is slipping between our fingers, that we want something surer and higher, and that we must become religious. In a few days that wave of feeling has passed away, and we are left stranded just where we were before. We are all of us often mistaking such impluses for real thirst after religion; but as long as these momentary emotions are thus mistaken, that continuous, real, craving of the soul for religion will not come, and we shall not find the true transmitter of spirituality into our nature. So, whenever we are tempted to complain of our search after the truth that we desire so much, proving vain, instead of so complaining, our first duty ought to be to look into our own souls, and find whether the craving in the heart is real. Then, in the vast majority of cases it would be discovered that we were not fit for receiving the truth, that there was no real thirst for spirituality.

There are still greater dangers in regard to the transmitter, the Guru. There are many who, though

immersed in ignorance, yet, in the pride of their hearts, fancy they know everything, and not only do not stop there, but offer to take others on their shoulders; and thus the blind leading the blind, both fall into the ditch. अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितंमन्यमानाः । जघन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः "Fools dwelling in darkness, wise in their own conceit, and puffed up with vain knowledge, go round and round staggering to and fro like blind men led by the blind. (Mund. Up., I. ii. 8.) The world is full of these. Everyone wants to be a teacher, every beggar wants to make a gifts of a million dollars; just as these beggars are ridiculous, so are these teachers.

QUALIFICATIONS OF THE ASPIRANT AND THE TEACHER

How are we to know a teacher then? The sun requires no torch to make him visible, we need not light a candle in order to see him. When the sun rises, we instinctively become aware of the fact, and when a teacher of men comes to help us, the soul will instinctively know that truth has already begun to shine upon it. Truth stands on its own evidence, it does not require any other testimony to prove it true, it is self-effulgent. It penetrates into the innermost corners of our nature, and in its presence the whole universe stands up and says, "This is truth". The teachers whose wisdom and truth shine like the light of the sun, are the very greatest the world has known, and they are worshipped as God by the major

portion of mankind. But we may get help from comparatively lesser ones also; only we ourselves do not possess intuition enough to judge properly of the man from whom we receive teaching and guidance ; so there ought to be certain tests, certain conditions, for the teacher to satisfy as there are also for the taught.

The conditions necessary for the taught are purity, a real thirst after knowledge, and perseverance. No impure soul can be really religious. Purity in thought, speech, and act, is absolutely necessary for any one to be religious. As to the thirst after knowledge it is an old law that we all get whatever we want. None of us can get any thing other than what we fix our hearts upon. To pant for religion truly is a very difficult thing, and not at all so easy as we generally imagine. Hearing religious talks, reading religious books, is no proof yet of a real want felt in the heart; there must be a continuous struggle, a constant fight, an unremitting grappling with our lower nature, till the higher want is actually felt and the victory is achieved. It is not a question of one or two days, of years or of lives; the struggle may have to go on for hundreds of life times. The success sometimes may come immediately, but we must be ready to wait patiently even for what may look like an infinite length of time. The student who sets out with such a spirit of perseverance, will surely find success and realisation.

In regard to the teacher, we must see that he knows the spirit of the scriptures. The whole world reads *Bibles, vedas and Quorans;* but they are all only words, syntax,

etymology, philology the dry bones of religion. The teacher who deals too much in words, and allows the mind to be carried away by the force of words, loses the spirit. It is the knowledge of the spirit of the scriptures alone that constitutes the true religious teacher. The net-work of the words of the scriptures is like a huge forest, in which the human mind often loses itself and finds no way out. शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणं । "The net-work of words is a big forest; it is the cause of a curious wandering of the mind." The various methods of joining words, the various methods of speaking in beautiful language, the various methods of explaining in the diction of the scriptures, are only for the disputations and enjoyment of the learned, they do not conduce to the development of spiritual perception. वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलं । वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये । Those who employ such methods to impart religion to others, are only desirous to show off their learning, so that the world may praise them as great scholars. You will find that no one of the great teachers of the world, ever went into these various explanations of the texts; there is with them no attempt at "text-torturing." no eternal playing upon the meaning of words and their roots. Yet they nobly taught, while others who have nothing to teach, have taken up a word sometimes, and written a three-volume book on its origin, on the man who used it first, and on what that man was accustomed to eat, and how long he slept, and so on.

Bhagwan Ramakrishna used to tell a story of some men who went into a mango orchard and busied themse-

lves in counting the leaves, the twigs, and the branches, examining their colour, comparing their size, and noting down everything most carefully, and then got up a learned discussion on each of these topics, which were undoubtedly highly interesting to them. But one of them, more sensible than the others, did not care for all these things and instead thereof, began to eat mango fruit. And was he not wise ? So leave this counting of leaves and twigs and note-taking to others. This kind of work has its proper place, but not here in the spiritual domain. You never see a strong spiritual man among these "leaf-counters," Religion the highest aim, the highest glory of man, does not require so much labour as "leaf-counting" If you want to be a *Bhakta,* it is not at all necessary for you to know whether Krishna was born in Mathura or in Vrija, what he was doing, or just the exact date on which he pronounced the teachings of the Gita. You only require to feel the craving for the beautiful lessons of duty and love in the Gita. All the other particulars about it and its author are for the enjoyment of the learned. Let them have what they desire. Say *Santih, Santih* to their learned controversies, and let us eat the mangoes.

The second condition necessary in the teacher is sinlessness. The question is often asked. Why should we look into the character and personality of a teacher ? We have only to judge of what he says, and take that up. This is not right. If a man wants to teach me something of dynamics or chemistry, or any other physical science, he may be anything he likes, because what the physical

sciences require, is merely an intellectual equipment; but in the spiritual sciences it is impossible from first to last, that there can be any spiritual light in the soul that is impure. What religion can an impure man teach ? The sine qua non of acquiring spiritual truth for one's self, or for imparting it to others is the purity of heart and soul. A vision of God, or a glimpse of the beyond, never comes until the soul is pure, and then alone comes the value of his words, because he is only then the true "transmitter." What can he transmit, if he has not spiritual power in himself ? There must be the worthy vibration of spirituality in the mind of the teacher so that it may be sympathetically conveyed to the mind of the taught. The function of the teacher is indeed an affair of the transference of something and not one of mere stimulation of the existing intellectual or other faculties in the taught. Something real and appreciable as an influence comes from the teacher and goes to the taught. Therefore the teacher must be pure.

The third condition is in regard to the motive. The teacher must not teach with any ulterior selfish motive, for money, name or fame, his work must be simply out of love, out of pure love for mankind at large. The only medium through which spiritual force can be transmitted, is love. Any selfish motive, such as the desire for gain or for name will immediately destroy this conveying medium. God is love and only he who has known God as love, can be a teacher of godliness and God to man.

When you see, that in your teacher these conditions

are all fulfilled, you are safe, if they are not, it is unsafe to allow yourself, to be taught by him, for here is the great danger that, if he cannot convey goodness to your heart, he may convey wickedness. This danger must by all means be guarded against. "श्रोत्रियाऽवृजिनोऽकोमहतो यो ब्रह्मवित्तम्" "He who is learned in the scriptures, sinless, unpolluted by lust and is the greatest knower of the Brahman," is the real teacher.

From what has been said, it naturally follows that we cannot be taught to love, appreciate, and assimilate religion everywhere and by everybody. The "sermons in stones books in the running brooks, and good in everything,"—is all very true as a poetical figure; but no man can impart to another a single grain of truth unless the other has the undeveloped germs of it in himself. To whom do the stones and brooks preach sermons ? To the human soul the lotus of whose inner holy shrine is already quick with life. And the light which causse the beautiful opening out of this lotus, comes always from the good and wise teacher. When the heart has thus been opened, it becomes fit to receive teaching from the stones or the brooks, the stars or the sun or the moon or from anything which has its existence in our divine universe but the unopened heart will seen in them nothing but mere stones or mere brooks. A blind man may go to a museum, but he will not profit by it in any way, his eyes must be opened first, and then alone he will be able to learn what the things in the museum can teach.

The eye-opener of the aspirant after religion is the teacher. With the teacher, therefore, our relationship is the same as that between an ancestor and his descendant. Without faith, humility, submission; and veneration in our hearts towards our religious teacher, there cannot be any growth of religion in us, and it is a significant fact that, where this kind of relation between the teacher and the taught prevails, there alone gigantic spiritual men are growing, while in those countries which have neglected to keep up this kind of relation, the religious teacher has become a mere lecturer, the teacher expecting his five dollars, and the person taught expecting his brain to be filled with the teacher's words and each going his own way after this much has been done. Under such circumstances spirituality becomes almost an unknown quantity. There is none to transmit it, and none to have it transmitted to. Religion with such pepole becomes business, they think they can obtain it with their dollars. But unfortunately it cannot be.

Religion, which is the highest knowledge and the highest wisdom, cannot to be bought, nor can it be acquired from books. You may thrust your head into all the corners of the word, you may explore the Himalayas, the Alps, and the Caucasus, you may sound the bottam of the sea, and pry into every nook of Tibet and the desert of Gobi, you will not find it anywhere, until your heart is ready for receiving it, and your teacher has come. And when that divinely appointed teacher comes, serve him with childlike confidence and simplicity,

freely open your heart to his influence and see in him God manifested. Those who come to seek truth with such a spirit of love and veneration, to them the Lord of truth reveals the most wonderful things regarding Truth, Goodness and Beauty.

"Incarnate Teachers and Incarnation"

Wherever His name is spoken, that very place is holy. Holy much more so is the man who speaks his name and with what veneration ought we to approach that out of whom comes to us spiritual truth ? Such great teachers of spiritual truth are indeed very few in number in this world, but the world is never altogether without them. They are always the fairest flowers of human life "अहेतुकदयांसिन्धु"—The ocean of mercy without any motive. "आचार्य माँ विजानीयात्" "Know the Guru to be Me," "says Sri Krishna in the Gita. The moment the world is absolutely bereft of these, it becomes a hideous hell and hastens on to its destruction.

Higher and nobler than all ordinary ones, are another set of teachers, the Avataras of Ishvara, in the world They can transmit spirituality with a thought, even with a mere wish. The lowest and the most degraded characters become in one second saints at their command. They are the Teachers of all teachers, the highest manifestations of God through man. We cannot see God except through them. We cannot help worshipping

them ; and indeed they are the only ones whom we are bound to worship.

No man can really see God except through these human manifestations. If we try to see God otherwise, we make for ourselves a hideous caricature of Him, and believe the caricature to be no worse than the original. There is a story of an ignorant man who was asked to make an image of the God shiva, and who, after days of hard struggle manufactured only the image of a monkey. So whenever we try to think of God as He is in His absolute perfection we invariably meet with the most miserable failure ; because as long as we are men we cannot conceive Him as anything higher than man. The time will come when we shall transcend our human nature, and know Him as He is, but as long as we are men we must worship Him in man and as man. Talk as you may, try as you may, you cannot think of God except as a man. You may deliver great intellectual discourses on God and on all things under the sun, become great rationalists and prove to your satisfaction that all these accounts of the Avataras of God as man, are nonsense. But let us come for a moment to practical common-sense. What is there behind this kind of remarkable intellect ? Zero, nothing, simply so much froth. When next you hear a man delivering a great intellectual lecture against this worship of the Avataras of God, get hold of him and ask him what his idea of God is, what he understands by "omnipotence." "ominpresence," and all similar terms, beyond the spelling of the words. He really means

nothing by them; he cannot formulate as their meaning any idea unaffected by his own human nature; he is no better off in this matter than the man in the street who has not read a single book. That man in the street, however, is quiet and does not disturb the peace of the world; while this big talker creates disturbance and misery among mankind. Religion is, after all, realisation, and we must make the sharpest distinction between talk and intuitive experience. What we experience in the depths of our souls is realisation. Nothing indeed is so uncommon as common-sense in regard to this matter.

By our present constitution we are limited and bound to see God as man. If, for instance the buffaloes want to worship God, they will, in keeping with their own nature, see Him as a huge buffalo; if a fish wants to worship God, it will have to form an idea of Him as a big fish; and man has to think of Him as man. And these various conceptions are not due to morbidly active imagination. Man; the buffalo, and the fish, all may be supposed to represent so many different vessels, so to say. All these vessels go to the sea of God to get filled with water, each according to its own shape and capacity; in the man, the water takes the shape of man, in the buffalo the shape of a buffalo, and in the fish shape of fish. In each of these vessels there is the same water of the sea of God. When men see Him, they see Him as a man, and the animals, if they have any conception of God at all, must see Him as animal each according to its own ideal. So we cannot help seeing God as man, and, therefore, we are bound to worship Him as man. There is no other way.

Two kinds of men do not worship God as man, the human brute who has no religion, and the Parmahansa, who has risen beyond all the weaknesses of humanity, and has transcended the limits of his own human nature. To him all nature has become his own self. He alone can worship God as He is. Here too as in all other cases, the two extremes meet. The extreme of ignorance and the other extreme of knowledge, neither of these go through acts of worship. The human brute does not worship because of its ignorance, and the Jivan Muktas (free soul) do not worship because they have realized God in themselves. Being between these two poles of existence if any one tells you that he is not going to worship God as man take kindly care of that man ; he is, not to use any harsher term, an irresponsible talker ; his religion is for unsound and empty brain.

God understands human failings and becomes man to do good to humanity. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। ग्रभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ "Whenever virtue subsides and wickedness prevails I manifest, myself. To establish virtue, to destroy evils to save the good; I come from Yuga to Yuga." "Fools deride Me who have assumed the human form, without knowing My real nature as the Lord of the universe". Such in Shri Krishna's declaration in the Gita on incarnation. "When a huge tidal wave comes," says Bhagawn Shri Ram Krishana, "all the little brooks and ditches become full to the brim without any effort on consciousness on their own part ; so when an Incarnation comes, a tidal wave of spirituality breaks upon the world, and people feel spirituality almost full in the air.

❖ आरती ❖

जय गुरुदेव दयानिधि दीनन हितकारी ।
जय जय मोह विनाशक, भव बन्धन हारी ॥ जय देव० ॥
ब्रह्मा, विष्णु, सदाशिव गुरु मूरत धारी ।
वेद पुराण बखानत, गुरु महिमा भारी ॥ जय देव० ॥
जप तप तीरथ संयम दान विविध दीन्हें ।
गुरु बिन ज्ञान न होवे, कोटि यतन कीन्हें ॥ जय देव० ॥
माया मोह नदी जल जीव बहें सारे ।
नाम जहाज बिठा कर, गुरु पल में तारे ॥ जय देव० ॥
काम, क्रोध, मद, मत्सर चोर बड़े भारे ।
ज्ञान खड्ग दे कर में, गुरुसब संहारे ॥ जय देव० ॥
नाना पंथ जगत में निज निज गुण गावें ।
सबका सार बताकर, गुरु मारग लावें ॥ जय देव० ॥
गुरु चरणामृत निर्मल सब पातक हारी ।
वचन सुनत तम नाशे, सब संशय टारी ॥ जय देव० ॥
तन, मन, धन सब अर्पन गुरु चरनन कीजे ।
ब्रह्मानन्द परमपद, मोक्ष गति लीजे ॥ जय देव० ॥
चार वेद छः शास्त्र सब में दर्शाया ।
शेष, महेश रटत हैं, पार नहीं पाया ॥ जय देव० ॥
पाँच चोर के मारन कारन नाम का बांण दिया ।
प्रेम भक्ति से साधा, भव जल पार किया ॥ जय देव० ॥
सतयुग, त्रेता, द्वापर नाना रूप लिया ।
कलिकाल भक्तन हित, 'हंस' अवतार लिया ॥ जय देव० ॥
श्री सद्गुरुदेव की शरण में जो कोई नर आवे ।
भव-सागर से तर कर, परम गति पावे ॥ जय देव ॥

* श्री सद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः *

हंसयोग प्रकाश

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुःगुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात्परंब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः ।।
बन्दौं गुरुपदकंज कृपासिन्धु नर रूप 'हरि' ।
महामोहतमपुँज जासु वचन रविकरनिकर ।।

।। मंगलाचरण ।।

शान्ताःकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं,
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगभिर्ध्यानगम्यम्,
वन्दे विष्णुँ भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम् ।।

शान्त स्वरूप, शेष पर शयन करने वाले, नाभि कमल से संसार को बनाने वाले ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है, ऐसे विश्व को धारण-पोषण करने वाले, आकाश के सदृश बहुत ही सूक्ष्म, मेघों की तरह सभी पर कृपा की वर्षा करने वाले, जिनके अंगों की कान्ति हज़ारों सूर्यों को लजाने वाली है; ऐसे मायापति, कमलनेत्र, योगियों के ध्यान गम्य, संसार के भय को दूर करने वाले, सब लोक-लोकांतरों के स्वामी श्री "हरि" को मेरी वन्दना है, बारम्बार मेरा नमस्कार है ।

* गुरु-वन्दना *

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कर रूपिणम् ।
यमाश्रितोहि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥
ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्त्तिम् ।
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम् ॥
एकं नित्यं विमल अचलं सर्वधीसाक्षिभूतम् ।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सत्गुरुं तं नमामि ॥
श्री गुरु चरण सरोज रज वन्दित मैं कर जोरि ।
विघ्न मिटै प्रगटे विभो, होय विमल मति मोरि ॥
वन्दौं चरण सरोज गुरु, मुदमंगल आगार ।
जेहि सेवत नर होत हैं, भवसागर से पार ॥
गुरु के सुमिरण मात्र से, नाशत विघ्न अनन्त ।
ताते सर्वारम्भ में, ध्यावत हैं सब सन्त ॥
औगुन हारा गुन नहीं, मन का बड़ा कठोर ।
ऐसे समरथ सत्गुरु, ताहि लगावें ठौर ॥
तुम तो समरथ साँइयाँ, दृढ़ करि पकड़ो बाँह ।
धुर ही ले पहुँचाइयो, जनि छाँड्यो मग माँहि ॥
सुरत करो मेरे साँइयाँ, हम हैं भव जल माँहि ।
आप ही बह जाएँगे, जो नहिं पकड़ो बाँह ॥
घट समुद्र लख ना पड़े, उठे लहर अपार ।
दिल 'दरिया' समरथ बिना, कौन उतारे पार ॥
औगुन किये तो बहु किये, करत न मानी हार ।
भावे बंदा बखशिये, भावे गर्दन मार ॥

मैं अपराधी जन्म का, नख-शिख भरा विकार ।
तुम दाता दुःख भञ्जना, मेरी करो संभार ॥
मन परतीत न प्रेम रस, ना कुछ तन में ढंग ।
ना जानूँ उस पीव सों, क्योंकर रहसी संग ॥
क्या मुख ले विनती करूँ, लाज आवत है मोहि ।
तुम देखत औगुन करूँ, कैसे भाऊँ तोहि ॥
भक्ति दान मोहि दीजिए, गुरु देवन के देव ।
और नहिं कछु चाहिए, निश-दिन तुम्हरी सेव ॥
जो अबके स्वामी मिलें, सब दुःख आँखूँ रोय ।
चरनों ऊपर शीश धरूँ, कहूँ जो कहना होय ॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

※ बलिहारी ※

भाग्य बड़े सद्गुरु मैं पायो, मन की दुविधा दूर नशाई ॥टेक॥
बाहर ढूंढ फिरा मैं जिसको, सो वस्तु घट भीतर पाई ॥१॥
सकल जून जीवन के माहीं, पूरण ब्रह्म ज्योति दर्शाई ॥२॥
जनम जनम के बन्धन काटे, चौरासी लख त्रास मिटाई ॥३॥
ब्रह्मानन्द चरण बलिहारी, गुरु महिमा हरि से अधिकाई ॥४॥

।। गुरुदेव शरणं ।।

चरणारविन्दं गोविन्दं नमामि ।
गुरुदेव शरणं गुरुदेवं नमामि ।।
भवो-भाव्य भावं त्रयताप हारं ।
भवभय नाशं गुरुदेवं नमामि ।।१।।
कल्याणरूपं आनन्दकन्दं ।
धारामृतं शिवं गुरुदेवं नमामि ।।२।।
अरण्यं वरेण्यं सुरेशं रमेशं ।
त्रयदेवरूपं गुरुदेवं नमामि ।।३।।
न जानामि जापं न जानामि ध्यानं ।
पाशूपतरूपं गुरुदेवं नमामि ।।४।।
घटाकाश गुप्तं महाकाशरूपं ।
चिदाकाश व्यक्तं गुरुदेवं नमामि ।।५।।
भूतेषं प्रणम्यं अनन्तं स्वरूपं ।
भक्तस्य त्राणं गुरुदेवं नमामि ।।६।।
अकल्पं अनूपं तपान्तं दिगान्तं ।
अगोगोचराणां गुरुदेवं नमामि ।।७।।
सिद्धमगम्यं तव पादपद्मे ।
प्रबुद्धं शुभेशं गुरुदेवं नमामि ।।८।।

विचार

गुरु गुरु कह सब विश्व पुकारे । गुरु सोई जो भरम निवारे ॥
बहुत गुरु हैं अस जग माहीं । हरैं द्रव्य भव-दुःख को नाहीं ॥
ताते प्रथम परीक्षा कीजे । पीछे शिष्य होय दीक्षा लीजे ॥
बिन जाने जो कोई गुरु करहिं । सो नर भवसागर में परहिं ॥
पापी पाखण्डी अविचारी । नास्तिक कुटिल वृत्ति बक धारी ॥
अभिमानी निन्दक शठ नटखट । दुराचारयुत अबला लम्पट ॥
क्रोधी कुटिल कुतर्क विवादी । लोभी समता रहित विषादी ॥
अस गुरु कबहुँ भूल न कीजे । इनको दूर ही से तज दीजे ॥

सद्गुरु कैसा हो ?

निगमागम रहस्य के ज्ञाता । निस्पृहहित अनुशासन दाता ॥
दया क्षमा सन्तोष संयुक्ता । परम विचार मान भव मुक्ता ॥

ऐसा सद्गुरु खोज के, रहिए चरणन लाग ।
मिटे जन्म की कल्पना, ताके पूरण भाग ॥

श्री गुरु परमानन्दं वन्दे स्वानन्दनविग्रहम् ।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते मनः ॥

शिष्य को आत्मा के तत्त्वबोध निमित्त गुरु स्वरूप धारण करने वाले परमगुरु श्री परमात्मा को सहस्रदल कमल में भावना-पूर्वक विघ्नों को दूर करने के लिए प्रथम प्रणाम करना चाहिए । जीव ब्रह्म की एकता ही योगशास्त्र का प्रयोजन है । सद्गुरु के समीप भक्ति-पूर्वक रहने से शिष्य का पञ्चभौतिक शरीर भी आनन्दमय हो जाता है । "आनन्दो ब्राह्मणो रूपम्" यदि ऐसा न हो तो गुरू की पहचान भी नहीं हो सकती ।

॥ गुर्वष्टकम् ॥

शरीरं सरूपं तथा वा कलत्रं यशश्चारु चित्रं धनं मेरुतुल्यम् ॥
गुरोरंध्रिपद्मे मनश्चेन्नलग्नं ततः किं ततः किं ततः किं ततः किम् ॥
कलत्रं धनं पुत्रपौत्रादि सर्वं गृहं बांधवाः सर्व मेतद्धि जातम् ॥
षडंगादिवेदो मुखे शास्त्रविद्या कवित्वादि गद्यं सुपद्यं करोति ॥
विदेशेषु मान्यः स्वदेशेषु धन्य सदाचारवृत्तेषु मत्तो न चान्यः ॥
क्षमामण्डले भूप भूपाल वृन्दैः सदा सेवितं यस्य पादारविन्दम् ॥
यशो मे गतं दिक्षु दानप्रतापाज्जगद्वस्तु सर्वं करेयत्प्रसादात् ॥
न भोगे न योगे न वा वाजिराजौ कान्तासुखे नैववित्तेषु चित्तम् ॥
अरण्ये न वास्वस्य गेहे न कार्ये न देहे मनो वर्तते मे त्वनन्य ॥
अनर्घ्याणि रत्नानिमुक्तानि सम्यक्समालिंगिता कामिनी यामिनीषु॥
गुरोरष्टकं यः पठेत्पुण्यदेही यतिर्भूपतिर्ब्रह्मचारी च गेही ॥
लभेद्वाञ्छितार्थं पदं ब्रह्मसंज्ञं गुरोरुक्तवाक्ये मनो यस्य लग्नम् ॥

अर्थः—चाहे कोई शरीर से सुन्दर हो, स्त्री-पुत्र, पौत्र, बान्धव आदि सभी हों। कुबेर के खजाने की तरह घर धन से भरा हो। चार वेद छः शास्त्र कण्ठस्थ हों। गद्य और पद्य की रचना करने में कुशल हो विदेशों में बड़ा मान हो। स्वदेश में चारों ओर धन्य धन्य हो रही हो। सदाचार में अनन्य वृत्ति हो, क्षमाशील हो, अनेक राजे-महाराजे सदा सर झुकाते हों। दान के प्रताप से दशों दिशाओं में यश छाया हुआ हो, पूर्वकृत पुण्यों के फलस्वरूप चारों पदार्थ भी प्राप्त हों। मणिमुक्ताओं से सजी हुई अनेक रमणियों के मध्य रात व्यतीत होती हो। अथवा संसारी भोगों और योग से चित्त उपराम हो। राज-गज-बाज-धन बस्ती या जङ्गल से चित्त उपराम हो। मगर ऐसा होने पर भी यदि मन को गुरू चरणों में नहीं लगाया, तो कुछ नहीं किया! कुछ नहीं किया!! कुछ नहीं किया!!! इसको जो पढ़ेगा और विचार करेगा, उसे महान् पुण्य होगा। ब्रह्मचारी हो या गृहस्थी, इसके अनुसार चलने पर गुरू-चरणों में अवश्य मन लग जायेगा।

* सद्गुरु महिमा *

मैं सदगुरु का वर्णन कैसे करूँ ! जहाँ माया स्पर्श नहीं कर सकती वह स्वरूप मुझ अज्ञानी को कैसे जान पड़े ? जो (सद्गुरु-पारब्रह्म) जाना नहीं जा सकता और जिसके विषय में श्रुति नेति-नेति कहती है, उसका वर्णन करने के लिए मुझ मूर्ख की मति का कहाँ ठिकाना है ? यह विषय मेरी समझ में नहीं आता। इसलिए इसे दूर से ही मेरा नमस्कार है। हे गुरुदेव ! मुझे यह शक्ति दो जिससे मैं तुम्हारा पारावार पा जाऊँ। स्तुति करने की दुःस्साध्य आशा थी, परन्तु माया का भरोसा टूट गया। अतएव हे सद्गुरुदेव ! आप जैसे हो, वैसे ही रहो। मन में इच्छा थी कि माया के बल से स्तुति करूँगा, परन्तु माया लज्जित हो गई, अब क्या करूँ ?

मुख्य परमात्मा की कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिए उसकी प्रतिमा ही बनानी पड़ती है। उसीप्रकार माया के योग से सद्गुरु की महिमा का वर्णन करूँगा। जिसप्रकार अपने भाव के अनुसार मन में देवता का ध्यान किया जाता है, उसीप्रकार अब मैं इस स्वतन में सद्गुरु की स्तुति करता हूँ। हे सद्गुरुदेव ! तेरी जय हो। हे विश्वम्भर, विश्व-बीज, परम पुरुष, मोक्षध्वज और दीनबन्धु तेरे ही अभय-रूप कर से यह कभी निवारण न होने वाली माया इसीप्रकार मिट जाती है, जैसे कि सूर्य के प्रकाश से अन्धकार दूर हो जाता है। सूर्य अन्धकार का निवारण करता है, परन्तु रात होने पर फिर जगत में अन्धकार छा जाता है। हमारे स्वामी सद्गुरु ऐसे नहीं हैं।

वह जन्म-मृत्यु, अर्थात् आवागमन का नाश करते हैं और अज्ञानरूप अन्धकार को जड़ से ही नष्ट कर देते हैं। जैसे सुवर्ण से लोहा कभी नहीं हो सकता इसीप्रकार गुरु का भक्त कभी सन्देह में नहीं पड़ता। कोई भी नदी गंगा में मिलने से गंगा ही कहलाती है। यदि फिर वह अलग की जाय तो कदापि अलग नहीं हो सकती। परन्तु उसी नदी को गंगा में मिलने से पहले, सभी लोग नदी कहते हैं, कोई गंगा नहीं कहता। शिष्य भी सर्वथा स्वामी ही हो जाता है। पारस लोहे को पारस नहीं कर सकता, स्वर्ण लोहे को बदल नहीं सकता परन्तु सद्गुरु का भक्त उपदेश द्वारा औरों को भी सद्गुरु ही बना देता है। इसप्रकार शिष्य को गुरू पद प्राप्त होता है। पारस के बनाये हुए स्वर्ण से लोहा स्वर्ण नहीं बन सकता, इसलिए सद्गुरु को पारस की उपमा नहीं दे सकते।

सद्गुरु और पारस में बड़ो अन्तरो जान।
वह लोहे को कञ्चन करे, गुरू कर लें आप समान ॥

यदि सागर से सद्गुरु की उपमा दी जाय तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षीर सागर का भी कल्पान्त में नाश होगा। यदि मेरु की उपमा दी जाय तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि वह जड़ पाषाण के रूप में है। सद्गुरु वैसे नहीं हैं, वह दीन-जनों के लिए कोमल हैं। यदि आकाश की उपमा दी जाय तो सद्गुरु स्वरूप आकाश से भी अति सूक्ष्म है। इस कारण सद्गुरु से आकाश की उपमा भी नहीं दी जा सकती। धीरता में यदि सद्गुरु को धरती की उपमा दी जाय तो यह ठीक नहीं है,

क्योंकि धरती भी कल्पांत में नष्ट होगी। इसलिए धीरता की उपमा में वसुन्धरा भी हीन जान पड़ती है। अब यदि सूर्य की उपमा देते हैं तो उसके प्रकाश की भी शास्त्र मर्यादा बताते हैं। परन्तु सद्गुरुदेव अमर्याद हैं। इसलिए सूर्य भी उपमा में कम है। सद्गुरु का ज्ञानरूपी प्रकाश बहुत महान् है। शेष की उपमा देवें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि शेष भारवाही अर्थात् बोझा उठाने वाला है। जल की उपमा दी जाय तो जल भी कालान्तर में सूख जायगा। सद्गुरु रूप निश्चल है, वह कभी नहीं जा सकता। सद्गुरु से अमृत की उपमा दी जाय तो वह भी बराबर नहीं क्योंकि अमृत पान करने वाले देवता अमर होने पर भी मृत्यु-पथ को प्राप्त होते हैं। पर सद्गुरु कृपा सचमुच ही अमर कर देती है। सद्गुरु को कल्पतरु कहें तो भी ठीक नहीं क्योंकि सद्गुरु का रूप कल्पनातीत, अर्थात् कल्पना से बाहर है। इस विचार से कल्पवृक्ष की उपमा कौन स्वीकार करेगा? जहाँ मन में चिन्ता ही नहीं है, वहाँ चिन्तामणि को कौन पूछता है? कामधेनु का दूध निष्काम है! पर जो निष्काम है उसे कामधेनु की क्या जरूरत है? सद्गुरु को यदि लक्ष्मीवन्त कहें तो लक्ष्मी नाशवान् है। जिसके द्वार पर मोक्ष-रूपी लक्ष्मी हाथ जोड़े खड़ी रहती है, उसका इस नाशवान् लक्ष्मी से क्या काम है? स्वर्गलोक और इन्द्र की सम्पत्ति की भी कालान्तर में विडम्बना हो जाती है, परन्तु सद्गुरु की कृपा अचल है। हरि, हर और ब्रह्मा आदि सब नष्ट हो जाते हैं, परन्तु सर्वदा अविनाशी, अर्थात् कभी नाश न होने वाला केवल एक सद्गुरु-पद ही है। उसको किसकी उपमा दी जाए? सारी सृष्टि तो नाशवान् है;

वहाँ पञ्च भौतिक धारा तो चलती ही नहीं। इसलिए सद्गुरु का वर्णन नहीं हो सकता। यह लो, बस! "सद्गुरु का वर्णन नहीं हो सकता," यही मेरा कहना है; सद्गुरु का वर्णन नहीं हो सकता! भीतरी दशा की पहचान अन्तर्निष्ठ सद्गुरु ही जानते हैं। इसलिए—

सर्ववेदान्त सिद्धान्त गोचरं तमगोचरम्।
गोविन्दं परमानंद सद्गुरुं प्रणतोऽज्यहम्॥

सब वेदों के सिद्धान्त को दिखाने वाले, अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले, परमानन्द स्वरूप सद्गुरुदेव श्री गोविन्द भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ।

जन्म देने वाले और ब्रह्म-ज्ञान के देने वाले दोनों पिताओं में ब्रह्म-ज्ञान देने वाला पिता ही श्रेष्ठ होता है, क्योंकि ब्रह्म ही इस लोक और परलोक में स्थायी रहने वाला है। (मनु)

एकमेवाक्षरं यस्तु गुरुः शिष्यं प्रबोधयेत्।
पृथिव्याँ नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्त्वा चानृणी भवेत्॥

पृथ्वी में कोई ऐसा द्रव्य है ही नहीं! जिससे गुरू के दिये हुए एक भी अक्षर का ऋण चुकाया जाय।

यस्य साक्षाद् भगवते ज्ञान दीप प्रदे गुरौ।
मनुष्य इति दुर्बुद्धिस्तस्य सर्व निरर्थकम्॥

ज्ञान रूपी दीपक का देने वाला गुरू साक्षात् भगवान् है, उसमें जिसकी मनुष्य रूप दुर्बुद्धि होती है, उसका सब किया कराया व्यर्थ हो जाता है।

शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरु रुष्टे न कश्चन्।

शिव यदि रुष्ट हो जाये तो गुरु बचा लेता है, पर गुरू के रुष्ट होने पर दुनिया में कोई भी बचाने वाला नहीं है। ऐसे गुरू के लिए जो अकेला ही माता-पिता दोनों की मूर्ति हैं, कभी द्रोह न करे, चाहे कितनी ही घोर आपत्ति आ पड़े। (निरुक्त)

कृतघ्नानान्तु ये लोका ये लोका ब्रह्मघातिनाम्।
मृत्वा तानभिसंयाति गुरूद्रोहपरो नरः॥

जो मनुष्य गुरू से द्रोह करता है वह मरकर उन लोकों को जाता है, जहाँ कृतघ्नी और ब्रह्म-हत्यारे जाते हैं। जहाँ गुरू की निन्दा होती हो, वहाँ शिष्य अपने दोनों कानों को बन्द करले अथवा वहाँ से अन्यत्र चला जाय।

हरि गुरु निन्दा सुनै जो काना। पाप होय गौ घात समाना।
हरि गुरु निन्दक दादुर होई। जन्म सहस्र पावै तन सोई॥

गुरू की निन्दा नहीं सुननी चाहिए। जहाँ गुरू की निन्दा होती हो वहाँ से कान बन्द करके चला जाना चाहिए। जो शिष्य स्वयं ही अपने गुरू की निन्दा करता है चाहे वह सच्ची है या झूठी, वह मरने पर गधा और कुत्ता होता है। (मनु)

मनु का मत है कि गुरू के पास हमेशा उनसे हीन दशा में बैठना चाहिए। गुरू के उठने से पहले उठना और सोने के बाद सोना चाहिए। यह शिष्य का परम कर्त्तव्य है।

गुरू लेटे हुए हों तो बैठकर, भोजन कर रहे हों तो दूर खड़े होकर या दूसरी ओर मुँह करके आज्ञा ग्रहण करनी चाहिए। गुरू के सम्मुख मुँह करके भाषण नहीं करना चाहिए। गुरू यदि आसन पर बैठकर कुछ आदेश करें तो शिष्य को चाहिए कि

खड़े होकर उनकी आज्ञा ग्रहण करे। (सम्मानरक्षणार्थ) परोक्ष में भी गुरू का नाम नहीं लेना चाहिए।

वेदान्तानामनेकत्वात् संशयानां बहुत्वता।
वेद्यस्याप्यतिसूक्ष्मत्वान्न जानाति गुरु बिना॥

वेदान्त भी अनेक हैं और संदेह भी बहुत हैं तथा जानने योग्य आत्म-तत्त्व भी अति सूक्ष्म है। गुरू के बिना मनुष्य उसे कभी भी नहीं जान सकता।

जिसे अपने स्वरूप के जानने की इच्छा हो, उसे चाहिए कि हाथ में समिधा लेकर ऐसे गुरू की शरण जाये, जो वेद वेदार्थ को जानने वाला और ज्ञानी हो। (मुण्डक २।१२)

वेदांते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाऽप्रशांताय दातव्यं नाऽपुत्रायाऽशिष्याय वा पुनः॥

वेदों में, उपनिषदों में वर्णन किया हुआ परमात्मा के स्वरूप का रहस्य या वेदान्त में, उपनिषदों में, पुराकल्प में वर्णित परम रहस्यरूप यह ब्रह्मज्ञान अशान्त-चित्त को नहीं देना चाहिए. न अपुत्र को और न अशिष्य को ही यह रहस्य उपदेश देना उचित है। (श्वेता० ६-२२)

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्तेमहात्मनः॥

जिसकी परमेश्वर में परम भक्ति है और जैसी भक्ति देव में है वैसी ही गुरु में है उस महात्मा को कहे हुए ये अर्थ-रहस्य प्रकाश पाते हैं, उसी को दिया हुआ उपदेश सफल होता है। (श्वेता० ६-२३)

गुरु को कीजे दण्डवत्, कोटि कोटि प्रणाम ।
कीट न जाने भृङ्ग को, गुरु कर लें आप समान ॥ १ ॥
जगत जनायो जेहि सकल, सो गुरु प्रगटे आय ।
जिन गुरु आँखि न देखिया, सो गुरु दिया लखाय ॥ २ ॥
सद्गुरु की महिमा अनन्त, अनन्त किया उपकार ।
लोचन अनन्त उघारिया, अनन्त लखावन हार ॥ ३ ॥
जेहि खोजत ब्रह्मा थके, सुर नर मुनि अरु देव ।
कहे कबीर सुन साधवा, कर सद्गुरु की सेव ॥ ४ ॥
कबीर गुरू गुरुआ मिला, रल गया आटे लौन ।
जाति पाँति कुल मिट गया, नाम धरेगा कौन ॥ ५ ॥
गुरु को सिर पर राखिये, चलिये आज्ञा माँहि ।
कहे कबीर ता दास को, तीन लोक डर नाँहि ॥ ६ ॥
गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पांय ।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो लखाय ॥ ७ ॥
लाख कोस जो गुरु बसै, दीजे सुरत पठाय ।
शब्द तुरी असवार ह्वै, पल पल आवे जाय ॥ ८ ॥
सद्गुरु पूर्ण ब्रह्म सों, विनय करूँ कर जोर ।
तुम बिन जग में है नहीं, देखूँ जाकी ओर ॥ ९ ॥
पहिले दाता शिष भया, जिन तन मन अरपा सीस ।
पाछे दाता गुरु भये, जिन नाम दिया बख़्शीस ॥१०॥
गुरु धोबी शिष कापड़ा, साबुन सृजनहार ।
सुरत सिला पर धोइये, निकसे ज्योति अपार ॥११॥
गुरु कुम्हार शिष कुम्भ है, गढ़-गढ़ काढ़ै खोट ।
अन्तर हाथ सहार दे, बाहर मारे चोट ॥१२॥

सद्गुरु महल चिनाइयाँ, प्रेम गिलावा दीन ।
साहिब दर्शन कारने, शब्द झरोखा कीन ॥१३॥
गुरु गोविन्द दोउ एक हैं, दूजा सब आकार ।
आपा मेटे गुरु भजे, तब पावे करतार ॥१४॥
ज्ञान समागम प्रेम सुख, दया भक्ति विश्वास ।
गुरु सेवा ते पाइये, सद्गुरु चरण निवास ॥१५॥
गुरु मानुष कर जानते, ते नर कहिये अन्ध ।
महा दुःखी संसार में, आगे जम के फन्द ॥१६॥
गुरु मानुष कर जानते, चरणामृत को पान ।
ते नर नरकै जायेंगे, जन्म जन्म ह्वै स्वान ॥१७॥
गुरु हैं बड़ गोविन्द ते, मन में देख विचार ।
हरि सुमरे सो वार है, गुरु सुमरे सो पार ॥१८॥
गुरु से भेद जो लीजिए, सीस दीजिए दान ।
बहुतक भोंदू बहि गये, राखि जीव अभिमान ॥१९॥
गुरु समान दाता नहीं, याचक शिष्य समान ।
तीन लोक की सम्पदा, सो गुरु दीन्ही दान ॥२०॥
मूल ध्यान गुरु रूप है, मूल पूजा गुरु पाँव ।
मूल नाम गुरु वचन है, मूल सत्य सत् भाव ॥२१॥
कबीर हरि के रूठते, गुरु के शरणै जाय ।
कहे कबीर गुरु रूठते, हरि नहिं होत सहाय ॥२२॥
गुरु की आज्ञा आवई, गुरु की आज्ञा जाय ।
कहे कबीर सो सन्त है, आवागमन नसाय ॥२३॥
वस्तु कहीं ढूँढे कहीं, केहि विधि आवै हाथ ।
कबीर वस्तु तब पाईये, जब भेदी लीजे साथ ॥२४॥

भेदी लीन्हा साथ कर, दीन्हीं वस्तु लखाय ।
कोटि जन्म का पंथ था, पल में पहुँचा जाय ॥२५॥
यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान ।
सीस दिये सो गुरु मिलें, तो भी सस्ता जान ॥२६॥
सद्गुरु हम से रीझि के, एक कहा प्रसङ्ग ।
वर्षा बादल प्रेम का, भीज गया सब अङ्ग ॥२७॥
सद्गुरु सच्चा सूरमा, नख सिख मारा पूर ।
बाहर घाव न दीखई, भीतर चकना चूर ॥२८॥
सद्गुरु मारा तान कर, शब्द सुरङ्गी बान ।
मेरा मारा फिर जिये, तो कर न गहूँ कमान ॥२९॥
गूँगा हुआ बावरा, बहिरा हुआ कान ।
पायन से पंगुला हुआ, सद्गुरु मारा बान ॥३०॥
गुरु बतावे साध को, साध कहें गुरु पूज ।
अरस परस के खेल में, भई अगम की सूझ ॥३१॥
कोटिन चन्दा ऊगवें, सूरज कोटि हज़ार ।
सद्गुरु मिलिया, बाहरे दीखत घोर अंधार ॥३२॥
सद्गुरु शब्द जहाज़ है, कोई कोई पावे भेद ।
समुन्दर बून्द एकै भया, किस का करूँ निषेध ॥३३॥
केतिक पढ़ि गुनि पचि मुआ, जोग जज्ञ तप लाय ।
बिन सद्गुरु पावे नहीं, कोटिन करे उपाय ॥३४॥
बिन सद्गुरु उपदेश, सुर नर मुनि नहिं निस्तरे ।
ब्रह्मा, विष्णु, महेश, और सकल जीव को गिने ॥३५॥
सद्गुरु चन्दन सम कहा, ईस प्रेम सुवास ।
निशिदिन दान करे उसे, जो जन आवे पास ॥३६॥

सच्चे गुरु के संग में, चढ़े भक्ति का रंग ।
नित्य सवाया वह बढ़े, कभी न होवे भंग ॥३७॥
भाव भक्ति से सेइये, गुरु आदम दातार ।
अन्न बसन से पूजिये, मान आदर सत्कार ॥३८॥
लोभी दम्भी गुरु बहू, मठ धारी शठ जान ।
गद्दी के रद्दी सभी, उन में सार न मान ॥३९॥
सद्गुरु की पहचान यह, उपरति प्रेम विचार ।
वीतराग निर्पक्षता, हठ से रहित विकार ॥४०॥
शान्ति समता तोष के, कोष रोष से पार ।
राम नाम में लीन जो, प्रतिमा प्रेम प्यार ॥४१॥
ऐसा गुरुवर जानिए, जङ्गम तीर्थराज ।
स्नान ज्ञान ध्यान से, सरिहैं सारे काज ॥४२॥
चिन्तामणि यह मानिए, कल्प तरु वही जान ।
करे पूर्ण वह कामना, देकर भक्ति दान ॥४३॥
समर्थ सद्गुरु हो तुम्हीं, सन्मार्ग के बीच ।
बचाया मुझे असत्य से, किया ऊँच था नीच ॥४४॥
पथ में प्रगटे सद्गुरु, दृढ़ कर पकड़ी बाँह ।
ताप तप्त को शाँत कर, दे दी अपनी छाँह ॥४५॥
सद्गुरु की शरण में, मिले शील सन्तोष ।
जप तप ज्ञान आराधना, विवेक ज्ञान का कोष ॥४६॥
भ्रम में भूले भटकते, उदय हुए जब भाग ।
अचानक गुरु मिल गए, गए भ्रम भय भाग ॥४७॥
कुमति कूप में पड़ा था, गुरु ने पकड़ा हाथ ।
धाम बताया ईश का, कर लिया अपने साथ ॥४८॥

सद्गुरु की महिमा महा, बिरला जाने भेद ।
भारी भ्रम भगाय कर, हरे कर्म के खेद ॥४६॥
सच्चे गुरु की शरण में, मन पावे विश्राम ।
मन मांगा फल तब मिले, जपै राम को नाम ॥५०॥
गुरु की करिये वन्दना, भाव से बारम्बार ।
नाम की नौका से किया, जिसने भव से पार ॥५१॥
गुरु तो ऐसा चाहिए, स्वार्थ से हो पार ।
परमार्थ में रत रहे, परहित पर उपकार ॥५२॥
बास करे उद्यान में, तोड़े पुष्प न पात ।
ईश प्रेम बांटे सदा, पूछे जात न पात ॥५३॥
नाम रूप जिसका नहीं, उसके हैं सब नाम ।
भेद गुरू से पाइये, ओंकार है राम ॥५४॥
प्रेम भक्ति गुरु से मिले, आराधना और ध्यान ।
जप तप संयम साधना, शुद्ध समझ सम ज्ञान ॥५५॥

* पद श्री गुरू नानकदेव जी का *

गुरू की मूरत मन में ध्याना । गुरू के शब्द मन्त्र मन माना ॥
गुरू के चरण हृदय ले धारो । गुरू पारब्रह्म सदा नमस्कारो ॥
मत कोई भ्रम भूलो संसारी । गुरू बिन कोई न उतरसि पारी ॥
भूले को गुरू मार्ग पाया । अवर त्याग हरि भक्ति लाया ॥
जन्म मरण की त्रास मिटाई । गुरू पूरे की बेअन्त बड़ाई ॥
जिन्ह पाया तिन्ह गुरू ते जाना । गुरू कृपा ते मुग्ध मन माना ॥
गुरू प्रशादि ऊर्ध कमल विगाशे । अन्धकार में भया प्रकाशे ॥
गुरू करता गुरू करने योगः । गुरू परमेश्वर है भी होगः ॥
कहे 'नानक' प्रभु एहो जनाई । गुरू बिन मुक्ति न पाइए भाई ॥

* सन्त तुलसीदास जी *

वन्दौं गुरू-पद कंज, कृपासिन्धु नर रूप हरि ।।
महा-मोह-तम पुँज, जासु वचन रवि-करनि कर ।।
वन्दउँ गुरू पद पद्म परागा । सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ।।
अमिय मूरिमय चूरण चारू । समन सकल भव रुज परिवारू ।।
सुकृत शम्भु तनु विमल विभूती । मंजुल मंगल मोद प्रसूती ।।
जन-मन-मंजु मुकुर मल हरनी । किये तिलक गुणगण बस करनी ।।
श्रीगुरू पद नख मणि गण ज्योती । सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ।।
दलन मोह तम सो सुप्रकाशु । बड़े भाग्य उर आवहिं जासू ।।
उघरहिं विमल विलोचन हिय के । मिटहिं दोष दुःखभव रजनी के ।।
सूझहिं रामचरित मणि माणिक । गुप्त प्रकट जहँ जो जेहि खाणिक
गुरू पद रज मृदु मंजुल अंजन । नयन अमिय दृग दोष विभंजन ।।
गुरू बिनु भव निधि तरइ न कोई । हरि विरञ्चि शंकर सम होई ।।
सो०—बिन गुरु होय कि ज्ञान, ज्ञान कि होय विराग बिनु ।
गावहिं वेद पुरान, सुख कि लहहिं हरि भक्ति बिनु ।।
सो०—कोउ विश्राम कि पाव, तात सहज संतोष बिनु ।।
चलइ कि जल बिनु नाव, कोटि जतन करि पचि मरिअ ।।
दो०—बिनु विश्वास भक्ति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम ।
राम कृपा बिनु स्वपनेहु, जीव न लह विश्राम ।।

* भक्त सूरदास जी का पद *

अपनपो आप ही में पायो ।
शब्द ही शब्द भयो उजियारो, सद्गुरु भेद बतायो ।। अपनपो
ज्यों कुरंग नाभि कस्तूरी, ढूँढ़त फिरत भुलायो ।
फिर चेत्यो जब चेतन ही है, अपने ही तनु छायो ।। अपनपो

राजकुँअर कंठ मणि भूषण, भ्रम भयो कहूँ गँवायो ।
दियो बताय काहू सन्त जन, तब तन को पाप नशायो ।। अपनपो
स्वप्न माहिं नारि को भ्रम भयो, बालक कहूँ हिरायो ।
जागि लख्यो ज्यों का त्यों ही है, ना कहूँ गयो ना आयो ।। अपनपो
सूरदास समझे की यह गति, मन ही मन मुसकायो ।
कही न जाये वा सुख की महिमा, ज्यों गूँगो गुड़ खायो ।। अपनपो

गुरू वैद्य अरु ज्योतिषी, देव, मित्र, बड़राज ।
इन्हें भेंट बिन जो मिले, होय न पूरण काज ।।
गोविन्द ते गुरू अधिक हैं, यह जानो विश्वास ।
गोविन्द डारे नरक जेहि, गुरू मिटावत त्रास ।।

गुरु शंकर गुरु ब्रह्मा मुरारी । श्री गुरु ब्रह्म दीन दुःख हारी ।।
गुरु की शरण जो आवै प्राणी । होय तुरन्त चौरासी हानी ।।
अति पापी गुरु शरण जो आवहिं । ताके निकट दुःख नहिं जावहिं ।।
गुरु के वचन जाहि विश्वासा । फिर नहिं होय नर्क मंह बासा ।।
नर तनु धरि गुरु सेयो नाहिं । ते जन अवसि नर्क को जाहिं ।।
जप, तप गुरु बिन किये अकारथ । बिन गुरु नहीं सूझे परमारथ ।।
होय गुरु लक्षण सत जामें । दीक्षा ज्ञान फलत है तामें ।।
योग्य गुरु जो होय गुसाईं । ताको करिये स्वामी बनाई ।।
अस विचार जे चतुर नर, करत शीघ्र शुभ काम ।
पल में परले होयेगी, भज लो सीताराम ।। (वि० स०)
गुरु सेवा जानी नहीं, पाँय न पूजे धाय ।।
योग, दान, जप-तप कियो, सभी असफल ह्वै जाय ।।
गुरु सेवा बिनु घट अंधियारा, कैसे प्रकटे ज्ञान उजियारा ।।
राग द्वेष दोनों से न्यारे, ऐसे गुरु शिष्य को तारे ।।

सद्‌गुरु मेरा सूरमा, करे शब्द की चोट ।
मारे गोला प्रेम का, ढहे भ्रम का कोट ॥
हीरा मोती नारि सुत, गज घोड़ा अरु बाज ।
वचन लगा गुरुदेव का, छूटे राज के काज ॥
वचन लगा गुरु ज्ञान का, रूखे लागे भोग ।
इन्द्र पदवी लै उन्हें, चरणदास सब रोग ॥
जाति वर्ण कुल आश्रम, मान बड़ाई खोय ।
जब सद्‌गुरु के पग लगे, साँच शिष्य हो सोय ॥
हरि रूठे कुछ डर नहीं, तो भी दे छुटकाय ;
गुरु को राखो शीश पर, सब विधि करे सहाय ॥
(भक्ति सा०)

※ शब्द सहजोबाई का, हरि से गुरु की विशेषता ※

हरि कृपा जो होय तो, नाहिं होय तो नाहिं ।
पै गुरु कृपा दया बिनु, सकल बुद्धि बहि जाय ॥
राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ । गुरु के सम हरि को न निहारूँ ॥
हरि ने जन्म दियो जग माहिं । गुरु ने आवागमन छुड़ाई ॥
हरि ने पाँच चोर दिये साथा । गुरु ने लई छुड़ाय अनाथा ॥
हरि ने कुटुम्ब जाल में गेरी । गुरु ने काटी ममता बेरी ॥
हरि ने रोग भोग उपजायो । गुरु योगी कर सबै छुड़ायो ॥
हरि ने करम भरम भ्रमायो । गुरु ने आतम रूप लखायो ॥
हरि ने मोसों आप छिपायो । गुरु दीपक दै ताहि लखायो ॥
फिर हरि बन्द मुक्ति मन लाये । गुरु ने सब ही भरम मिटाये ॥
चरनदास पर तन मन वारौं । गुरु न तजौं चाहे हरि तजि डारौं ॥

सब पर्वत स्याही करूँ, घोलौं समुन्दर जाय ।
सब धरती कागद करूँ, गुरु गुण लिखा न जाय ।।

गुरु की अस्तुति कहँ लगि कीजे । बदला कहा गुरु को दीजे ।।
गुरु का बदला दिया न जाई । मन में उपजत है सकुचाई ।।
इन नैनन जिन राम दिखाये । बन्धन कोटि कोटि मुक्ताये ।।
अभय दान दीनन को दीने । देखत आप सरीखे कीने ।।
गुरु की कृपा अपरम्पारै । गुन गावत मम रसना हारै ।।
शेष महेश मुख निश दिन गावें । गुरु अस्तुति का अन्त न पावें ।।
मौन गहूँ अस्तुति कहाँ लौं करऊँ । बार बार चरनन सिर धरऊँ ।।
चरनदास महिमा अधिकाई । सर्वस वारे सहजो बाई ।।

दानी और न दूसरा जग, गुरु मुक्ति दानी जानियाँ ।
अधम चाल छुड़ाय के, गुरु ज्ञान अगम लखाइयाँ ।।
हरि भक्ति दृढ़ा दे वही, अङ्क बीरा नाम हो ।
दुष्ट मित्र चिह्लायके, पहुँचा वहीं निज ठाम हो ।।
गुरु पुरुष नहीं आन, निश्चय कर जो मानहीं ।
ताहि मिले सहि दान, मिटें काल कलेश सब ।।

गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरु साक्षात् परंब्रह्म, तस्मै श्री गुरुवे नमः ।।

राम कृष्ण से को बड़ा, तिन्हूँ तो गुरू कीन ।
तीन लोक के वे धनी, गुरू आगे आधीन ।।

ध्यान मूलं गुरू मूर्ति, पूजा मूलं गुरू पादुका ।
मन्त्र मूलं गुरुर्वाक्यं, मोक्ष मूलं गुरू कृपा ।।

श्री सद्गुरुदेव ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं । साक्षात्

ब्रह्म-स्वरूप हैं। भगवान् ने भी अवतार धारण करके गुरू चरणों की सेवा की है। क्योंकि ध्यान का मूल गुरूमूर्ति, पूजा का मूल गुरू चरणों की पूजा व सेवा, मन्त्र का मूल गुरू वचनों में श्रद्धा और विश्वास करना तथा मोक्ष का मूल गुरू की कृपा है। बिना गुरू कृपा को प्राप्त किए जीव भव से पार नहीं हो सकता है।

कर्मवाद सत्य होने पर भी गुरू करना आवश्यक है

यह ईश्वरीय नियम है कि सभी आत्माओं को पूर्णता प्राप्त करनी होगी—सभी एक दिन पूर्ण अवस्था को प्राप्त होंगे। हम लोग बहुत काल से जिस भाव से जीवन व्यतीत करते आ रहे हैं अथवा जिस रूप में चिन्ता करते हैं, हम लोगों की वर्तमान अवस्था उसी के फलस्वरूप है और आज जिस प्रकार कार्य व चिन्तन करते हैं, उसी के अनुसार हमारा भविष्य-जीवन होगा। यद्यपि यह कर्मवाद बिल्कुल सत्य है तथापि उसका यह मतलब नहीं है, कि आत्मोन्नति करने में और किसी प्रकार की सहायता नहीं लेनी होगी। आत्मा में जो गुप्त शक्ति रहती है, वह सर्वदा दूसरी आत्मा के शक्ति-संचार करने से जाग्रत हो जाती है। यह बात इतनी सत्य है कि अधिकांश लोगों में (क्षेत्रों में) इसप्रकार की सहायता न होने से काम नहीं चल सकता। बाहर से शक्ति आकर हमारी अन्तरात्मा की शक्ति के ऊपर कार्य करती है। तभी आत्मोन्नति का सूत्रपात होता है, तभी मानव का धार्मिक जीवन आरम्भ होता है और तभी मानव परम शुद्ध और पूर्ण होता है।

ग्रन्थों द्वारा आध्यात्मिक शक्ति पाना असम्भव है !

हमने जिस बाह्य-शक्ति के विषय में ऊपर कहा है, वह ग्रन्थों से प्राप्त नहीं की जा सकती। एक आत्मा दूसरी आत्मा से ही शक्ति प्राप्त कर सकती है, अन्य प्रकार से नहीं। हमारा सारा जीवन विद्या उपार्जन में लग सकता है, हम खूब बुद्धिमान भी बन सकते हैं, किन्तु परिणाम देखने से मालूम होगा कि आध्यात्मिक उन्नति कुछ भी नहीं कर पाए। यह कहना कि बुद्धि के विकास के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति भी होती जायगी, भूल है। बल्कि हमने प्रायः देखा है कि बुद्धि की जितनी उन्नति हुई है; आत्मा की उतनी ही अवनति होती है। यह सत्य है कि बुद्धि की वृद्धि और विकास में ग्रन्थों से बहुत कुछ सहायता मिलती है। किन्तु आध्यात्मिक उन्नति करने में ग्रन्थ सहायता नहीं कर सकते। यह तो मानी हुई बात है कि ग्रन्थों का पाठ करते करते हमारे मन में यह धारणा होती जाती है कि आध्यात्मिक उन्नति भी इसी से हो रही है। किन्तु भली-भाँति विचार करके देखें तो मालूम हो जायगा कि इससे बुद्धि तो कुछ न कुछ बढ़ती है किन्तु आत्मोन्नति तो बिल्कुल नहीं होती। हम लोग धर्म-सम्बन्धी लम्बे-चौड़े सुन्दर सुन्दर व्याख्यान तो देते हैं पर स्वयं धर्म-आचरण करने में हम अपने को असमर्थ पाते हैं। इसका कारण यही है कि बाहर से जो शक्ति हम में प्रवेश करके धार्मिक जीवन बिताने में समर्थ करती है, वह शास्त्रों द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। आत्मा

को जाग्रत करने के लिए दूसरी आत्मा से शक्ति ग्रहण करना अति आवश्यक है।

सद्‌गुरु अपने आप पहचाना जाता है

गुरू को किस प्रकार पहचाना जाय ? प्रथम तो सूर्य को देखने के लिए मशाल या दीपक की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जिस प्रकार हम सूर्य के उदय होते ही स्वाभाविक ही यह जान जाते हैं कि सूर्य निकल आया उसी प्रकार जब हमारे कल्याणार्थ किसी लोक गुरू का उदय होता है, तब आत्मा स्वभावतः ही यह जान जाती है कि उसे सत्य वस्तु का साक्षात्कार हो गया है। सत्य तो स्वयं सिद्ध है—उसकी सत्यता सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। वह स्वतः प्रकाशित है। उसका प्रकाश हमारे प्रकृति देश के अन्दर तक प्रवेश किये हुए है और समस्त प्रकृति, समस्त जगत् उसके सम्मुख दौड़कर उसको सत्य कहकर उसकी सत्यता स्वीकार करता है।

गुरू लाभ और श्रद्धा

भक्तिपूर्वक गुरू के उपदेशों के अनुसरण से सत्य तत्त्व-लाभ होता है, ग्रन्थों के पढ़ने से नहीं ! जब तक शिष्य गुरू को प्राप्त नहीं करता, तब तक चाहे वह चारों दिशाओं में घूम आए अथवा हिमालय, आल्पस या कोह क़ाफ़, या सहराए गोब्री की मरु-भूमि में विचरण करे अथवा सागर के अतल तल में ही क्यों न प्रवेश करे, किन्तु किसी तरह भी उन्हें यह आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होगा। गुरू प्राप्त करने पर पुत्र पिता की जैसी सेवा

करता है, वैसे ही शिष्य गुरू की सेवा करे, उसके सम्मुख हृदय खोलकर रख दे, ईश्वर का अवतार समझकर उनका दर्शन करे। भगवान् ने कहा है कि 'आचार्य को मेरा ही स्वरूप समझो।' गुरू को हमें ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ पुरुष ही समझना चाहिए। ऐसी बुद्धि के साथ कार्य आरम्भ करने से गुरू के प्रति चित्त संलग्न होता है। इसके बाद गुरू का ध्यान जितना ही प्रगाढ़ होता जाता है, उतना ही गुरू का चित्र प्रत्यक्ष हो जाता है, अन्त में उनका आकार दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति होने पर गुरू में केवल ईश्वर ही वर्तमान रहता है। जो लोग इस तरह की श्रद्धा-भक्ति के साथ सत्यता की खोज में अग्रसर होते हैं, उनके निकट भगवान् अति अद्भुत तत्वों का प्रकाश करते हैं। ईसाइयों की बाईबिल में एक जगह लिखा है—"जूते निकाल डालो! कारण, कि जहाँ तुम खड़े हो, वह भूमि पवित्र है।" जिस जगह भगवान् का नाम लिया जाता है, वही जगह पवित्र है। अब विचार की यह बात है कि जो भगवान् का नाम जपते हैं, वह कहाँ तक पवित्र होंगे? जिनके द्वारा आध्यात्मिक और सत्य-लाभ होता है वह कितना महान् पवित्र है? उनके सम्मुख श्रद्धा-भक्ति के साथ ही अग्रसर होना चाहिए। इसीलिए भावपूर्वक गुरू से उपदेश ग्रहण करने की आवश्यकता है। इस जगत् में इस तरह के गुरू ही कम हैं; इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु जगत् सम्पूर्ण रूप से ऐसे गुरू से खाली भी नहीं रह सकता। जिस दिन जगत् ऐसे गुरू से रहित होगा, उसी दिन यह नर्क-कुण्ड में बदलकर सब तरह से नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। ऐसे गुरू मानव-जीवन रूपी वृक्ष के सुन्दर

पुष्प हैं। वह जगत् में हैं, इसी से जगत् का सब व्यवहार चलता है। इसी तरह के जीवन से जो शक्ति निकलती है उसी ने आज तक समाज के बन्धन को ढीला नहीं होने दिया है।

मनुष्य रूप के सिवाय अन्य किसी भी रूप में हम ईश्वर को नहीं देख सकते।

अवतारों में ईश्वर रूप जिस भाव से प्रकाशित रहता है, उसके सिवाय किसी मनुष्य ने आज तक ईश्वर का दूसरा रूप नहीं देखा। क्या हम लोगों ने ईश्वर को कहीं देखा है ? यदि हम उसको देखने की चेष्टा करते हैं, तो सफ़लता नहीं मिलती। देखना तो दूर रहा, हम लोग जब उसका चित्र बनाने लगते हैं, तो रूप को विकृत कर देते हैं। इसका यह कारण है कि हम जब तक मनुष्य हैं, तब तक ईश्वर को मनुष्य से उच्चतर रूप में नहीं देख सकते। अवश्य ही एक दिन वह समय भी आ जायगा, जब हम मानव प्रकृति को पार करके उसके सच्चे रूप को देखने में समर्थ होंगे। किन्तु जब तक हम मनुष्य हैं, तब तक हमको उनकी पूजा मनुष्य रूप में ही करनी होगी। चाहे आप जो कहें, चाहे आप जितनी चेष्टा करें, ईश्वर को मनुष्य के सिवाय दूसरे रूप में देख नहीं सकते। आप किसी सभा के रङ्गमञ्च पर खूब बड़े-बड़े व्याख्यान दे सकते हैं, दिग्गज युक्तिवादी हो सकते हैं। आप यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि ईश्वर के सम्बन्ध में जो पौराणिक कथायें हैं, यह सब बिल्कुल मिथ्या हैं। किन्तु भाई ! एक बार सरलता से विचारिये तो सही, आपकी यह अद्भुत बुद्धिमत्ता कैसी है ? यह केवल शून्य

है—इसमें कुछ सार पदार्थ नहीं। इस समय से जब आप देखेंगे कि कोई मनुष्य ईश्वर-पूजा के विरुद्ध यदि व्याख्यान फटकार रहा है तो उसको रोककर तुरन्त आप पूछेंगे, "तुम्हारी ईश्वर के प्रति कैसी धारणा है? 'सर्वशक्तिमत्ता' सर्वव्यापिता' और 'सर्वव्यापी प्रेम' आदि शब्दों के सिवाय ईश्वर के सम्बन्ध में आप क्या जानते हो?" मेरे विचार से इसे लोग कुछ भी नहीं समझते और वह यह भी नहीं जानते कि इन शब्दों का कुछ अर्थ होता है या नहीं।

जिस मनुष्य ने एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी, जो मूर्ख है; वह भी उन, ईश्वर के विरुद्ध व्याख्यान फटकारने वालों की अपेक्षा अच्छा है। क्योंकि जिस मनुष्य ने पुस्तक नहीं पढ़ी, वह संसार की शान्ति भंग नहीं करता, किन्तु दूसरी तरह के मनुष्यों के तर्क से लोग तंग हो उठते हैं। यथार्थ में नास्तिकों को किसी तरह के धर्म का ख़याल नहीं होता। फिर भी, दोनों तरह के मनुष्य एक ही स्थान में रहते हैं। वास्तव में प्रत्यक्ष अनुभव होने वाला ही धर्म है। वचन तथा प्रत्यक्षानुभूति के भीतर विशेष रूप से प्रवेश करने की आवश्यकता है। आप अपनी आत्मा से जो अनुभव प्राप्त करते हैं, वही प्रत्यक्षानुभूति है, जो केवल ज़बानी जमा ख़र्च करते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि "तुम्हारी सर्वशक्तिमत्ता के प्रति कैसी धारणा है? आपने क्या सर्वशक्तिमान ईश्वर को देखा है? सर्वव्यापी पुरुष के कहने से आप क्या समझते हो? मनुष्य की तो आत्मा के प्रति कोई धारणा नहीं—अपने सामने जिन आकृतिमान् वस्तुओं को वह देखता है, उन्हीं वस्तुओं द्वारा इसे आत्म-चिन्तन करना होगा;

इसको नीले आकाश, प्रकाण्ड विस्तृत मैदान, समुद्र या अन्य किसी वस्तु का चिन्तन करना होगा। यदि तुम ऐसे चिन्तन को अपने हृदय में स्थान न दोगे तो ईश्वर-चिन्तन किस तरह कर सकोगे ? तब तुम करते क्यों हो ? तुम सर्वव्यापकता की बात कह रहे हो, फिर भी समुद्र के विषय पर विचार करते हो। ईश्वर क्या समुद्र है ?'' अतएव संसार की यह सब वृथा तर्क-युक्ति दूर फेंक दीजिये। हम लोग सीधा-सादा ज्ञान चाहते हैं। यह सीधा-सादा ज्ञान संसार में बहुत दुर्लभ है। जगत में केवल लम्बे-लम्बे व्याख्यान ही सुनने में आते हैं। इससे निश्चय है हमारा वर्तमान गठन और स्वभाव जैसा है, उससे हम सीमा-बद्ध हैं और ईश्वर को मानव रूप में देखने को बाध्य हैं। भैंस यदि ईश्वर की उपासना करना चाहे तो वह ईश्वर को एक बड़े शरीर वाली भैंस के रूप में देखेगी। मछली यदि भगवान् की उपासना करने की इच्छा करे, तो उसको बड़े आकार वाली मछली के रूप में भगवान् की धारणा करनी होगी; इसी तरह मनुष्य को भी भगवान् का मनुष्य रूप में ही ध्यान करना होगा। यह सब कल्पना नहीं ! सत्य है। मैं और आप, भैंस और मछलियाँ, ये सभी ईश्वर के विभिन्न रूप हैं। मान लीजिये कि यह सब पात्र अपनी अपनी आकृति में जल से पूर्ण होने के लिए समुद्र में जा पहुँचे। मानव-रूपी पात्र में जल ने मानव का आकार, भैंस-रूपी पात्र में भैंस का आकार और मछली-रूपी पात्र में मछली का आकार ग्रहण किया। इन प्रत्येक पात्रों में जल के सिवाय और कुछ भी नहीं। ईश्वर के स्वरूप के बारे में भी ऐसा ही है। ऐसे मनुष्य ईश्वर का मनुष्य

रूप में दर्शन किया करते हैं और इसी तरह उनका दर्शन किया जा सकता है। आपको भी इसी मनुष्य रूप में ईश्वर की उपासना करनी होगी; क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं।

माधो मोह फाँस क्यों छूटे ?

माधो मोह फाँस क्यों छूटे ?
बाहर कोटिक उपाय करिये, अभ्यन्तर ग्रन्थि न छूटे ॥१॥
घृत पूर्ण कड़ाह अन्तर्गत, शशि प्रतिबिम्ब दिखावे।
ईंधन अनल लगाय कल्प सत्, औटत नाश न पावे ॥२॥
तरु कोटर में बसै भुजंग, तरु काटे मरे न जैसे।
साधन करिये विचार-हीन, मन शुद्ध होय नहीं तैसे ॥३॥
अन्तर मलिन विषय अति कामी, तन पावन करिये पखारे।
मरै न उर्ग अनेक जतन, बल्मीकि बहु विधि मारे ॥४॥
तुलसीदास हरि-गुरू करुणा बिनु, विमल विवेक न होई।
बिन विवेक संसार घोर निधि पार न पावे कोई ॥५॥

बाहर के करोड़ों उपाय करने पर भी अन्तर से संसार के मोह की ग्रन्थि नहीं छूट सकती। घी से भरे हुए कड़ाह के नीचे सौ कल्प तक अग्नि जलाने पर भी उसमें दिखाई देने वाली चन्द्रमा की परछाईं नहीं जलेगी। वृक्ष की खोह में रहने वाला सर्प, वृक्ष के काटने से नहीं मरेगा। ऐसे ही विचार-हीन साधनों से मन पवित्र नहीं हो सकता। अन्दर में विषयों की कामनायें भरी हैं, तन को गंगा यमुना में धोते रहें। भला बाम्बी को पीटने से उसमें रहने वाला साँप कैसे मर जाएगा ? सन्त तुलसीदास जी का कहना है कि बिना गुरू की कृपा के पवित्र अन्तरात्मा का ज्ञान नहीं होता और बिना आत्मज्ञान के कोई भी भवसागर से पार नहीं हो सकता।

है 'गु' कार तम नाम, 'रू' हरत करत प्रकाश ।
यही गुरू का अर्थ है, धर्म ग्रन्थ इतिहास ॥

इस दृश्य जगत में दो वस्तु हैं, नित्य आत्मा और अनित्य संसार। जो अनित्य की ओर से हटा कर नित्य की ओर ले जाता है, सत्य की भेंट कराता है, निर्मल ज्योति दिखाता है अर्थात् अज्ञान-रूपी अन्धकार को मिटाकर ज्ञान-रूपी सूर्य का प्रकाश करता है, उसका नाम गुरू है, इसमें दो अक्षर हैं । 'गु' नाम अन्धकार का है और 'रू' नाम प्रकाश का है । जिस प्रकार सूर्य निकलने पर अन्धकार सर्वथा नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सद्गुरु के दर्शन मात्र से अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है और ज्ञान-रूपी सूर्य चमकने लगता है । सायंकाल सूर्य के छिप जाने पर फिर से अन्धकार का राज्य हो जाता है पर सद्गुरु के ज्ञान का ऐसा हाल नहीं है कि फिर से अज्ञान हो जावे, क्योंकि आत्मा कभी भी नष्ट नहीं होती ।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूवकश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमानेशरीरे ॥
(कठो० १-२-१८)

नाम की दीक्षा प्रदान करके वैवस्वत ने नचिकेता की आत्मा को प्रत्यक्ष कर दिया और फिर उसको बताया कि यह चेतन आत्मा उत्पन्न नहीं होता और न कभी मरता है । यह स्वतः सिद्ध सत्ता है । इसकी उत्पत्ति और नाश दोनों नहीं हैं । यह स्वतन्त्र सत्ता है । यह न कहीं से अथवा किसी से हुआ—बना है और न ही इसका कोई कारण है । यह आत्मा अजन्मा, नित्य,

अविनाशी और अनादि है। शरीर के हनन होने पर भी इसका हनन नहीं होता।

नाम्नामकारि बहुधानिजसर्व्वशक्ति-
स्तत्रार्पितः नियमित स्मरणेन कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवान् समापि-
दुर्दैवमीदृशमिहाजनिनानुरागः ॥

हे भगवान्! आपके कितने नाम हैं? यह आप ही जानते हैं कि इनमें से प्रत्येक नाम में आपकी अनन्त शक्ति का वास है, इन सब नामों के उच्चारण का कोई समय निर्दिष्ट नहीं है। न देश-काल बाधक होता है। कारण सभी काल शुभ हैं और सब स्थान ही शुद्ध हैं। हे प्रभु! आप अत्यन्त ही सुलभ और दयामय हैं। मगर मेरा यह बड़ा ही दुर्भाग्य है कि आपके प्रति मेरा अनुराग उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि—

बिनु सत्संग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गए बिनु राम पद, होय न दृढ़ अनुराग ॥

सत्संग के बिना भगवान् की चर्चा सुनने को नहीं मिलती और भगवान् की रहस्यमयी कथाओं के सुने बिना मोह दूर नहीं होता और मोह का नाश हुए बिना भगवान् में अचल प्रेम नहीं होता। धीर-बुद्धि पुरुष ऐसा विचारकर सभी संशय तथा कुतर्कों को त्यागकर सर्व-काल में भगवान् का ही स्मरण-ध्यान करते हैं।

रामचन्द्र के भजन बिन, जो चाहे पद निर्वाण।
ज्ञानवन्त अपि सो नर, पशु बिन पूँछ विषाण ॥

सुख निधान और करुणा के सागर भगवान् भक्ति, प्रेम और भाव के वश में हैं। जब तक जीव ममता-मद और मान को त्यागकर निरन्तर भगवान् का भजन नहीं करता, उस समय तक जीव को स्वप्न में भी सुख-शान्ति नहीं मिलती। बाह्य-ज्ञान में निपुण होने पर भी बिना स्मरण-भजन किए मनुष्य बिना सींग तथा पूँछ का पशु ही है।

बारि मथे घृत होय बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल॥

जल के मथने से भले ही घी की प्राप्ति हो जावे, रेत के पेलने से चाहे तेल निकल आवे, मगर हरि के भजन बिना कोई भी भवसागर पार नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त अटल है।

केवल हरि का नाम ही मधुर से मधुर, पवित्र से पवित्र और मंगलमय है। यह समस्त संसार मायामय है, झूठा एवं स्वप्नवत् है। एक हरि का नाम ही सत्य है, जो सर्वदा हरि नाम-स्मरण करना सिखाता है वही वास्तव में गुरू है।

ज्ञान कहे अज्ञान बिनु, तम बिनु कहे प्रकाश।
निर्गुण कहे जो सगुण बिनु, सो गुरू तुलसीदास॥

अज्ञान का निरूपण न करके केवल ज्ञान का प्रवचन करे, अन्धकार को न कहकर प्रकाश का ज्ञान करावे, सगुण के बिना निर्गुण का ज्ञान करावे, वही मेरे गुरू हैं। ऐसा तुलसीदासजी कहते हैं। भाव यह है कि ज्ञान के बिना अज्ञान, प्रकाश के बिना अन्धकार दूर नहीं होता। सगुण अर्थात् सद्गुरु के बिना निर्गुण निराकार परमात्मा में चित्त नहीं लगता।

वाग्बैखरी शब्द झरी, शास्त्र व्याख्यान कौशलं ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद भुक्तये न तु मुक्तये॥६०॥ वि० चू०
'शब्द जालं महारण्यं चित्त भ्रमण कारणं' ॥६२॥ (वि० चू०)

शास्त्रों में अनेक प्रकार के शब्दों का जाल फैला हुआ है। जिस प्रकार जंगल में ठीक मार्ग का ज्ञान न होने से मनुष्य भटकता रहता है वैसे ही सद्गुरु के बिना मनुष्य शब्दों के जाल में फंसकर भक्ति-मार्ग से भटक जाता है।

सब शास्त्रों में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी, इन चार प्रकार की वाणियों या शब्दों पर विचार किया गया है। इनमें से सभी शास्त्रों ने एक मत होकर परा वाणी को ही महत्व दिया है। जिह्वा के अग्रभाग से बैखरी, कंठ से मध्यमा और हृदय से पश्यन्ती का उच्चारण होता है। इन तीन वाणियों का शुरू भी होता है और अन्त भी हो जाता है। मगर परा वाणी अखण्ड है। परा वाणी का आदि और अन्त नहीं है और न उच्चारण करने में ही आती है। बल्कि परा वाणी का तो केवल स्मरण ही होता है। परा शब्द के ध्यान मात्र से ही हम समस्त फलों की प्राप्ति कर सकते हैं। हम पूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। किन्तु परा वाणी का ज्ञान केवल सद्गुरु से ही मिलता है।

"आचार्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा"

गुरू को अलौकिक शक्ति-सम्पन्न और सद्शिष्य को भी वैसा ही होना परम आवश्यक है। यह परा शब्द या सत्य तथा पवित्र नाम ऐसे गुरू से प्राप्त करना चाहिए जिसने परम्परागत् किसी महापुरुष से पाया हो। अति प्राचीनकाल

से गुरू-दरबार ही शिष्यों में आध्यात्मिक अथवा भगवद्-भक्ति रूप शक्ति का प्रवाह बहाता आ रहा है। परम्परा के रूप में आने से ही यह 'नाम' शक्ति-सम्पन्न हो गया है। नाम को मन से बारम्बार जपने से अनन्त-शक्ति प्राप्त होती है। जिनसे यह परा शब्द या परा नाम मिले, उनको गुरू और जो पाता है, उसे शिष्य कहते हैं। यदि विधिपूर्वक नाम या मन्त्र ग्रहण कर के बारम्बार अभ्यास करता रहे तो भक्ति-योग में और कुछ भी करना बाकी नहीं रहता। केवल परा शब्द को मन के द्वारा उच्चारण करने पर ही भक्ति की सबसे ऊँची अवस्था प्राप्त हो जाती है।

जप, तप, संयम, साधना, सब सुमिरण के माहिं।
कहे कबीर जाने भक्त जन, सुमिरण सम कछु नाहिं॥

सद्गुरु (क्षेत्रज्ञ) किसान और शिष्य (क्षेत्र) खेत होता है। किसान खेत को सब प्रकार से सुन्दर बनाकर उसमें अच्छे से अच्छा बीज डालता है और बीज बोते समय यही आशा रखता है कि अच्छा अनाज पैदा हो। सद्गुरु रूपी किसान भी शिष्य के हृदय रूपी खेत में नाम रूपी बीज बोते समय यही भावना रखता है कि शिष्य का कल्याण होवे। इसे परम शान्ति, परम गति प्राप्त होवे। शिक्षा देते समय गुरू की कदापि यह भावना नहीं होती कि उसे ज्ञान न हो, या इसका कल्याण नहीं होवे। परन्तु खेत में डाला हुआ बीज तभी अंकुर लाता है जबकि वह स्वयं गलकर नष्ट हो जाता है।

मिटा दे अपनी हस्ती को, गर कुछ मर्तबा चाहे।
कि दाना ख़ाक में मिलकर, गुले गुलज़ार होता है॥

"तू को इतना मिटा कि तू न रहे, तुझ में दुई की बू न रहे'
शिष्य जब तक क्षुद्र अहँ-भाव को नहीं मिटाता, तब तक उस में नाम रूपी बीज अंकुरित नहीं होता। अपने आपको न्यौछावर करने पर ही नाम के प्रेम का अनुभव होता है। यह वाणी का विषय नहीं है। यह तो केवल अनुभव-गम्य और प्रेम का मार्ग है।

जब मैं था, तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नांय।
प्रेम गली अति सांकरी, ता में दो न समांय॥
तिमिर गयो रवि देखि के, कुमति गई गुरू ज्ञान।
सुमति गई पर लोभ ते, भक्ति गई अभिमान॥

प्रेम-भक्ति का मार्ग बहुत ही झीना और सूक्ष्म है। इसमें मैं और तू दो नहीं समा सकते। सूर्य के प्रकाश से अन्धकार का, गुरू ज्ञान से अज्ञान का, लोभ से सद्बुद्धि का और अभिमान से भक्ति का नाश हो जाता है। जिस प्रकार स्वच्छ कपड़े पर रंग सुन्दर खिलता है वैसे ही जो छल-कपट से रहित है, निरभिमानी सुपात्र सद्शिष्य के हृदय में तुरन्त ही ज्ञान हो जाता है। गुरू नियार (रंगरेज़) होते हैं। जो शिष्य के हृदय को प्रेम-भक्ति के रंग से रंग देते हैं। स्वच्छ हृदय में ही भक्ति का रंग खिलता है। गुरू से विमुख रहने वाले शिष्य में कभी भक्ति का रंग नहीं चढ़ता।

"मन मिले का मेला, चित्त मिले का चेला"
सेवक स्वामी एक मति, मति में मति मिल जाय।
चतुराई रीझे नहीं, रीझे मन के भाव॥

गुरू चतुराई से नहीं रीझते, मन के भाव से ही स्वामी

प्रसन्न होते हैं; मैला कपड़ा धोबी के घर जाकर साफ़ हो जाता है। अशुद्ध विचारों वाला शिष्य भी गुरू की शरण लेकर परम पवित्र हो जाता है और भक्ति के रंग में रंग जाता है।

गुरू धोबी शिष्य कापड़ा, साबुन सृजनहार।
सुरत शिला पै धोइए, निकसे ज्योति अपार॥

गुरू रूपी धोबी, शिष्य रूपी कपड़े को, सुरति रूपी शिला पर परमात्मा के नाम रूपी साबुन और प्रेम रूपी पानी से धोकर निर्मल कर देते हैं।

आँखें हों तो देख कलब के पर्दे में अल्लाह।
भवसागर पार उतारन को, सद्गुरु हैं मल्लाह॥

मल्लाह मुसाफ़िरों को अपनी नौका पर बैठाकर पतवार से पानी काटकर इस पार से उस पार कर देता है। गुरू रूपी मल्लाह भी शिष्य को नाम रूपी नौका में बैठाकर संसार रूपी नदी पर से, शब्द रूपी पतवार से अज्ञान रूपी जल को काटते हुए ज्ञान रूपी उस पार कर देते हैं।

हीरा परखे जौहरी, शब्दी परखे साध।
कबीर परखे साध को, ताका मता अगाध॥

हीरे की परख जौहरी ही जानता है। शब्द की परख साधु ही करते हैं। मगर जो साधु की भी परख करना जानता है, उसकी बुद्धि अगाध होती है। सद्गुरु नाम (शब्द) के पारखी या जौहरी होते हैं। जैसे जौहरी के संग रहने से जवाहरातों की परख हो जाती है वैसे ही जब कुछ काल शिष्य गुरू की संगत करता है तो नाम रूपी हीरे की परख हो जाती है। जो गुरू के शब्द में सुरति को जोड़ देता है, वह संसार-

बन्धनों से तत्काल ही मुक्त हो जाता है। मगर गुरू के इशारे या युक्ति को कोई ही शिष्य समझता है।

एक प्रेमी शिष्य सद्गुरु के दर्शनार्थ पुष्पों की माला और प्रसाद आदि लेकर घर से चला। रास्ते में एक पनवाड़ी की दुकान पर एक तोते का पिंजरा रक्खा था। प्रेमी शिष्य ने पूछा, भाई तोते! दुकानदार कहाँ है? तोते ने उत्तर दिया, घर पर है। प्रेमी शिष्य जब चलने को हुआ तो तोते ने पूछा, आप कहाँ जा रहे हो? प्रेमी ने कहा, मैं अपने गुरुमहाराज जी के दर्शनों को जा रहा हूँ। तोते ने पूछा, गुरू क्या करते हैं? प्रेमी ने उत्तर दिया, गुरुमहाराज बन्दी छोड़ होते हैं, आवागमन रूपी महा बन्धन से छुड़ा देते हैं। तोते ने कहा, तो मेरे भी बन्धन से छूटने का उपाय पूछना; मैं बन्धन से छूट जाऊँगा, तभी मैं गुरू को बन्दी छोड़ जानूँगा।

प्रेमी बहुत अच्छा कहकर वहाँ से चल दिया। वह शिष्य श्री गुरुमहाराज जी के पास पहुँचा, साष्टाँग दण्डवत् प्रणाम किया। पुष्पहार पहनाकर और आज्ञा पाकर बैठ गया। गुरुमहाराज जी ने कुशल मंगल पूछकर प्रसाद दिया। प्रेमी ने तोते का प्रश्न भी गुरुमहाराज जी की सेवा में निवेदन कर दिया, उसे सुनते ही गुरुमहाराज जी तत्काल लेट गये, मानो मृतक के समान बन गए। प्रेमी शिष्य घबड़ा गया और रोते-रोते कहने लगा, हाय! न जाने गुरू जी को क्या हो गया है? कई घण्टे के बाद गुरू जी होश में आए। परन्तु शिष्य ने फिर कभी गुरू जी से तोते के विषय में कुछ भी नहीं पूछा।

कुछ दिन सेवा, सत्संग करके गुरुमहाराज जी से आज्ञा

लेकर वह शिष्य अपने घर को चल दिया। मार्ग में उसी दुकान पर तोते से भेंट हुई, दैवयोग से उस समय भी पनवाड़ी कहीं गया हुआ था। तोते ने उस प्रेमी से पूछा, क्या मेरे प्रश्न का उत्तर लाए ? प्रेमी ने कहा, भाई तोते ! न जाने तुम्हारी बात में क्या जादू था जिसे सुनते ही गुरू जी तो मर ही गए थे। कितना ही समय बीत जाने पर गुरू जी को होश आया। फिर मैंने तुम्हारी बात को नहीं पूछा।

प्रेमी तो अपने घर को चला गया। मगर तोते ने गुरु महाराज जी के इशारे को समझ लिया। तोते ने जब पनवाड़ी को दूर से आते देखा, तो मृतक सा बनकर पिंजरे में गिर गया। तोते वाले ने तोते को मरा हुआ जानकर पिंजरे से बाहर निकाला और हाथ पर रखकर उलट-पलट कर देखने लगा। तोते ने मौका जानकर पर खोले और उड़ गया। इसीप्रकार जो गुरू की रमज़ को समझ जाता है, गुरुमहाराज अपनी युक्ति के द्वारा जीव-रूपी तोते को अज्ञान-रूपी पिंजरे से उड़ा देते हैं।

तीन लोक नौ खण्ड में सद्गुरु फैंकी डोर।
ता पर "हंसा" ना चढ़े, सद्गुरु का क्या दोष।।

तीन लोक, चौदह भुवन और नौ खण्ड में सद्गुरु ने नाम रूपी डोरी फैंकी हुई है, यदि उस पर 'हंसा' नहीं चढ़ता, तो इसमें सद्गुरु का क्या दोष है ?

राका पति षोड़स उगें, तारा गण समुदाय।
सकल गिरिन दवलाइए, रवि बिन रात न जाय।।

सोलह कला पूर्ण चन्द्रमा, असंख्य तारागण, बिजली तथा अनेक गैस बत्तियों के होते हुए भी जिस प्रकार सूर्य के बिना रात्रि के अन्धकार का नाश नहीं होता। वैसे ही अनेक यत्न करने पर भी सद्गुरु के बिना अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट नहीं होता। मगर ग्रन्थ पाठ करते-करते कई लोगों के मन में यह धारणा बैठ जाती है कि आध्यात्मिक उन्नति भी इसी से हो रही है। वे समझने लगते हैं कि पाठ करने से ही हमें आत्मज्ञान हो गया है। तर्क-वितर्क (वाद-विवाद) करने लगते हैं और समझने लगते हैं कि हमारे जैसा कौन आत्मज्ञानी है। किन्तु यदि भली-भांति विचार करके देखें तो मालूम हो जायगा कि पाठ करने से बुद्धि तो कुछ-कुछ बढ़ती है; किन्तु आत्मोन्नति बिल्कुल नहीं होती। बल्कि हमने प्रायः यही देखा है कि बुद्धि की जितनी उन्नति हुई है, आत्मा की उतनी ही अवनति हुई है।

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः॥
(कठो० अ० १–२–५)

अविद्या में ग्रस्त रहने वाले अपने को धीर तथा पण्डित मानने वाले मूढ़ जन, जैसे अन्धे को अन्धा ले जाये, इसीप्रकार भटकते और चक्कर लगाते फिरते हैं।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः।
आश्चर्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

वह--आत्मा है जिसके विषय में सुनना भी बहुत मनुष्यों को नहीं मिलता। बहुत लोग सुनते हुए भी जिसको नहीं जानते। ऐसे आत्मा का वर्णन करने वाला कोई आश्चर्य रूप ही है।

इसको प्राप्त करने वाला कुशल पुरुष है। कुशल-ज्ञानी गुरू द्वारा सुशिक्षित इसका ज्ञाता भी आश्चर्यरूप है। (कठो० अ० १-२-७)

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ।।

आत्मज्ञानी गुरू के अतिरिक्त और किसी अन्य पुरुष के बताने पर आत्मा को नहीं जान सकते। बार-बार चिन्तन करने पर भी आत्मा में स्थिरता नहीं होती। किन्तु ज्ञानी पुरुष के बताने पर आत्मा में स्थिरता, दृढ़ता तथा धारणा हो जाती है। आत्म-विषय बहुत सूक्ष्म है और अणु-परमाणु से भी सूक्ष्म तथा अतर्क्य है। (कठो० अ० १-२-८)

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ।।
(कठो० अ० १-२-९)

आत्मा अनुभव से ही जाना जाता है। वह अनुभव सद्गुरु के उपदेश से होता है। इस कारण इस सच्चे निश्चय को कोरे तर्क से दूर नहीं करना चाहिए। आत्मानुभव सद्गुरु की कृपा से ही सुगमता पूर्वक हो जाता है। सद्गुरु वही हैं जो अनन्य हों, आत्म ज्ञाता हों, क्योंकि जानकर ही जना सकता है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ।।
(गी० १३-७)

भगवान् कहते हैं— हे अर्जुन ! श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव, दम्भाचरण का अभाव, प्राणीमात्र को किसी प्रकार भी

न सताना और क्षमा-भाव तथा मन वाणी की सरलता, श्रद्धा-भक्ति सहित तन, मन, धन से गुरू की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, अन्तःकरण की स्थिरता, मन और इन्द्रियों सहित शरीर का निग्रह करने वाले महापुरुष की शरण में जाने से आत्मा में स्थिति होती है।

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्योमोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८-६६)

इसलिए, हे अर्जुन ! सर्व-धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय को त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन स्वरूप वासुदेव परमात्मा की शरण को प्राप्त हो, मैं तेरे को सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा। तू शोक मत कर। लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्ति को त्यागकर एवं शरीर और संसार के अहंता, ममता से रहित होकर, केवल एक ज्ञान दाता सद्गुरु को ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्य-भाव से अतिशय श्रद्धा-भक्ति से प्रेम-पूर्वक सद्गुरु के उपदेशानुकूल, नाम-गुण-प्रभाव और प्रकाश-स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करते रहना और भगवान् का भजन-स्मरण करते हुए गुरू की आज्ञानुसार कर्त्तव्य-कर्मों का निःस्वार्थ-भाव से केवल गुरू के लिए राजा जनक जैसा आचरण करना ही सद्गुरु की अनन्य शरण होना है। जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्र को लाल रंग में रंगने से लाल ही हो जाता है वैसे ही सब ओर से मन हटा कर सद्गुरु की शरण हो जाने से सद्गुरु बन जाता है।

ज़ो लोग गुरू धारण करना एक प्रकार का खेल या कौतूहल समझते हैं वे लोग गुरू-मन्त्र को नहीं जान सकते। उनको यह भी नहीं मालूम कि गुरू क्या बताते हैं? अनेक लोग उदारता के नाम पर अपने धर्म में लगातार भाव-परिवर्तन करते चले जाते हैं, इससे वह अपना व्यर्थ कौतूहल निवृत्त करने के सिवाय और कोई लाभ नहीं उठाते। उनको थोड़ी देर भयानक या रोचक सत्संग सुनाया जावे तो वे गद्गद् हो जाते हैं। नित्य नई बातें सुनने का उन्हें एक प्रकार का रोग सा हो जाता है। नशे जैसी आदत पड़ जाती है। नई बातें सुनने से इनमें थोड़ी देर के लिये उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है। पर उसके दूर होने पर वे फिर और बातें सुनने को उत्सुक हो जाते हैं। उनके लिये धर्म अफीयूम के समान हो जाता है और यहीं तक इनकी पहुँच होती है। समुद्र में एक प्रकार की सीप होती है जो सदा खुले मुँह समुद्र में तैरा करती है। स्वाति नक्षत्र के जल की एक बूंद उसके मुँह में पड़ते ही वह मुँह बन्द करके तत्काल नीचे चली जाती है और फिर ऊपर नहीं आती। जब उसको कोई समुद्र की तह से निकालता है तब उस सीप में से मोती निकल आते हैं। ठीक इसी प्रकार तत्त्व-पिपासु आत्मविश्वासी साधक भी इस संसार रूपी समुद्र में मुख खोले रहता है। अर्थात् गुरू-मन्त्र-रूपी स्वाति बूंद का इच्छुक रहता है और गुरू-मन्त्र एवं नाम रूपी स्वाति-जल की एक बूंद पाकर तत्काल साधन के अगाध जल में डूब जाता है और फिर किसी ओर नहीं देखता। उसका एक-एक शब्द बहुमूल्य मोती रूप में हो जाता है। जैसे वट वृक्ष का छोटा सा

बीज बोने से बड़ा भारी वट वृक्ष उत्पन्न होता है, उसमें असंख्य पत्ते, टहनी, फलादि उत्पन्न होते हैं किन्तु ज़मीन में कल्लर हो तो बीज उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार शिष्य रूपी ज़मीन में कपट या संशय रूपी कल्लर हो तो ज्ञान-रूपी बीज उत्पन्न नहीं होता। शारीरिक रोगी पुरुष चतुर वैद्य से अपना हाल खोलकर बताता है। औषधि लेकर दृढ़ भरोसा करता है। नियमानुकूल औषधि सेवन करने से रोग का अभाव हो जाता है। इसी प्रकार जन्म-मरण-रूपी महा दीर्घ रोग से ग्रसित तत्त्वपिपासु, आत्म-जिज्ञासु भी गुरू रूप वैद्य के पास जाकर सदुपदेश रूपी औषधि नियमानुकूल अभ्यास-पूर्वक सेवन करता है तो उसका जन्म-मरण-रूपी महा दीर्घ रोग नष्ट हो जाता है। पर उस रोगी को कोई लाभ नहीं होता जो कि दवा को नियमानुसार सेवन नहीं करता। ऐसे ही उस शिष्य को भी कोई लाभ नहीं होता, जो गुरू के वचन का पालन नहीं करता। "बहुत कहने से थोड़ा करना अच्छा है" *(One ounce of Practice is worth Twenty thousand tons of big Talk)* मिश्री कहने से मुँह मीठा, नीम कहने से मुँह कड़वा नहीं होता। यदि कहने से कुछ हो जाता, या मिल जाता तो आज संसार में कोई भी निर्धन नहीं होता। क्योंकि हाय धन! हाय धन!! रात-दिन सभी कहते हैं। धन पाने के लिये अनेक प्रकार के पाठ-पूजन-कीर्तन किए जाते हैं। मगर फिर भी धन नहीं मिलता। जिस प्रकार धन कहने से धनवान् नहीं होता, उसी प्रकार कहने से कुछ भी नहीं होता।

कथनी मीठी खांड सी, करनी विष की लोय।
कथनी छोड़ करनी करे, विष से अमृत होय॥
कहते हैं करते नहीं, मुँह के बड़े लबार।
तिनके मुँह काले होयेंगे, साँई के दरबार॥

※ महापुरुषों के लक्षण ※

लोभ मोह मद मत्सर आदी। रहित सदा परमार्थ वादी॥
राग द्वेष दु:ख द्वन्द निवारी। रहें अखण्ड सत्य व्रत धारी॥
भद्र वेष मुद्रा अति सुन्दर। गति अपार मति धर्म धुरन्धर॥
कर कृपा भक्तन पर प्रीति। यथा शास्त्र सिखवें शुभ नीति॥
जिनके स्वपनेहु क्रोध उर, कबहु न होत प्रवेश।
मधुर वचन कह प्रीति युत, देत सबहिं उपदेश॥
करे प्रबोध बोध प्रद जन के। नाशे अशेष क्लेश जीवन के॥
कृत्याकृत्य विकृत्य कर्म को। न्याय अन्याय अधर्म धर्म को॥
विविध भाँति निश्चय करवाई। भिन्न-भिन्न सब भेद लखाई॥
सत् मिथ्या वस्तु परखावे। सुगति कुगति मारग दर्शावे॥
तेहि की शरणागति लीजै। तन मन धन सब अर्पण कीजै॥
असन वसन वाहन अरु भूषण। सुत दारा निज परिचारक गण॥
करि भेंट अब गुरु के आगे। भक्ति-भाव उर में अनुरागे॥
तन यात्रा निर्वाह के कारण। मांगे देये सो कीजे धारण॥
लै भिक्षुक सम दीन-भाव मन। करे प्रणाम दण्डवत् चरणन॥
महा-यज्ञ को फल वह पावे। सुकृत बन्दि गुरू शीश नवावे॥
यहि विधि गुरू के शरणहोय, करे निरन्तर सेव।
गुरू सम जाने और नहिं, त्रिभुवन में कोई देव॥
जिन गुरू को मानुष करि जाने। तिन सम को निरभाग्य अयाने॥

बुद्धि रहित नर पशु समाना । है प्रत्यक्ष बिनु पूँछ विषाना ॥
विश्व विशेष विदित प्रभुताई । गोविन्द से गुरू की है भाई ॥
गोविन्द की माया वश प्रानी । भुगते दुःख चौरासी खानी ॥
गुरू प्रताप भवमूल विनाशे । विमल बुद्धि होय ज्ञान प्रकाशे ॥
सुख अखण्ड नर भोगे जाई । सत्य लोक में बासा पाई ॥
गुरू से श्रेष्ठ और जग माहीं । हरि विरञ्चि शंकर कोऊ नाहीं ॥
सुहृद बन्धु सुत पितु महतारी । गुरू सम को दूजा हितकारी ॥

जाके रक्षक गुरू धनी, सके काह करि और ।
हरि रूठे गुरू शरण है, गुरू रूठे नहीं ठौर ॥

योग यज्ञ जप तप व्यवहारा । नेम धर्म संयम आचारा ॥
वेद पुराण कहें गोहराई । गुरु बिन सब निष्फल है भाई ॥
गुरु बिन हृदय शुद्ध नहीं होई । कोटि उपाय करे जो कोई ॥
गुरु बिन ज्ञान विचार न आवे । गुरु बिन कोई न मुक्ति पावे ॥
गुरु बिन भूत प्रेत तन धारी । भ्रमे सहस्र वर्ष नर नारि ॥
गुरु बिन यम के हाथ बिकाई । पाय दुःसह दुःख मन पछिताई ॥
गुरु बिन संशय कौन निवारे । हृदय विवेक कौन विधि धारे ॥
गुरु बिन नहीं अज्ञान विनाशे । नहीं निज आतम रूप प्रकाशे ॥
गुरु बिन ब्रह्म ज्ञान जो गावें । सो नहीं मुक्ति पदार्थ पावें ॥
तेहि कारण निश्चय गुरु कीजे । सुर दुर्लभ तन खोय न दीजे ॥

वेद शास्त्र और भागवत्, गीता पढ़े जो कोय ।
तीन काल सन्तुष्ट मन, गुरु बिन कृपा न होय ॥

अखिल विबुध जग में अधिकारी । व्यास वशिष्ठ महान आचारी ।
गौतम कपिल कणाद पतञ्जलि । जैमिनि बाल्मीकि चरणन बलि ॥
ये सब गुरु के शरणै आए । तासे जग में श्रेष्ठ कहाए ॥

याज्ञवल्क्य अरु जनक विदेही । दत्तात्रय गुरु परम सनेही ॥
चौबीस गुरु कीन्हे जग माहीं । अहंकार उर राख्यो नाहीं ॥
अम्बरीष प्रहलाद अरु विभीषन । इत्यादि जो भये भक्त जन ॥
औरहु यती तपी बनवासी । ये सब गुरु के परम उपासी ॥
हरि विरञ्चि शिव दीक्षा लीना । नारद धीमर को गुरु कीना ॥
सन्त महन्त साधु हैं जेते । गुरू पद पंकज सेवहिं तेते ॥
शेष सहस्र मुख बहु गुण गावें । गुरू महिमा को पार न पावें ॥
तप विद्या को करि अभिमाना । पाय लक्ष्मी सम्पत्ति नाना ॥
जो नहीं गुरू को मस्तक नावें । सो नर अजगर को तन पावें ॥
निज मुख जो गुरू निन्दा करहीं । कल्प सहस्र नर्क में परहीं ॥
गुरू की निन्दा सुने जो कोई । रासभ श्वान जन्म तेहि होई ॥
गुरू से अहंकार उर धारी । करे विवाद मूढ़ अविचारी ॥
ते नर मरु निरजल बन जाई । तृषित मरें अतुर तन पाई ॥
जो गुरू को तजि औरहि ध्यावें । होय दरिद्री अति दुःख पावें ॥
बिन दर्शन नहिं गुरू के रहिये । यह दृढ़ नियम-हृदय में गहिये ॥
गुरू दर्शन बिन करे अहारा । होय व्याधि तन विविध प्रकारा ॥
यथा शक्ति जन चूके नाहीं । होय अशक्त दोष नहिं ताही ॥
गुरू सम्मुख नहिं बैठे जाई । खाली हाथ हिलावत आई ॥
जो कुछ और नहिं बनि आवे । पत्र पुष्प फल भेंट चढ़ावे ॥

नम्र-भाव अति प्रीतियुत, चरण कमल शिर नाय ।
जो सद्गुरु आज्ञा करें, लीजे शीश चढ़ाय ॥

अति अधीन होय बोले वाणी । रंक समान जोरि युग पाणी ॥
कबहुँ न बैठे पाँव पसारी । जंघा पद धरि आसन मारी ॥
सम्मुख होय के गमन न कीजे । गुरू छाया पर पाँव न दीजे ॥

गुप्त बात किञ्चित नहिं राखे । करि छल-कपट न मिथ्या भाषे ॥
वेद मंत्र सम कहना माने । गुरू को परमातम सम जाने ॥
सत्यासत्य विचार न कीजे । गुरू को कथन मानि सब लीजे ॥
जो कुछ श्रेष्ठ पदार्थ पावे । सो गुरु चरणन आनि चढ़ावे ॥
गुरू की अद्भुत है प्रभुताई । मिले सहस्र गुना होय आई ॥
किये यथा विधि गुरू की पूजा । शेष रहे कर्त्तव्य न दूजा ॥
प्रबल पाप नाशें सब तन के । होय मनोरथ पूरण मन के ॥
जो गुरू को भोजन करवावें । मानो त्रिलोकी न्योत जिमावें ॥

गुरू की महिमा है अमित, कहि न सके श्रुति शेष ।
जिनकी कृपा कटाक्ष से, रंकहु होत नरेश ॥

अस प्रभाव है दूसर केहिमा । जस कुछ है सद्गुरु की महिमा ॥
सर्व-सिद्धि-प्रद अति बरदायक । दुःख संकट में परम सहायक ॥
नित उठ स्मरण करे जो कोई । सकल पाप क्षय ताके होई ॥
चित्त चिन्ता संताप विनाशे । सुख सम्पत्ति ऐश्वर्य प्रकाशे ॥
महा व्याधि ज्वर आदि निवारी । देय अकाल मृत्यु भय टारी ॥
लहें सकल सुख जग करे । कबहूँ दरिद्र न आवे नेरे ॥
होय अलभ्य लाभ मारग में । पावे मान प्रतिष्ठा जग में ॥
परम मंत्र यह अखिल फल प्रद । हरणसकल भव जन्म मरणपद ॥
श्रद्धावान् भक्त लखि लीजे । ताको यह गुरू महिमा दीजे ॥
परम रहस्य गूढ़ येहि जानी । कहे न सबहि प्रसिद्ध बखानी ॥

धन्य मातु पितु धन्य हैं, धन्य सुहृद अनुरक्त ।
धन्य ग्राम वह जानिये, जहं जन्मे गुरू भक्त ॥

वही माता पिता धन्य हैं, वही परिवार धन्य है, वही देश एवं ग्राम धन्य है, जहाँ पर गुरू भक्त का अवतार होता है ।

॥ विश्व रचना ॥

कपिल सांख्य के अनुसार संसार में दो मूल तत्त्व प्रकृति और पुरुष हैं। जब इन दोनों का संयोग होता है, तभी प्रकृति पुरुष के सामने अपना जाल फैलाती है। प्रकृति के इस व्यापार को ही विश्व रचना कहते हैं। सांख्य मत के अनुसार प्रकृति के द्वारा अनेक जीवों के लाभ के लिए ही विश्व की रचना हुई है। नाना सम्प्रदायों के अनेकानेक अभिमानी लोग अपने छोटे-छोटे ग्रन्थों का अभिमान करते हैं। मगर कपिल का सिद्धान्त है कि सारा विश्व ही एक महाग्रन्थ है। इसे पढ़कर सत्य परमात्मा को जानना चाहिए।

प्रकृति अपना खेल या विश्व का कार्य चलाने में स्वतन्त्र नहीं है। इसे यह सब कार्य ईश्वर की इच्छा अनुसार करना पड़ता है। प्रकृति का संसार आरम्भ होने के लिए पुरुष (परमात्मा) ही निमित्त कारण है। जैसे बीज, मिट्टी और जल को पाकर वृक्ष रूप प्रकट हो जाता है वैसे प्रकृति और पुरुष का संयोग होते ही तीन गुणों का विस्तार होने लगता है। जैसे बसन्त ऋतु में वृक्षों में नए-नए पत्ते निकलने लगते हैं और क्रमशः फूल, फल आने लगते हैं वैसे ही गुणों का विस्तार होने पर अनेक रूपों में संसार विभक्त हो जाता है।

प्रकृति और पुरुष से भी परे एक सर्वव्यापक, अव्यक्त और अमृत तत्त्व है। जो कुछ यह मूर्तिमान है, इसका नाश होता है, यह बदलता है। किन्तु जो सगुण प्रकृति का नाश होने पर भी शेष रहता है, वही सारी सृष्टि का सत्य और नित्य

तत्त्व है। उस सर्वशक्तिमान को ही परमात्मा कहते हैं जो कि तीनों लोकों में व्याप्त होकर सबकी रक्षा करता है। वह क्षर, अक्षर अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त दोनों से परे होने से पुरुषोत्तम भी कहलाता है। वही विश्व का आदि अन्त तथा मध्य है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

सृष्टि के पूर्व सब सूर्यादि तेज वाले लोकों का उत्पत्ति स्थान, आधार और जो कुछ उत्पन्न हुआ था, है और होगा, उसका स्वामी था, है और होगा। वही पृथ्वी से लेकर सूर्य लोक पर्यन्त सृष्टि बनाकर धारण कर रहा है। उस सुख-स्वरूप परमात्मा को—भक्ति द्वारा जान। (यजु० अ० १३ मं० ४)

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथ्वीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥
(ऋ० मं० १०—सू० १६० मं० ३)

परमेश्वर जैसे पूर्वकल्पों में सूर्य, चन्द्र, विद्युत, पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि को बनाता है वैसे ही (उसने) अब बनाये हैं और आगे भी बनायेगा। परमेश्वर के सभी काम बिना भूल-चूक के सदा एक से ही हुआ करते हैं। क्योंकि इस दृश्यमान जगत् के पूर्व में जो था, जिसकी सत्ता से यह सारा जगत् दृश्यमान हो रहा है और जो इस दृश्यमान जगत् के अन्त में रहने वाला ईश्वर है, उसी को श्रुति, स्मृति आदि ग्रन्थों में परब्रह्म कहा हुआ है। वह परब्रह्म कैसा है? गुणातीत और सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है।

सत् है भी, चित् चेतन है, आनन्द उसका अपना स्वरूप है। दृष्टान्त के लिए चेतन सूर्य है भी सत् और उसमें जो ऊष्णता है वही चित् है तथा उसमें जो प्रकाश है उसका अपना स्वरूप है। जब तक इस दृश्य-जगत में सूर्य रहेगा, तब तक उसमें से ऊष्णता और प्रकाश नष्ट नहीं हो सकता। या जैसे दीपक सत् है और ऊष्णता चित् है—जलाने की जो उसमें शक्ति है, वही चित् है और प्रकाश जो उसका अपना निज स्वरूप है, वही आनन्द है। इसीप्रकार ईश्वर तीनों कालों में एक रस रहने वाला, सर्वव्यापक है और नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप है। उसी विभू की दो सनातन विभूतियाँ हैं—जीव और मूल प्रकृति। सत्-रज-तम सहित चेतन जीव को मूल प्रकृति के संयोग से सूक्ष्म अहं बुद्धि हुई जिसे महतत्त्व भी कहते हैं। महतत्त्व से अहंकार हुआ, फिर अहंकार से स्थूल पंच महाभूत हुए।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः
आकाशाद्वायुः। वायोरग्नि। अग्नेरापः॥
(तै० उ० ब्र०-अ० १)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी क्रम-क्रम से हुए। महतत्त्व अहंकारादि जड़ हैं; क्योंकि चेतन बिना रचना नहीं होती है।

तथापि वेदान्त सूत्रों (२-३-१-१५) में अन्तिम निर्णय यह किया गया है कि आतम रूपी मूल ब्रह्म से ही आकाशादि पंच महाभूत क्रमशः उत्पन्न हुए हैं (तै० उ० २-१)। प्रकृति महत् आदि तत्त्वों का भी उल्लेख कठो० (३-११) मैत्रायणी (६-१०) श्वेताश्वतर (४-१०, ६-१६) आदि में स्पष्ट रीति से किया गया है।

यथोर्णनाभिः सृजते गृहते च पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सत् पुरुषात्केशेलोमानि, तथाऽक्षरात् सम्भवतीहविश्वम् ।
(मु० उ० १–७)

मकड़ी में जाला बनाने की सामग्री सूक्ष्म रूप में होती है, उसी से वह जाला रचती है और फिर उसे निगल भी लेती है। इसीप्रकार परम पुरुष में प्रकृति कल्पना से ही रहती है और उसी में भगवान् सृष्टि का सृजन तथा संहार करते हैं। जैसे भूमि से वनस्पतियाँ अंकुरित हो जाती हैं, ऐसे ही भगवान् की विद्यमानता में लोक-लोकान्तरों का विकास हो जाता है। जैसे जीवित मनुष्य की देह में केश तथा लोम निकलते हैं; वैसे ही अविनाशी प्रभु से इस ब्रह्माण्ड का उदय होता है। हरि की इच्छा-शक्ति प्रकृति में प्रवेश करके उसमें क्रिया उत्पन्न करती है। उसी आदि संकल्प से सञ्चालित प्रकृति नाना रूपों, रंगो और आकारों को जन्म दे रही है।

आकाशादि पंच-महाभूतों के सतोगुण अंश से पंच-ज्ञानेन्द्रियाँ, कान, त्वचा, आँख, रसना, नासिका हुई जिनके द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ज्ञान होता है; जिनको पंच तन्मात्रा भी कहते हैं। आकाशादि के मिले हुए सतोगुण अंश से चतुष्ठः अन्तःकरण हुए। जो कि वृत्ति-भेद से चार प्रकार के हैं। संकल्प-विकल्प करने वाला मन, निश्चय करने वाली बुद्धि, अनुसन्धान करने वाला चित्त और अहंकार। आकाश आदि के रजोगुण अंश से पृथक-पृथक पंच कर्मेन्द्रियाँ हुई। आकाश से वाक्, वायु से हाथ, तेज से पाद, जल से लिंग, पृथ्वी से गुदा। आकाशादि के मिले हुए रजोगुण के अंश से पंच प्राण

हुए। सो वृत्ति-भेद से पाँच प्रकार के हैं। हृदय में स्थित रहने वाला, नासिका और मुख से बाहर-भीतर जाने वाला प्राण-वायु, गुदादेश में रहने वाला और मल त्यागने वाला अपान वायु, सारे शरीर में व्यापक रहने वाला अर्थात् फिरने वाला व्यानवायु नाभि देश में स्थित रहने वाला, खान-पान को सब नाड़ियों में पहुँचाने वाला समान वायु, कंठ में रहने वाला, ऊपर को जाने वाला उदान वायु और पंच उपप्राण हैं। उनका भी इन्हीं पांचों के अन्तर्गत भाव है। डकार निकालने में जो हेतु है सो नाग वायु, नेत्रों के खोलने-मीचने में जो हेतु है सो कूर्म, छींकने में जो हेतु है सो कृकल, जम्भाही लेने में जो हेतु है सो देवदत्त और सारे शरीर में रहने वाला धनञ्जय जो मुर्दे को फुला देता है। आकाश से दो इन्द्रियाँ हुईं, श्रोत्र और वाक्। कान से आकाश का सद्गुण शब्द ग्रहण किया जाता है और वाक् इन्द्रिय से बोला जाता है। वायु से दो इन्द्रियाँ हुईं— त्वचा और हाथ। त्वचा से स्पर्श गुण ग्रहण किया जाता है और हाथ से त्वचा की रक्षा होती है। तेज से दो इन्द्रियाँ हुईं। चक्षु और पाद, चक्षु से तेज का जो सतोगुण रूप है, उसका ज्ञान होता है और पैर के मलने से चक्षु की गर्मी दूर होती है। जल से दो इन्द्रियाँ रसना और लिंग हुए हैं। रसना से जल का जो गुण रस है, उसका ज्ञान होता है और लिंग से जल का त्याग होता है। पृथ्वी से दो इन्द्रियाँ नासिका और गुदा हुए। नासिका से पृथ्वी का जो गुण गंध है उसका ज्ञान होता है और गुदा से मल का त्याग होता है। अन्तःकरण समष्टि पाँचों भूतों के सतोगुण अंश से उत्पन्न हुए हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के

शब्दादि विषयों को अनुभव करता है जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये पाँचों कोष कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरों के अन्तर्भाव हैं। स्थूल शरीर सो तो अन्नमय कोष है। सूक्ष्म शरीर में तीन कोष हैं। पाँच कर्म इन्द्रियों के सहित जो पंच प्राण हैं सो प्राणमय कोष पाँच ज्ञान इन्द्रियों के सहित जो मन है सो मनोमय कोष और पाँच ज्ञानेन्द्रियों सहित जो बुद्धि है सो विज्ञानमय कोष है। मनोमय और विज्ञानमय कोष में यह भेद है कि मनोमय कोष तो कारण है और विज्ञानमय कोष कर्त्ता है। क्रिया में कर्त्तादि छः कारक हैं।

कर्ता कर्म च करणं च संप्रदानं तथैव च।
अपादानादि करणमित्याहुः कारकणिषट् ॥

कारण शरीर का भूतादि अविद्या में जो मलिन सत्व है सो प्रिय मोद और प्रमोद वृत्ति के सहित आनन्दमय कोष है। कोई अज्ञान को आनन्दमय कोष कहता है। जो वस्तु प्राप्त न हो और अच्छी प्रतीत हो, उस समय की दशा या वृत्ति को प्रिय कहते हैं। फिर वही वस्तु जब अपनी हो जावे उस समय का जो आनन्द है, वो मोद है और उसके भोगने में जो आनन्द है सो प्रमोद है।

सूक्ष्म शरीर समष्टि-भेद से दो प्रकार के हैं। जैसे सारा सूक्ष्म बन शरीरों का समुदाय समष्टि पृथक्-पृथक् वृक्ष एक सूक्ष्म शरीर व्यष्टि है। जैसे उपवन (बाग) समष्टि और उसी उपवन का एक-एक वृक्ष व्यष्टि। सूक्ष्म समष्टि करके उपहित, मायोपहित चैतन्य, हिरण्यगर्भ कहा जाता है और सूक्ष्म व्यष्टि

करके उपहित अविद्योपहित चैतन्य, तेजस् कहा जाता है। समष्टि, व्यष्टि के तादात्म्य होने से उन करके उपहित हिरण्यगर्भ तेजस् की भी तादात्म्यता है। जैसे बन वृक्ष करके उपहित आकाश में कुछ भेद नहीं; ऐसे ही, हिरण्यगर्भ, तेजस् में भेद नहीं। जैसे जाति, व्यक्ति, सामान्य, विशेषकर या नगर, मोहल्ला इनका बिना विचारे भेद है; वास्तव में भेद नहीं है। सूक्ष्म शरीर, अविद्या काम्य-कर्म करके पहला कहा जाता है, सो लिखते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, चार अन्तः-करण, पाँच प्राण, पाँच सूक्ष्म भूत, अविद्या, काम, कर्म। अविद्या का कार्य चार प्रकार का होता है–ब्रह्म लोक तक जो पदार्थ हैं, उनमें नित्य बुद्धि होनी, दुःख में और देहादि अनित्य पदार्थों में आत्म बुद्धि, अपवित्र, मल-मूत्र, हड्डी, रक्त, मांस, नाड़ी, थूक, लार आदि के एक-एक चमड़े के थैले में बन्द किया हुआ, स्त्री, पुत्र आदिकों के जो शरीर हैं, उनमें पवित्र बुद्धि होना, इनमें जो प्रेम होना है, सोई कार्य है।

कर्म तीन प्रकार के होते हैं—सञ्चित, आगामी और प्रारब्ध। अपना किया हुआ कर्म फल को न देकर जो गुप्त रूप से ठहरा हुआ है सो संचित है। इस शरीर से जो किया जाता है सो आगामी है और इस स्थूल शरीर की जन्म-स्थिति का जो हेतु है सो प्रारब्ध है। संचित वा आगामी कर्मों के फल भोग करके, या निष्काम-कर्म करके ब्रह्म-ज्ञान से नाश हो जाते हैं। मगर प्रारब्ध-कर्म का भोग भोगने से ही नाश होता है। प्रारब्ध से पृथक्-पृथक् अविद्या के जो पाँच क्लेश हैं उनका ब्रह्म-ज्ञान से ही नाश होता है। पाँच क्लेश यह हैं, अविद्या

अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेष। कारण कार्य करके अविद्या के दो भेद ऊपर लिख आये हैं। अहंकार की सूक्ष्म अवस्था को अस्मिता और महतत्त्व और सामान्य अहंकार भी कहते हैं। राग या प्रेम, काम को और द्वेष, क्रोध को कहते हैं। अपने आप ग्रहण करके फिर उसके त्याग को न सहना, इसको अभिनिवेष कहते हैं। पर ब्रह्मज्ञान होने पर जीव इन सारे क्लेषों से छूट जाता है; ऐसा श्रुति कहती है।

यहाँ तक सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति लिखी है; अब स्थूल शरीर की उत्पत्ति बतलाते हैं। पंचीकृत महाभूतों के तामस अंश का कार्य इसप्रकार है। पंचीकृत जो पृथ्वी है, उस पृथ्वी का कार्य हाड़, क्योंकि हाड़ सख़्त है। जल का कार्य मांस, क्योंकि मांस शीतल है। तेज का कार्य नाड़ी, नाड़ी से ज्वर की परीक्षा होती है। वायु का कार्य त्वचा, त्वचा से स्पर्श होता है। आकाश का कार्य रोम, क्योंकि रोम काटने में दुःख नहीं होता। जल और पृथ्वी का कार्य खून है, क्योंकि पृथ्वी के सदृश रक्त होता है। जल का कार्य वीर्य, वीर्य श्वेत होता है, उसी से गर्भ रहता है और जल से सब वस्तुओं की उत्पत्ति होती है। तेज का कार्य मूत्र, क्योंकि उसमें ऊष्णता है। वायु का कार्य पसीना है, क्योंकि बहुत श्वास चलने से पसीना आता है और वायु से सूख जाता है। आकाश का कार्य लार, क्योंकि लार ऊपर को आती है, आकाश भी ऊँचा है। तेज और पृथ्वी का कार्य आलस्य है, आलस्य से जड़ता आती है, पृथ्वी जड़ है। जल का कार्य काँति, क्योंकि जल के स्पर्श और नहाने से सुन्दरता होती है। तेज का

कार्य क्षुधा, जठराग्नि अन्न को पचाती है। वायु का कार्य प्यास, प्यास से कण्ठ, ओष्ठ सूख जाते हैं। आकाश का कार्य निद्रा, निद्रा में हम निर्विकल्प हो जाते हैं। आकाश भी निर्विकल्प है। वायु और पृथ्वी का कार्य संकोचन है, जिस समय सिकुड़कर बैठते हैं तो भारीपन और जड़ता आती है। जल का कार्य चलना, जल भी चलता है। तेज का कार्य उठना, उछलना, उठने और उछलने में ऊपर को होता है। अग्नि भी ऊपर को जाती है। वायु का कार्य दौड़ना, दौड़ने से बल होता है, वायु में भी बल है और वेग है। आकाश का कार्य पसरना, आकाश भी व्यापक है और पसरने में भी व्यापकता होती है। आकाश और पृथ्वी का कार्य कटि गन्ध स्थान जहाँ मल रहता है। जल का स्थान उदर है। तेज का कार्य स्थान हृदय है, क्योंकि हृदय में ऊष्णता रहती है वायु का कार्य स्थान कण्ठ, क्योंकि कण्ठ वायु का स्थान है। आकाश का कार्य स्थान सिर है, जहाँ अनहद शब्द होता है। पंजीकृत आकाश का भेद दूसरा इसप्रकार है। आकाश और पृथ्वी का कार्य भय, क्योंकि भय से अन्तःकरण में तम प्रधान होता है और तम पृथ्वी का भाग है। जल का कार्य मोह, क्योंकि जल के स्पर्श से सुन्दरता उत्पन्न होती है और सुन्दरता को देखकर मोह होता है। तेज का कार्य क्रोध, क्योंकि क्रोध के समय हृदय भस्म होता है। वायु का कार्य, काम, वायु भी चञ्चल होती है और काम भी चञ्चल है। आकाश का कार्य लोभ, आकाश की भी अवधि नहीं और लोभ की भी अवधि नहीं है। शब्द गुण जिसमें रहता है सो आकाश है, शब्द आकाश का रूप है। रंग, रूप रहित, स्पर्श

पांच तत्व	रंग	स्थान	स्वाद	गति	पल	बीज	ज्ञानेन्द्रिय	विषय	ज्ञानेन्द्रियों के देवता	कर्मेन्द्रिय	कर्मेन्द्रियों की क्रिया	कर्मेन्द्रियों के देवता	प्राण की गति	तत्वों की चाल
आ-काश	चित्र वर्ण	मस्तक में	कड़वा	एक रस	१०	हं	कान	शब्द	दिक्	वाक्	बोलना	अग्नि	स्वाभाविक १२ अंगुल	संक्रम
वायु	नील वर्ण	नाभि के मूल में	खट्टा अम्ल	आठ अंगुल	२०	यं	त्वचा	स्पर्श	वायु	पाणि	लेना-देना	इन्द्र	भोजन के समय १८ अंगुल	तिरछा
तेज	रक्त वर्ण	दोनों कंधों पर	तीखा	चार अंगुल	३०	रं	चक्षु	रूप	सूर्य्य	पाद	चलना	विष्णु	गमन के समय २४ अंगुल	ऊपर
जल	श्वेत वर्ण	चरण में	खारा	सोलह अंगुल	४०	वं	रसना	रस	वरुण	लिंग	मैथुन मूत्र त्याग	प्रजापति	दौड़ने के समय ४२ अंगुल	नीचे
पृथ्वी	पीत वर्ण	जानु (गोडों में)	मीठा	बारह अंगुल	५०	लं	नाक	गन्ध	पृथ्वी	गुदा	मल त्याग	यम	मैथुन के समय ६५ अंगुल	मध्य
													सोने के समय १०० अंगुल	

तत्त्व	पृथ्वी	जल	तेज	वायु	आकाश	चतुष्ठ्य अन्तःकरण	क्रिया	देवता
पृथ्वी	अस्थि	मांस	नाड़ी	त्वचा	रोम	मन	संकल्प विकल्प	चन्द्र
जल	रुधिर	वीर्य	मूत्र	स्वेद	राल	बुद्धि	पदार्थों का निश्चय करना	बृहस्पति
तेज	आलस्य	काँन्ति	मुख	प्यासा	निन्द्रा	चित्	चिन्तन करना	क्षेत्रज्ञ
वायु	संकोचन	चलना	उठना या उछलना	दौड़ना	फैलना	अहंकार	मैंने किया मैं करूँगा	रुद्र
आकाश	भय	मोह	क्रोध	काम	लोभ			
दूसरी प्रकार का आकाश	कमर में	पेट में	हृदय में	कंठ में	शिर में			

वाला वायु, गर्म स्पर्श वाला तेज चार प्रकार का है। अग्नि, सूर्य, बिजली आदि और जठराग्नि। पंच भूतों के जो उपरोक्त लक्षण कहे गये हैं, सो तीनों दोषों से रहित हैं। जिस लक्षण में अव्याप्ति अतिव्याप्ति, असम्भव ये तीनों दोष पाए जावें वह प्रमाण नहीं है। जैसे किसी ने कहा है, 'गऊ कपिला होती है' इसमें अव्याप्ति दोष है, क्योंकि सब गऊ कपिला नहीं होती। फिर किसी ने कहा 'गऊ के सींग और पूँछ होती है' इसमें अतिव्याप्ति दोष है, क्योंकि सींग भैंस, हिरनादि के भी होते हैं। फिर किसी ने कहा 'गऊ एक खुर वाली होती है' इसमें असम्भव दोष है, क्योंकि गऊ का एक खुर होना असम्भव है। ये लक्षण अप्रमाणित हैं। जो सब दोष से रहित हो—जैसे गौ का लक्षण, 'सींग सासनादि वाली गऊ होती है' इसमें कोई दोष नहीं है। आकाश में एक गुण शब्द है। वायु में दो गुण—शब्द, स्पर्श। तेज में तीन गुण—शब्द, स्पर्श, रूप। जल में चार गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस। पृथ्वी में पाँच गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। पंजीकृत पृथ्वी आदि से ब्रह्माण्ड हुआ, ब्रह्माण्ड में चौदह लोक हैं। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, ये सात ऊपर के लोक हैं। तल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल ये सात नीचे के लोक हैं। ब्रह्माण्ड से मनु और शतरूपा हुए हैं। मुसलमान लोग इन्हीं को बाबा आदम और होआ कहते हैं। इन्हीं से सारी मनुष्य जाति की उत्पत्ति मानी जाती है।

पृथिव्या औषधयः औषधिभ्योऽन्नम् अन्नाद्रेतः।
रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥ (तै.उ.ब्रह्म.अ.१)

ब्रह्माण्ड में जो पृथ्वी है उससे औषधि हुई, औषधि से अन्न हुआ। माता-पिता के खाये हुए अन्न का परिणाम रक्त हुआ। उससे स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ। शरीर चार प्रकार के हैं—मनुष्य योनि के शरीर जरायुज से, पक्षी, नागादिकों के शरीर अण्डज अर्थात् अण्डे से पैदा हुए। जूं, लीख आदि के शरीर स्वेदज अर्थात् पसीने से उत्पन्न हुए। तृण; वृक्ष आदि उद्भिज अर्थात् पृथ्वी को भेदन करके उत्पन्न हुए हैं। यह स्थूल शरीर समष्टि, व्यष्टि भेद करके दो प्रकार के हैं। पंची-कृत, पंच महाभूत और उनका कार्य ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के भीतर जो पंच भूतों का कार्य स्थूल शरीरादि का समुदाय है; यह सब समष्टि है, पृथक पृथक स्थूल शरीर व्यष्टि हैं। स्थूल समष्टि करके उपहित वही माया सहित चैतन्य विराट् कहा जाता है और स्थूल व्यष्टि करके उपहित वह अविद्यासहित चैतन्य विश्व कहा जाता है। समष्टि व्यष्टि के जाति, व्यक्ति सामान्य, विशेष बन वृक्षवत् तादात्म्य होने से उनके सहित विराट् विश्व की भी एकता है। इस जीव की प्रसिद्ध चार अवस्था हैं। प्रसिद्ध लिखने से यह अभिप्राय है कि मरण और मूर्छा, ये दो अवस्थाएँ और भी हैं। परन्तु प्रसिद्ध चार ही अवस्था हैं। जिनको जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया कहते हैं।

अमान, अदम्भ, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, वैराग्य, शम, दम मुक्ति की इच्छा, सन्तोष ऐसी-ऐसी और भी अन्तःकरण की सतोगुणी वृत्तियाँ हैं। तृष्णा, दम्भ, लोभ, अहङ्कार, असीम, भोगों की इच्छा, चपलता, अभिमान, राग आदि अन्तःकरण की रजोगुणी वृत्तियाँ हैं। निद्रा, आलस्य, प्रमोद, मोह आदि

तमोगुणी वृत्तियाँ हैं। यह सभी अन्तःकरण के धर्म हैं। संकल्प और विकल्प वाली वृत्ति मन की और निश्चय करने वाली वृत्ति बुद्धि की है। अनुसन्धान करने वाली वृत्ति चित्त की और अभिमान वाली वृत्ति अहंकार की है। सतोगुणी वृत्ति से पुण्य की, रजोगुणी वृत्ति से पाप की और तमोगुणी वृत्ति से मूर्खता की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। मनुष्य को वृथा ही इनमें जन्म नहीं गंवाना चाहिए। तमोगुणी वृत्ति दुःखों का मूल कारण है। तीनों अवस्थाओं से परे गुणातीत परमात्मा को जानने से ही परमसुख की प्राप्ति होती है।

पाँच कर्म इन्द्रियों द्वारा चलना फिरना आदि क्रिया का होना, पाँच ज्ञान इन्द्रियों द्वारा शब्द, स्पर्श आदि विषय और संकल्प-विकल्प आदि अन्तःकरण के धर्म हैं। उसी को जाग्रत या विराट् कहा है। जाग्रत में जो देखा या सुना गया है, उन्हीं संस्कारों करके अन्तःकरण द्वारा निद्रा में जो प्रपंच की प्रतीति होती है, उसी का नाम तेजस या स्वप्न है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर का जो अभिमानी है, उसकी निवृत्ति पर बुद्धि का कारण आत्मा में स्थित होना ही सुषुप्ति या हिरण्यगर्भ अवस्था कहलाती है, मैं कुछ नहीं जानता, मैं सुख से सोया, ऐसा, गाढ़ निद्रा के दूर होने पर ही कहता है। इन तीनों अवस्थाओं का जो अभिमानी है, उसे प्राज्ञ कहा गया है। प्राज्ञ ईश्वर की एकता है। जब ईश्वर में चित्तवृत्तियों का समावेश होता है तो उसी अवस्था का नाम तुरीया अवस्था है। इसलिए तीनों शरीरों और तीनों अवस्थाओं का अभिमान छोड़कर शुद्ध ब्रह्म की इसप्रकार उपासना करे कि विराट् हिरण्यगर्भ वा ईश्वर

और शुद्ध ब्रह्म मैं हूँ। इसीप्रकार की उपासनाएँ श्रुति, स्मृति और उपनिषद् आदि में फल सहित भलीप्रकार से समझाई गई हैं। और भी प्रणव आदि उपासनाएँ हैं। शुद्ध ब्रह्म से लेकर पाषाणादि मूर्ति-पर्यन्त उपासनाएँ हैं। अपनी सामर्थ्य अनुसार भेद, उपासना या अभेद-उपासना वेद-शास्त्रों में से निश्चय करके करे। परमेश्वर की जो जैसी उपासना करेगा, उसे वैसा ही फल प्राप्त होगा। भगवान् ने गीता में कहा है :

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपिमाम् ।।
(९-२५)

यह नियम है कि देवताओं को पूजने वाले देवताओं को, पितरों को पूजने वाले पितरों को और भूतों को पूजने वाले भूतों को प्राप्त होते हैं। पर मेरे भक्त तो मेरे को ही प्राप्त होते हैं। इसीलिए मेरे भक्तों का पुनर्जन्म नहीं होता। मेरे भक्त तो सदा मेरे में ही निवास करते हैं।

They who worship the shining ones go to the shininig once : to the Ancestors go the Ancestors-worshippers; to the Elementals go those who sacrifice to Elementals, but my worshippers come unto me.

(25)

कर्म-योग

यदि किसी मनुष्य को किसी शास्त्र के जानने की इच्छा पहले ही से न हो, तो वह उस शास्त्र के ज्ञान को पाने का अधिकारी नहीं हो सकता। ऐसे अधिकार रहित मनुष्य को उस शास्त्र की शिक्षा देना मानो चलनी (छाणनी) में दूध दुहना ही है। शिष्य को तो इस शिक्षा से कुछ लाभ होता ही नहीं, परन्तु गुरू को भी निरर्थक श्रम करके समय नष्ट करना पड़ता है। जैमिनि और बादरायण के सूत्रों के आरम्भ में इसी कारण से "अथातो धर्म जिज्ञासा" और "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" कहा हुआ है। जैसे ब्रह्मोपदेश मुमुक्षुओं को और धर्मोपदेश धर्मेच्छुकों को देना चाहिए, वैसे ही कर्म शास्त्रोपदेश उसी मनुष्य को देना चाहिए, जिसे यह जानने की इच्छा या जिज्ञासा हो कि संसार में कर्म कैसे करना चाहिए? सबसे पहला शब्द कर्म है। कर्म शब्द 'कृ' धातु से बनता है, जिसका अर्थ 'करना' व्यापार, हलचल होता है। और इसी सामान्य अर्थ का गीता में उपयोग हुआ है अर्थात् यही अर्थ गीता में कहा है। ऐसा कहने का कारण यही है कि मीमाँसा शास्त्रों में और अन्य स्थानों पर भी इस शब्द के जो संकुचित अर्थ दिये गये हैं, उनके कारण पाठकों के मन में कुछ भ्रम उत्पन्न न होने पावे। किसी भी धर्म सम्प्रदाय को लीजिए, उसमें ईश्वर-प्राप्ति के लिए कुछ-न-कुछ कर्म करने को बतलाया ही है। प्राचीन वैदिक धर्म के अनुसार देखा जाय तो यज्ञ–याग ही वह कर्म हैं, जिससे ईश्वर की प्राप्ति होती है। वैदिक ग्रन्थों में यज्ञ–याग की विधि बताई

गई है और उपनिषदों में भी ये यज्ञ ग्राह्य माने गए हैं। किन्तु इनकी योग्यता ब्रह्मज्ञान से कम ठहराई गई है। इसलिए निश्चय किया गया है कि यज्ञ–याग से स्वर्ग प्राप्ति भले ही हो जाय, परन्तु इनके द्वारा मोक्ष नहीं मिल सकता। मोक्ष प्राप्ति के लिए ब्रह्मज्ञान की ही आवश्यकता है। 'यज्ञार्थात्मर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः' (गी० ३-९) अर्थात् यज्ञार्थ किये गए कर्म से बन्धन नहीं है। शेष सब कर्म बन्धन-युक्त हैं। इन यज्ञ–याग आदि वैदिक कर्मों के अतिरिक्त अर्थात् श्रोत कर्म के अतिरिक्त और भी चार वर्णों के भेद अनुसार दूसरे आवश्यक कर्म करने पर भी मनुस्मृति आदि धर्म-ग्रन्थों में कहा गया है। जैसे क्षत्रिय के लिए युद्ध और वैश्य के लिए व्यापार। पहले-पहल इन वर्णाश्रम-कर्मों का प्रतिपादन स्मृति-ग्रन्थों में किया गया था, इसलिए इन्हें 'स्मार्त-कर्म' या 'स्मार्त-यज्ञ' भी कहते हैं। इन श्रोत और स्मार्त कर्मों के सिवाय और भी धार्मिक कर्म हैं। जैसे व्रत, उपवास आदि करना। इनका विस्तृत प्रतिपादन पहले-पहल केवल पुराणों में किया गया है। इसलिए उन्हें 'पौराणिक कर्म' कहा है। इन सब कर्मों के नित्य, नैमित्तिक और काम्य-भेद किए गए हैं। स्नान सन्ध्या पंच महायज्ञ आदि जो हमेशा किए जाने वाले कर्म हैं जिन्हें नित्य-कर्म कहते हैं इनके करने से कुछ विशेष फल अथवा अर्थ की सिद्धि नहीं होती। परन्तु न करने से कुछ दोष अवश्य लगता है। नैमित्तिक कर्म उन्हें कहते हैं, जिन्हें पहले किसी कारण के उपस्थित हो जाने से करना पड़ता है। जैसे अरिष्ट-ग्रहों की शान्ति, हत्या का प्रायश्चित आदि जिसकी शान्ति के लिए हम

प्रायश्चित करते हैं, यदि निमित्त कारण पहले न हो गए हों, तो हमें नैमित्तिक-कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब हम कुछ विशेष इच्छा रखकर उसकी सफलता के लिए शास्त्रानुसार कोई कर्म करते हैं, तब उसे काम्य-कर्म कहते हैं। जैसे वर्षा होने के लिए या पुत्र प्राप्ति के लिए यज्ञ करना। नित्य, नैमित्तिक, और काम्य-कर्मों के सिवा और भी कर्म हैं। जैसे मदिरा पान करना, मांस खाना इत्यादि जिन्हें शास्त्रों ने विकर्म कहा है और इसीलिए ये निषिद्ध-कर्म कहलाते हैं। नित्य-कर्म, नैमित्तिक-कर्म और काम्य-कर्म तथा निषिद्ध-कर्म कौन-कौन हैं? ये सब धर्म-शास्त्रों में निश्चित कर दिये गये हैं। सारांश—मनुष्य जो कुछ करता है, जैसे खाना, पीना, खेलना, रहना, उठना, बैठना, श्वासोच्छ्वास का करना, हँसना, रोना, सूँघना, देखना, बोलना, चलना, देना, लेना, सोना, जागना, मरना, जीना, लड़ना, त्यागना, मनन करना, भजन-ध्यान करना, आज्ञा का निषेध करना, दान देना-लेना, यज्ञ-याग करना, खेती और व्यापार-धंधा करना इच्छा करना, निश्चय करना, चुप रहना आदि-आदि–यह सभी धर्म-शास्त्रों और भगवद्गीता आदि के अनुसार 'कर्म' ही हैं। चाहे शारीरिक हों, वाचिक हों अथवा मानसिक हों (गीता ५–८-९)। और तो क्या जीना-मरना भी कर्म ही है। यह भी विचार करना पड़ता है कि 'जीना या मरना' इन दो कर्मों में से किसको स्वीकार किया जावे? इस विचार के उपस्थित होने पर कर्म शब्द का अर्थ 'कर्त्तव्य-कर्म' अथवा 'विहित-कर्म' हो जाता है (गी० ४–१६)। मनुष्य के कर्मों के विषय में यहाँ तक विचार

हो चुका। अब इसके आगे बढ़कर सब चर-अचर सृष्टि के तथा अचेतन वस्तु के भी—व्यापार में 'कर्म' शब्द ही का उपयोग होता है।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
(गी० ४–१७)

कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, तथा निषिद्ध अर्थात् विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति अति गहन है।

कर्म शब्द से अधिक भ्रमकारक शब्द 'योग' है। आजकल योग शब्द का रूढ़ार्थ "प्राणायाम आदिक साधनों से चित्त वृत्तियों या इन्द्रियों का निरोध करना" अथवा "पातंजलि सूत्रोक्त समाधि या ध्यान योग" है। उपनिषदों में भी इसी अर्थ से इस शब्द का प्रयोग हुआ है। (कठो० ६–११) परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि यह संकुचित अर्थ भगवद्गीता में अधिक नहीं है। 'योग' शब्द 'युज' धातु से बनता है, जिसका अर्थ जोड़, मेल, मिलाप, एकता अवस्थित इत्यादि होता है और इसी स्थिति की प्राप्ति के उपाय, साधन, युक्ति या कर्म को भी योग कहते हैं। यही सब अर्थ अमर कोष (३-३-२२) में इस तरह से दिये हुए हैं, 'योग सँहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु'। फलित ज्योतिष में कोई ग्रह यदि इष्ट अथवा अनिष्ट हो तो उन ग्रहों का 'योग' इष्ट या अनिष्ट कहलाता है। और योग-क्षेम पद में 'योग' शब्द का अर्थ अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना बताया है (गी० ९-१२)।

भारतीय युद्ध के समय द्रोणाचार्य को अजेय देखकर श्रीकृष्ण ने कहा कि 'एकोहि योगऽस्य भवेद्वधाय'' (म०भा०दे०१८, १-३१) अर्थात् द्रोणाचार्य को जीतने का एक ही 'योग' साधन या युक्ति है। आगे चलकर उन्होंने यह भी कहा है कि हमने पूर्वकाल में धर्म की रक्षा के लिए जरासन्ध आदि राजाओं को 'योग' ही से कैसे मारा था। उद्योग पर्व (अ० १७२) में कहा गया है कि जब भीष्म ने अम्बिका और अम्बालिका को हरण किया, तब अन्य राजा लोग 'योग-योग' कहकर उनका पीछा करने लगे थे। महाभारत में 'योग' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में अनेक स्थानों पर हुआ है। गीता में 'योग' अथवा 'योग' शब्द से बने हुए सामासिक शब्द लगभग अस्सी बार आए हैं; परन्तु चार-पाँच स्थानों के सिवाय। गी० ६–१२,२३ में आया 'योग' शब्द पातंजलि 'योग' के अर्थ से कहीं भी भिन्न नहीं है। सिर्फ 'युक्ति', साधन, कुशलता, उपाय, जोड़, मेल, यही अर्थ कुछ हेर-फेर से सारी गीता में पाए जाते हैं। अतएव कह सकते हैं कि गीता शास्त्र के व्यापक शब्दों में 'योग' भी एक शब्द है। परन्तु योग शब्द के युक्त सामान्य अर्थों से ही जैसे साधन, कुशल, युक्ति आदि से ही काम नहीं चल सकता। क्योंकि वक्ता की इच्छा के अनुसार यह साधन संन्यासी का ही हो सकता है, कर्म और वृत्ति-निरोध का हो सकता है, मोक्ष का अथवा और भी किसी का हो सकता है। उदाहरणार्थ कहीं-कहीं गीता में अनेक प्रकार की व्यक्त सृष्टि निर्माण करने की ईश्वर-कुशलता और अद्भुत सामर्थ्य को भी 'योग' कहा है (गी० ७-२५, ९-५, १०-७, ११-८) और इसी अर्थ में भगवान् को 'योगेश्वर' कहा है, (गी०१८-७५)

किन्तु यह कुछ गीता के 'योग' शब्द का मुख्य अर्थ नहीं है, इसलिए यह बात स्पष्ट रीति से प्रकट कर देने के लिए, कि 'योग' शब्द से किस विशेष प्रकार की कुशलता, साधन, युक्ति अथवा उपाय को गीता में विवक्षित समझना चाहिए। उस ग्रन्थ ही में योग की निश्चित व्याख्या की गई है। 'योगः कर्मसु कौशलम्'' (गी० २-५०)। अर्थात् कर्म करने की किसी विशेष प्रकार की कुशलता, युक्ति, चतुराई अथवा शैली को 'योग' कहते हैं। शंकर भाष्य में भी 'कर्मसु कौशलम्' का यही अर्थ लिया गया है। 'कर्म में स्वभाव सिद्ध रहने वाले बन्धन को तोड़ने की युक्ति'। यदि सामान्यतः देखा जाय तो एक ही कर्म को करने के लिए अनेक 'योग और उपाय' होते हैं। परन्तु उनमें से जो उपाय या साधन उत्तम हो, उसी को, योग कहते हैं। जैसे द्रव्य-उपार्जन करना एक कर्म है, इसके अनेक उपाय या साधन हैं—जैसे चोरी करना, जाल-साज़ी करना, भीख माँगना, सेवा करना, ऋण लेना, मेहनत करना आदि। यद्यपि धातु के अर्थानुसार इनमें से हर एक को 'योग' कहते हैं परन्तु धन-उपार्जन करने का उत्तम योग या युक्ति वही है, जिसमें हम अपनी स्वतन्त्रता रखकर मेहनत करते हुए धार्मिक-जीवन प्राप्त कर सकें।

जब स्वयं भगवान् ने 'योग' शब्द की निश्चित और स्वतन्त्र व्याख्या की है, (योगः कर्मसु कौशलम् अर्थात् कर्म करने की एक प्रकार की विशेष युक्ति को योग कहते हैं) तब सच पूछो तो इस शब्द के मुख्य अर्थ के विषय में कुछ भी शंका नहीं रहनी चाहिए। परन्तु टीकाकारों ने भगवान् की बतलाई हुई

इस व्याख्या पर ध्यान न देकर गीता का, मति अनुसार ही मन माना अर्थ निकाला है। अतएव इस भ्रम को दूर करने के लिए 'योग' शब्द का कुछ और भी स्पष्टीकरण होना चाहिए। यह शब्द पहले-पहल गीता के दूसरे अध्याय में आया है और वहीं इसका स्पष्ट अर्थ भी बतला दिया गया है।

पहले साँख्य-शास्त्र के अनुसार भगवान् ने अर्जुन को यह समझाया कि युद्ध क्यों करना चाहिए? इसके बाद उन्होंने कहा कि 'अब मैं तुझे योग के अनुसार कर्म-उत्पत्ति बतलाता हूँ। (गी० २-३९) और फिर इसका वर्णन किया है कि जो लोग हमेशा यज्ञ-यज्ञादि काम्य-कर्मों में ही निमग्न रहते हैं, उनकी बुद्धि फल आशा से कैसे बेचैन हो जाती है (गी० २-४१-४६)। इसके पश्चात् उन्होंने यह उपदेश किया है कि बुद्धि को अव्यग्र, स्थिर या शाँत रखकर 'आसक्ति को छोड़ दो परन्तु कर्मों को छोड़ देने के आग्रह में न पड़ो' और 'योगस्थ होकर कर्मों का आचरण करो' (गी० २-४८) यहीं पर 'योग' शब्द का यह अर्थ भी कर दिया है कि 'सिद्धि, और असिद्धि दोनों में सम बुद्धि रखने को 'योग' कहते हैं।' इसके बाद यह कहकर कि फल की आशा से कर्म करने की अपेक्षा सम बुद्धि का यह योग ही श्रेष्ठ है (गी० २-४९) और बुद्धि की समता हो जाने पर कर्म करने वाले को कर्म सम्बन्धी पाप-पुण्य की बाधा नहीं होती। इसलिए तू इस 'योग' को ही प्राप्त कर। तुरन्त ही योग का यह लक्षण फिर भी बतलाया है कि 'योगः कर्मसु कौशलम्'' (गी० २-५०)। इससे सिद्ध होता है कि पाप-पुण्य से अलिप्त रहकर कर्म करने की जो समत्व बुद्धि रूप विशेष युक्ति बतलाई

गई है, वही 'कौशल' है। और इस कुशलता अर्थात् युक्ति से कर्म करने को, गीता में 'योग' कहा है। इसी अर्थ को अर्जुन ने आगे चलकर 'योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन' (गी० अ० ६ श्लोक ३३) में स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञानी मनुष्यों को इस संसार में कैसे चलना चाहिए। श्री शंकराचार्य के पूर्व ही प्रचलित हुए वैदिक धर्म के अनुसार दो मार्ग हैं। एक यह कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर सब कर्मों का संन्यास, अर्थात् त्याग कर दे और दूसरा यह कि ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी कर्मों को न छोड़े—उसको जन्म भर ऐसी युक्ति से करता रहे कि उनके पाप-पुण्य की बाधा न होने पावे। इन्हीं दो मार्गों को गीता में संन्यास और कर्म-योग कहा है (गी० ५–२)। संन्यास कहते हैं त्याग को और योग कहते हैं मेल को, अर्थात् कर्म के त्याग और कर्म के मेल ही के यह दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। इन दो भिन्न मार्गों को लक्ष्य करके आगे (गी० ५–४) 'सांख्ययोग' (साँख्य+योग) ये संक्षिप्त नाम भी दिए गए हैं। बुद्धि को स्थिर करने के लिए पातञ्जलि योग शास्त्र के आसनों का वर्णन छठवें अध्याय में है तो सही, परन्तु वह किसके लिए है ? तपस्वी के लिए नहीं, किन्तु कर्मयोगी अर्थात् युक्ति पूर्वक कर्म करने वाले मनुष्यों को 'समता' की युक्ति सिद्ध करने के लिए बतलाया गया है। नहीं तो फिर 'तपस्विभ्योऽधिकोयोगी' तपस्वी से योगी श्रेष्ठ है-इस वाक्य का कुछ अर्थ ही नहीं हो सकता। इसी तरह (गी० ६-४६) में अर्जुन को जो उपदेश दिया गया है कि 'तस्माद्योगी भवार्जुन' उसका अर्थ ऐसा नहीं हो सकता कि हे अर्जुन ! तू पातञ्जलि योग का अभ्यास करने वाला हो।

इसलिए उस उपदेश का अर्थ 'योगस्थः कुरु कर्माणि' (गी० २–४८) 'तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्' (गी० २–५०) 'योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत' (गी० ४–४२) इत्यादि वचनों के अर्थ के समान ही होना चाहिए अर्थात् उसका यही अर्थ लेना उचित है कि हे अर्जुन ! तू युक्ति से कर्म करने वाला योगी अर्थात् कर्मयोगी हो। क्योंकि यह कहना ही सम्भव नहीं कि 'तू पातञ्जलि योग का आश्रय लेकर युद्ध के लिए तैयार रह' इसके पहले ही साफ साफ कहा गया है कि 'कर्मयोगेन योगिनाम्' (गी० ३–३) अर्थात् योगी पुरुष कर्म करने वाले होते हैं। महाभारत के (सभा० शा० १४८-५६) नारायणीय अथवा भागवत धर्म के विवेचन में भी कहा गया है कि इस धर्म के मानने वाले लोग अपने कर्मों का त्याग बिना ही युक्ति पूर्वक कर्म करके (सप्रयुक्तेन कर्मणा) परमेश्वर की प्राप्ति कर लेते हैं। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'योगी' और 'कर्मयोगी' दोनों शब्दों का गीता में समान अर्थ है और इनका अर्थ ही 'युक्ति से कर्म करने वाला' होता है। तथा बड़े भारी 'कर्मयोग' शब्द के प्रयोग के बदले गीता और महाभारत में छोटे से 'योग' शब्द का अधिक प्रयोग किया गया है। मैंने तुझे जो यह योग बतलाया है, इसी को मैंने पूर्वकाल में विवस्वान् से कहा है। (गी० ४–१) और विवस्वान् ने मनु को बतलाया था। परम्परा से गुरु-शिष्य द्वारा यह गुप्त कर्मयोग चला आया है परन्तु इस पुरातन कर्मयोग के लोप हो जाने पर फिर वही योग आज तुझ से कहना पड़ा। और सदा ही समय के गुरू द्वारा यह योग जाना जाता है। इस प्रकरण में भगवान् ने जो 'योग'

शब्द का तीन बार उच्चारण किया है उसमें पातञ्जलि योग का अर्थ नहीं पाया जाता। किन्तु इसका अर्थ कर्म करने की किसी विशेष युक्ति, साधन या मार्ग ही लिया जा सकता है। इसी तरह जब संजय ने कृष्ण-अर्जुन-संवाद को गीता में 'योग' कहा है (गी० १८—७५) तब भी यही अर्थ पाया जाता है। श्री शंकराचार्य जी स्वयं संन्यास मार्ग वाले थे, तो भी उन्होंने अपने गीता भाष्य के आरम्भ में ही वैदिक धर्म के प्रवृत्ति और निवृत्ति दो भेद बतलाये हैं और 'योग' शब्द का अर्थ भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र की, की हुई व्याख्या के अनुसार कभी 'सम्यग्दर्शनोपाय' और कभी 'योग युक्ति' किया है। इसी तरह महाभारत में भी 'योग' और 'ज्ञान' दोनों शब्दों के विषय में स्पष्ट लिखा है कि "प्रवृत्ति लक्षणो योगः ज्ञानसंन्यासलक्षणम् (महाभारत अश्व० ४३ में २५) 'सांख्य' और 'योग' का अर्थ प्रवृति मार्ग और ज्ञान का अर्थ संन्यास या निवृत्ति मार्ग है।

शाँतिपर्व के अन्त में, नारायणीयोपाख्यान में 'सांख्य' और 'योग' शब्द तो इसी अर्थ में अनेक बार आए हैं और इसका भी वर्णन किया गया है कि ये दोनों मार्ग सृष्टि के आरम्भ में क्यों और कैसे निर्माण किये गए (म० भा० शाँ० २४० और ३४८)। पहले प्रकरण में महाभारत से जो वचन स्पष्ट किये गए हैं, उनसे यह स्पष्टतया मालूम हो गया है कि यही नारायणीय अथवा भगवद्धर्म, भगवद्गीता का मुख्य तथा प्रधान विषय है। इसलिए कहना पड़ता है कि 'सांख्य' और 'योग' शब्दों का जो प्राचीन और पारिभाषिक अर्थ (सांख्य—निवृत्ति, योग—प्रवृत्ति) नारायणीय धर्म में दिया गया है, वही अर्थ गीता

में भी दिया गया है। यदि इसमें किसी को शंका हो, तो गीता में दी हुई इस व्याख्या से 'समत्वं योग उच्चते' या 'योगः कर्मसु कौशलम्'' तथा उपर्युक्त ''कर्मयोगेन योगिनाम्'' इत्यादि गीता के वचनों से उस शंका का समाधान कर सकता है। इस-लिए बिना विवाद के सिद्ध है कि गीता में योग शब्द प्रवृत्ति मार्ग अर्थात् 'कर्मयोग' के अर्थ में प्रयोग हुआ है। वैदिक धर्म-ग्रन्थों की कौन कहे यह 'योग' शब्द पाली और संस्कृत भाषाओं के बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में भी इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है।

उदाहरणार्थ, सम्वत् ३३५ के लगभग लिखे गये मिलिन्द प्रश्न नामक पाली-ग्रंथ में 'पुब्बयोग' (पूर्व योग) शब्द आया है और वहीं उसका अर्थ 'पुब्बकम्म' (पूर्व कर्म) किया गया है (मि०प्र० १-४)। इसी तरह अश्वघोष कविकृत–जो शालिबाहन शक के आरम्भ में हो गया है—'बुद्धचरित' नामक संस्कृत काव्य के पहिले सर्ग के पचासवें श्लोक में यह वर्णन है:—

'आचार्यकं योगविधौ द्विजानाप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम।'
ब्राह्मणों को योग-विधि की शिक्षा देने में राजा जनक आचार्य (उपदेष्टा) हो गए, इनके पहिले यह आचार्य पद किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ था। यहां पर 'योग विधि' का अर्थ निष्काम कर्मयोग की विधि ही समझना चाहिए। क्योंकि गीता आदि अनेक ग्रन्थ मुक्त कण्ठ से कह रहे हैं कि जनक जी के बर्त्ताव का यही रहस्य है और अश्वघोष ने अपने बुद्ध–चरित्र (६, ११, २०) में यह दिखलाने के लिए ही कि 'गृहस्थाश्रम में रहकर भी मोक्ष की प्राप्ति कैसे की जा सकती है' जनक जी

का उदाहरण दिया है ।

जनक जी के दिखलाए हुए मार्ग का नाम 'योग' है और यह बात बौद्ध धर्म-ग्रन्थों से भी सिद्ध होती है । इसलिए गीता के योग शब्द का भी यही अर्थ लगाना चाहिए । क्योंकि गीता के कथनानुसार (गी० ३—२०) जनक जी का ही मार्ग उसमें बतलाया गया है । सांख्य और योग मार्ग के विषय में अधिक विचार आगे किया जाएगा । प्रस्तुत प्रश्न यही है कि गीता में 'योग' शब्द का उपयोग किस अर्थ में किया है । जब एक बार यह सिद्ध हो गया है कि गीता के 'योग' शब्द का प्रधान अर्थ कर्मयोग और 'योगी' का प्रधान अर्थ कर्मयोगी है, तो फिर यह कहने की आवश्यकता ही नहीं कि भगवद्गीता का मुख्य विषय क्या है । स्वयं भगवान् अपने उपदेश को 'योग' कहते हैं (गी० ४—१-३) बल्कि अ० ६ श्लो० ३३ में अर्जुन ने और गीता के अन्तिम उपसंहार (१८-७५) में सञ्जय ने भी गीता के उपदेश को योग ही कहा है ।

इसी तरह गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में, जो अध्याय समाप्ति दर्शक संकल्प है, उसमें भी स्पष्ट कह दिया है कि गीता का मुख्य विषय 'योग शास्त्र' है । परन्तु जान पड़ता है कि उस संकल्प के शब्दों के अर्थ पर भी टीकाकारों ने ध्यान नहीं दिया । आरम्भ के दो पदों 'श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु, के बाद इस संकल्प में दो शब्द 'ब्रह्मविद्यायां—योगशास्त्रे' और भी जोड़े गए हैं । पहले दो शब्दों का अर्थ है—भगवान् से गाये गए उपनिषदों में और पिछले दो शब्दों का अर्थ "ब्रह्मविद्या का योगशास्त्र अर्थात् कर्मयोग शास्त्र" है, जो कि गीता का विषय है ।

ब्रह्मविद्या और ब्रह्मज्ञान एक ही बात है। इसके प्राप्त हो जाने पर ज्ञानी पुरुष के लिए दो निष्ठायें या मार्ग खुले हुए हैं (गी० ३-३)। एक सांख्य अर्थात् संन्यास मार्ग, जिसमें ज्ञान होने पर कर्म करना छोड़ कर विरक्त रहना पड़ता है और दूसरा योग अथवा कर्ममार्ग अर्थात् वह मार्ग जिसमें कर्मों का त्याग न करके ऐसी युक्ति से नित्य-कर्म करने चाहिए, कि जिसमें मोक्ष-प्राप्ति में कुछ भी बाधा न हो। पहले मार्ग का दूसरा नाम ज्ञाननिष्ठा भी है जिसका विवेचन उपनिषदों में अनेक ऋषियों ने तथा अन्य ग्रन्थकारों ने भी किया है। परन्तु ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत कर्मयोग या योगशास्त्र का सार विवेचन भगवद्गीता के सिवाय अन्य ग्रन्थों में वैसा नहीं है।

यह बात हमारे सौभाग्य की है कि इस कर्मयोग का प्रतिपादन स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जी ने किया है जो इस योग मार्ग के प्रवर्त्तक और सब योगों के साक्षात् ईश्वर (योगेश्वर = योग + ईश्वर) हैं और लोकहित के लिए यह योग उन्होंने अर्जुन को बताया है। जो कुछ श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को प्रकाश-रूप तथा ब्रह्मज्ञान बताया था, सो अब भी गुरू के द्वारा प्रत्येक मनुष्य जान सकता है।

एक ही कर्म को करने के योग मार्ग में जो अनेक योग (साधन) हैं, उनमें से सर्वोत्तम और शुभ मार्ग कौन है? उसके अनुसार नित्य आचरण किया जा सकता है या नहीं? नहीं किया जा सकता, तो कौन-कौन अपवाद उत्पन्न होते हैं और वे क्यों उत्पन्न होते हैं? जिस मार्ग को हमने उत्तम मान लिया है, वह उत्तम क्यों है? यह अच्छापन और बुरापन किसके

द्वारा या किस आधार पर ठहराया जा सकता है ? अथवा इस अच्छेपन या बुरेपन का रहस्य क्या है ? इत्यादि बातें जिस शास्त्र के आधार से निश्चय की जाती हैं, उसको 'कर्मयोग शास्त्र' गीता के संक्षिप्त मतानुसार योग शास्त्र' कहते हैं। अच्छा और बुरा दोनों साधारण शब्द हैं। इन्हीं के समान अर्थ में कभी-कभी शुभ-अशुभ, हितकर-अहितकर, श्रेयस्कर-अश्रेयस्कर, पाप-पुण्य धर्म-अधर्म, इत्यादि शब्दों का उपयोग हुआ करता है। कार्य-अकार्य कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, न्याय-अन्याय इत्यादि शब्दों का भी अर्थ वैसा ही होता है। तथापि इन शब्दों का उपयोग करने वालों का सृष्टि-रचना विषयक मत भिन्न-भिन्न होने के कारण 'कर्मयोग' शास्त्र के निरूपण के पन्थ भी भिन्न-भिन्न हो गए हैं। किसी भी शास्त्र को लीजिए, उसके विषयों की चर्चा साधारणतः तीन प्रकार से की जाती है। प्रथम इस जड़ शक्ति के पदार्थ ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि वे हमारी इन्द्रियों में दिखाई देते हैं। इनके परे उनमें और कुछ भी नहीं है। इस दृष्टि से उनके विषय में विचार करने की एक ही पद्धति है। जिसे आधिभौतिक (जिस्मानी या शारीरिक) विवेचन कहते हैं।

उदाहरणार्थ, सूर्य को देवता न मानकर केवल पंच भौतिक जड़ पदार्थों का एक गोला ही माने और ऊष्णता, प्रकाश, लम्बाई चौड़ाई, दूरी और आकर्षण इत्यादि उसके केवल गुण धर्मों ही को परीक्षा करें तो उसे सूर्य का आधिभौतिक (शारीरिक) विवेचन कहेंगे। दूसरा उदाहरण पेड़ का लीजिए। पेड़ में पत्ते निकलना, फूलना-फलना आदि क्रियायें किस शक्ति के अन्तर्गत होती हैं, इस बात का विचार न करके केवल बाह्य दृष्टि से यह

विचार किया जाता है कि ज़मीन में बीज बोने से अंकुर फूटते हैं, फिर वे बढ़ते हैं और उसी के पत्ते, शाखा, फूल इत्यादि दृश्य विकार प्रकट होते हैं इसे आधिभौतिक विवेचन कहते हैं। रसायन शास्त्र, पदार्थ विज्ञान शास्त्र, विद्युत शास्त्र इत्यादि आधुनिक शास्त्रों का विवेचन इसी ढंग का होता है। और तो क्या आधि-भौतिक पण्डित यह भी माना करते हैं कि इस रीति से किसी वस्तु के दृश्य गुणों का विचार कर लेने पर उनका काम पूरा हो जाता है। सृष्टि के पदार्थों का इससे अधिक विचार करना निष्फल है। दूसरे इस दृष्टि को छोड़कर इस बात का विचार किया जाता है, कि जड़ सृष्टि के पदार्थों के मूल में क्या है? क्या इन पदार्थों का व्यवहार केवल उनके गुण धर्मों ही से होता है, या उनके लिए किसी तत्त्व का आधार भी है? तब केवल आधिभौतिक विवेचन से ही अपना काम नहीं चलता। हमको कुछ आगे पैर बढ़ाना पड़ता है। उदाहरणार्थ, जब हम यह मानते हैं कि पंचभौतिक सूर्य नामक एक देव का अधिष्ठान है और इसी के द्वारा इस अचेतन गोले (सूर्य) के सब व्यापार या व्यवहार होते रहते हैं तब उसको उस विषय का आधिदैविक विवेचन कहते हैं। इस मत के अनुसार यह माना जाता है कि पेड़ में, पानी में, हवा में, अर्थात् सब पदार्थों में अनेक देव हैं जो उन जड़ तथा अचेतन पदार्थों से भिन्न तो हैं, किन्तु इनके व्यवहारों को वही चलाते हैं। तीसरे जब यह माना जाता है कि जड़ सृष्टि के हज़ारों जड़ पदार्थों में हज़ारों स्वतन्त्र देवता नहीं हैं, किन्तु बाहरी सृष्टि के सब व्यवहारों को चलाने वाली, मनुष्य के शरीर में आत्मस्वरूप से रहने वाली

और मनुष्यों को सारी सृष्टि का ज्ञान प्राप्त कराने वाली, एक ही चैतन्य शक्ति है जो कि इन्द्रियातीत है और उसके द्वारा ही इस जगत् का सारा व्यवहार चल रहा है। तब उस विचार पद्धति को आध्यात्मिक विवेचन कहते हैं। अध्यात्मवादियों का मत है कि सूर्य-चन्द्र आदि का व्यवहार यहाँ तक कि वृक्षों के पत्तों का हिलना भी इसी अचिन्त्य शक्ति की प्रेरणा से हो रहा है। सूर्य-चन्द्र आदि में या अन्य स्थानों में भिन्न-भिन्न तथा स्वतन्त्र देवता नहीं हैं। प्राचीन काल से किसी भी विषय का विवेचन करने के लिए ये तीन मार्ग प्रचलित हैं और उनका उपयोग उपनिषद् ग्रन्थों में भी किया गया है।

ज्ञान इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं, या प्राण श्रेष्ठ है इस बात का विचार करते समय बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में एक बार इन इन्द्रियों के अग्नि आदि देवताओं को और दूसरी बार सूक्ष्म रूपों (अध्यात्म) को लेकर उनके बल और अबल का विचार किया गया है (बृ० १–५, २१, २२ और छा० १–२, ३) और गीता के सातवें अध्याय के अन्त में तथा आठवें के आरम्भ में ईश्वर के स्वरूप का जो विचार किया है, वह भी इसी दृष्टि से किया गया है। 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' (गीता १०-३२) इस वाक्य के अनुसार हमारे शास्त्रकारों ने इन तीन मार्गों में से, आध्यात्मिक विवरण को ही अधिक महत्त्व दिया है। ऊपर लिखे तीन शब्दों (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक) के अर्थ को थोड़ा सा बदल करके आजकल प्रसिद्ध आधिभौतिक जर्मन पण्डित कोंट ने आधिभौतिक विवेचन को ही अधिक महत्त्व दिया है।

उनका कहना है कि "सृष्टि के मूल तत्त्व को खोजते रहने से कुछ भी लाभ नहीं, यह तत्त्व अगम्य है अर्थात् इनका बिना गुरू या जानकर के समझ लेना कभी सम्भव नहीं। इसलिए इसकी कल्पित नींव पर किसी शास्त्र की इमारत को खड़ा कर देना न तो सम्भव है और न उचित है। असभ्य और जंगली मनुष्यों ने पहले-पहल जब पेड़, बादल और ज्वालामुखी पर्वत आदि को देखा, तब उन लोगों ने अपने भोलेपन से इन सब पदार्थों को देवता ही मान लिया"। यह कोंट के मतानुसार 'आधिदैविक' विचार हो चुका। परन्तु मनुष्यों ने इन कल्पनाओं को शीघ्र ही त्याग दिया। वे समझने लगे कि इन सब पदार्थों में कुछ-न-कुछ आत्मतत्त्व अवश्य भरा हुआ है। कोंट के मतानुसार मानवी ज्ञान की उन्नति की यह दूसरी सीढ़ी है। इसे वह "आध्यात्मिक" कहता है। परन्तु जब इस रीति से सृष्टि का विचार करने पर भी प्रत्यक्ष उपयोगी शास्त्रीय ज्ञान की कुछ वृद्धि नहीं हो सकी, तब अन्त में मनुष्य सृष्टि के पदार्थों के दृश्य गुण धर्मों ही की ओर अधिक विचार करने लगा, जिससे वह रेल और तार सरीखे उपयोगी आविष्कारों को ढूँढ कर बाह्य सृष्टि पर अपना अधिक प्रभाव जमाने लगा। इस मार्ग को कोंट ने आधिभौतिक नाम दिया है। उसने निश्चित किया है कि किसी भी शास्त्र या विषय का विवेचन करने के लिए अन्य मार्गों की अपेक्षा यही आधिभौतिक मार्ग अधिक श्रेष्ठ और लाभकारी है। कोंट के मतानुसार समाज शास्त्र या कर्मयोग शास्त्र का तात्त्विक विचार करने के लिये इसी आधिभौतिक मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये।

इस मार्ग का अवलम्बन करके इस पण्डित ने इतिहास की आलोचना की और सब शास्त्रों का यही सार अर्थ निकाला है कि इस संसार में प्रत्येक मनुष्य का परम धर्म यही है कि वह समस्त-मानव जाति पर प्रेम रखकर सब लोगों के कल्याण के लिये सदैव प्रयत्न करता रहे। मिल और स्पेन्सर आदि अँग्रेज़ पण्डित उसी मत के पुष्टिकर्त्ता कहे जा सकते हैं। इसके विपरीत हेगेल, शोपेनहार आदि जर्मन तत्त्वज्ञानी पुरुषों ने नीति-शास्त्र विवेचन के लिये इस आधिभौतिक पद्धति को अपूर्ण माना है। हमारे वेदान्तियों की नाईं अध्यात्म दृष्टि से ही नीति के समर्थन करने के मार्ग को आजकल उन्होंने यूरोप में फिर भी स्थापित किया है।

एक ही बात के कई अर्थ होने पर भी, अच्छे और बुरे लगने वाले भिन्न-भिन्न शब्दों का जैसे 'कार्य-अकार्य' और धर्म-अधर्म का उपयोग क्यों होने लगा? इसका कारण यही है कि विषय के मानने या कहने में प्रत्येक की दृष्टि भिन्न-भिन्न होती है। अर्जुन के सामने यह प्रश्न था कि जिस युद्ध में भीष्म, द्रोण आदि का वध करना पड़ेगा, उसमें शामिल होना उचित है या नहीं (गी० २-७)। यदि इसी प्रश्न का उत्तर देने का मौका आधिभौतिक पण्डित पर आता तो पहले वह सोचता कि हानि-लाभ कितना होगा और कुल समाज पर उसका क्या परिणाम होगा? यह विचार करके तब उसने निश्चय किया होता, कि युद्ध करना 'न्याय' है या 'अन्याय'। इसका कारण यह है कि किसी कर्म के अच्छेपन या बुरेपन का निर्णय करते समय ये आधिभौतिक पण्डित यही सोचा करते हैं, कि इस संसार में

उस कर्म का आधिभौतिक परिणाम अर्थात् प्रत्यक्ष बाह्य परिणाम क्या हुआ और क्या होगा ? ये लोग इस आधिभौतिक कसौटी के सिवाय और किसी दूसरे साधन या कसौटी को नहीं मानते। परन्तु ऐसे उत्तर से अर्जुन का समाधान होना सम्भव नहीं था। उसकी दृष्टि उससे भी अधिक व्यापक थी। उसे केवल अपने साँसारिक हित और अनहित का विचार नहीं था, किन्तु उसे पारलौकिक दृष्टि से यह भी विचार करना था कि इस युद्ध का परिणाम मेरी आत्मा पर श्रेयस्कर होगा या नहीं। उसे ऐसी बातों पर कुछ भी शङ्का नहीं थी कि युद्ध में भीष्म, द्रोण आदियों का वध होने पर तथा राज्य मिलने पर मुझे साँसारिक सुख मिलेगा या नहीं अथवा मेरा अधिकार लोगों को दुर्योधन से अधिक सुखदायक होगा या नहीं ?

उसे तो दिखाई दिया कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, वह 'धर्म' है या 'अधर्म' अथवा 'पुण्य' है या 'पाप'। और गीता का विवेचन भी इसी दृष्टि से किया गया है। केवल गीता ही नहीं, किन्तु कई स्थानों पर महाभारत में भी कर्म-अकर्म का जो विवेचन है, वह भी पारलौकिक अर्थात् अध्यात्म-दृष्टि से ही किया गया है। वहाँ किसी भी कर्म का अच्छापन या बुरापन दिखलाने के लिये प्रायः सर्वत्र 'धर्म' और 'अधर्म' दो ही शब्दों का उपयोग किया गया है। परन्तु धर्म और उसका प्रतियोग अधर्म ये दोनों शब्द अपने व्यापक अर्थ के कारण कभी-कभी भ्रम उत्पन्न कर दिया करते हैं। इसलिए यहाँ पर इस बात की कुछ अधिक मीमाँसा करना आवश्यक है कि कर्मयोग-शास्त्र में इन दो शब्दों का उपयोग मुख्यतः किस

अर्थ में किया जाता है। नित्य व्यवहार में 'धर्म' शब्द का अर्थ और उपयोग केवल 'पारलौकिक सुख के मार्ग' में किया जाता है।

जब हम किसी से प्रश्न करते हैं कि—'भाई तेरा कौन सा धर्म है ?' तब उससे हमारे पूछने का यही अभिप्राय होता है कि तू अपने पारलौकिक कल्याण के लिए वैदिक, बौद्ध, जैन ईसाई, मुस्लिम या पारसी में से किस मार्ग पर चलता है, और वह हमारे प्रश्न के अनुसार ही उत्तर देता है। इसी तरह स्वर्ग प्राप्ति के लिए साधनभूत यज्ञ-याज्ञ आदि वैदिक विषयों की मीमाँसा करते समय 'अथातो धर्मजिज्ञासा' आदि धर्म-सूत्रों में भी धर्म शब्द का यही अर्थ किया गया है। परन्तु 'धर्म' शब्द का इतना ही संकुचित अर्थ नहीं है। इसके सिवाय राज-धर्म, प्रजा-धर्म, पिता-धर्म, पुत्र-धर्म, पति-धर्म, पत्नि-धर्म इत्यादि साँसारिक निति-बन्धनों को भी धर्म कहते हैं।

धर्म शब्द के इन दोनों अर्थों को यदि पृथक करके दिखलाना हो तो पारलौकिक धर्म को 'मोक्ष-धर्म' अथवा सिर्फ 'मोक्ष' और व्यावहारिक धर्म अथवा नीति को केवल 'धर्म' कहा करते हैं। 'चतुर्विध पुरुषार्थों', चारों प्रकार के पुरुषार्थ की गणना करते समय भी हम लोग 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' कहा करते हैं। इसके पहले शब्द 'धर्म' में ही मोक्ष का समावेश हो जाता तो अन्त में मोक्ष का पृथक् पुरुषार्थ बतलाने की आवश्यकता न रहती अर्थात् यह कहना पड़ता है कि 'धर्म' पद से इस स्थान पर संसार के सैकड़ों नीति-धर्म ही शास्त्रकार मानते हैं। उन्हीं को हम लोग आजकल कर्त्तव्य-कर्म-नीति,

नीति-धर्म अथवा सदाचरण कहते हैं। परन्तु प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में 'नीति' अथवा 'नीति-शास्त्र' शब्द का उपयोग विशेष करके राजनीति ही के लिए किया जाता है। इसलिए प्राचीन समय में कर्त्तव्य-कर्म अथवा सदाचार के सामान्य विवेचन को 'नीति प्रवचन' न कहकर 'धर्म प्रवचन' कहा करते थे। परन्तु 'नीति' और 'धर्म' दो शब्दों का यह पारिभाषिक भेद सभी संस्कृत ग्रंथों में नहीं माना गया है, इसलिए हमने भी इस ग्रंथ में 'नीति' और 'कर्तव्य' एवं 'धर्म' शब्दों का उपयोग एक ही अर्थ में किया है, और मोक्ष का विचार जिस स्थान पर किया है, उस प्रकरण के 'अध्यात्म' और 'भक्ति मार्ग' ये स्वतन्त्र नाम रक्खे हैं।

महाभारत में कर्म शब्द अनेक स्थानों में आया है और जिस स्थान में कहा गया है कि 'किसी को कोई काम करना धर्म संगत है' उस स्थान में धर्म शब्द से कर्त्तव्य शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्था शास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है। तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है, उस स्थान पर अर्थात् शान्तिपर्व के उत्तरार्ध में मोक्ष-धर्म, इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है। इसी तरह मनु आदि स्मृति ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र के विशिष्ट कर्मों अर्थात् चारों वर्णों के कर्मों का वर्णन करते समय केवल धर्म शब्द का ही अनेक स्थानों पर कई बार उपयोग किया गया है। भगवद्गीता में भी भगवान् अर्जुन से यह कह कर लड़ने के लिए कहते हैं कि 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' (गी० २-३१) तब और इसके बाद 'स्वधर्मेनिधनं श्रेयः परधर्मो-

भयावहः' (गी० ३-३५) इस स्थान पर भी धर्म शब्द 'इस लोक के चारों वर्णों के धर्म' अर्थ में ही प्रयोग हुआ है।

प्राचीन समय के ऋषियों ने श्रम-विभाग रूप चार वर्णों की संस्था इसीलिए चलाई थी कि समाज के सब व्यवहार सरलता से होते रहेंगे। किसी एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्ग पर ही सारा बोझ न पड़ने पावे और समाज के सभी दिशाओं से संरक्षक एवं पोषण भी भली-भाँति होता रहे। यह बात भिन्न है कि कुछ समय के बाद चारों वर्णों के लोग केवल जाति मात्र उपजीवी हो गए, अर्थात् सच्चे स्वकर्म को भूलकर केवल नाम-धारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, अथवा शूद्र हो गए। इसमें संदेह नहीं कि आरम्भ में यह व्यवस्था समाज-धारणार्थ ही की गई थी। यदि चारों वर्णों में से कोई भी एक वर्ण अपना धर्म अर्थात् कर्त्तव्य छोड़ दे अथवा यदि कोई वर्ण समूह नष्ट हो जाय और उसकी स्थान-पूर्ति दूसरे लोगों से न की जाए तो कुल समाज पंगु होकर धीरे-धीरे नष्ट होने लगता है अथवा वह निकृष्ट अवस्था में तो अवश्य ही पहुँच जाता है। यद्यपि यह बात सत्य है कि यूरोप में ऐसे अनेक समाज हैं, जिनका विकास चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के बिना ही हुआ है। परन्तु स्मरण रहे कि उन देशों में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था चाहे न हो किन्तु चारों वर्णों के सब धर्म जाति रूप से नहीं तो गुण विभाग रूप से जाग्रत अवश्य ही रहते हैं। सारांश यह है कि जब हम धर्म शब्द का उपयोग व्यावहारिक दृष्टि से करते हैं तब हम यही देखा करते हैं कि सब समाज का धारण और पोषण कैसे होता है ? मनु ने कहा—'असुखोदर्क' अर्थात् जिसका

परिणाम दुःख कारक होता है, उस धर्म को छोड़ देना चाहिए (मनु० ४–१७६) । और शान्तिपर्व के सत्यानृताध्याय (शान्ति १०६–१२) में धर्म-अधर्म का विवेचन करते हुए भीष्म और उसके पूर्व कर्ण पर्व में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं :

धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्माद् धारयते प्रजा ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना धर्म से ही सब प्रजा बँधी हुई है । यह निश्चय किया गया है कि जिससे सब प्रजा की धारणा होती है, वही धर्म है (महाभारत कर्ण पर्व ६९-५९) । यदि यह धर्म छूट जाय तो समझ लेना चाहिए कि समाज के सारे बन्धन भी टूट गए और यदि समाज के बन्धन टूट गए तो आकर्षण शक्ति के बिना आकाश में सूर्यादि ग्रह-मालाओं की जो दशा होनी चाहिए अथवा समुद्र में मल्लाह के बिना नाव की जो दशा होती है, ठीक वही दशा समाज की भी हो जाती है ।

इसलिए उक्त शोचनीय अवस्था को देखकर समाज को नाश से बचाने के लिए, व्यास जी ने कई स्थानों पर कहा है, कि यदि अर्थ या द्रव्य पाने की इच्छा हो तो 'धर्म के द्वारा' अर्थात् समाज की रचना को न बिगाड़ते हुए ही धन प्राप्त करो और यदि काम वासनाओं को तृप्त करना हो, तो यह भी 'धर्म के अनुकूल' ही करो। महाभारत के अन्त में भी यही कहा है कि:—

उर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम् ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ।

'अरे ! भुजा उठा कर मैं चिल्ला रहा हूँ परन्तु कोई भी नहीं सुनता । धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है । इसलिये इस प्रकारं के धर्म का आचरण तुम क्यों नहीं करते हो ? अब इससे पाठकों के ध्यान में यह बात अच्छी तरह जम जायेगी कि महाभारत को जिस धर्म दृष्टि से पांचवाँ वेद अथवा 'धर्म संहिता' मानते हैं, उस समय 'धर्म संहिता' शब्द के 'धर्म' शब्द का मुख्य अर्थ क्या है ? यही कारण है कि पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा दोनों पारलौकिक अर्थ प्रतिपादक ग्रन्थों के साथ ही, धर्म के नाते से, ''नारायणं नमस्कृत्य'' इन प्रतीक शब्दों के द्वारा महाभारत का भी समावेश ब्रह्म-यज्ञ के नित्य पाठ में कर दिया गया है । धर्म-अधर्म के उपर्युक्त निरूपण को सुनकर कोई यह प्रश्न करे कि यदि तुम्हें 'समाजधारणा, और दूसरे प्रकार के सत्यानृत विवेक में कथित 'सर्वभूतहित' ये दोनों तत्त्व मान्य हैं, तो तुम्हारी दृष्टि में और आधिभौतिक में भेद ही क्या है ? क्योंकि ये दोनों प्रत्यक्ष धर्म मार्ग दिखाने वाले आधिभौतिक ही हैं ।

यहाँ इतना ही कहना बस है कि यद्यपि हमको यह तत्त्व मान्य है कि समाज धारणा ही धर्म का बाह्य उपयोग है तथापि हमारे मत की विशेषता यह है कि वैदिक अथवा अन्य सब धर्मों का जो उद्देश्य, आत्म-कल्याण एवं मोक्ष है, उस पर भी हमारी दृष्टि बनी है । समाज-धारणा को लीजिए चाहे सर्वभूतहित ही हो, यदि ये बाह्य उपयोग तत्त्व हमारे आत्म-कल्याण के मार्ग में बाधा डालें तो हमें इसकी जरूरत नहीं । हमारे आयुर्वेद-ग्रन्थ आदि प्रतिपादन करते हैं कि वैदिक शास्त्र भी शरीर-रक्षा

के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का साधन होने के कारण संग्रहणीय हैं। यह तो कदापि सम्भव नहीं कि जिस शास्त्र में इस महत्त्व के विषय का प्रचार किया गया है, वह सांसारिक व्यवहार किस प्रकार करना चाहिए उस कर्मयोग-शास्त्र को हमारे शास्त्रकार अध्यात्मिक, मोक्ष या ज्ञान से अलग बतलावें। इसलिए हम समझते हैं कि जो कर्म, हमारे मोक्ष अथवा हमारी अध्यात्मिक उन्नति के अनुकूल हो वही पुण्य है, वही धर्म और वही शुभकर्म है और जो कर्म उसके प्रतिकूल हो वही पाप, अधर्म अथवा अशुभ या नीच कर्म है। यही कारण है कि हम कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, कार्य-अकार्य, शब्दों के बदले 'धर्म' और 'अधर्म' शब्दों का ही (यद्यपि वे दो अर्थ के हों अथवा कुछ संदिग्ध हों तो भी) अधिक उपयोग करते हैं। यद्यपि बाह्य सृष्टि के व्यावहारिक कर्मों अथवा व्यापारों का विचार करना ही प्रधान विषय हो, तो भी इन कर्मों के बाह्य परिणाम के विचारों के साथ ही साथ यह विचार भी हम लोग हमेशा किया करते हैं, कि ये व्यापार हमारे आत्म-कल्याण के अनुकूल हैं या प्रतिकूल। यदि आधिभौतिकवादी से कोई यह प्रश्न करे कि मैं अपना हित छोड़कर लोगों का हित क्यों करूँ? तो इसके सिवा और क्या साधना करने वाला उत्तर दे सकता है कि 'यह तो साधारण मनुष्यों का स्वभाव ही है।'

हमारे शास्त्रकारों की दृष्टि इसके भी परे पहुँची हुई है और उस व्यापक आध्यात्मिक दृष्टि ही से महाभारत में कर्म-योग शास्त्र का विचार किया गया है, एवं श्रीमद्भगवद्गीता में वेदान्त का निरूपण इसी के ही लिए किया गया है। प्राचीन

यूनानी पंडित की भी यही राय है कि 'अत्यन्त हित' अथवा 'सद्गुणों की पराकाष्ठा' के समान मनुष्य का कुछ न कुछ परम उद्देश्य कल्पित करके फिर उसी दृष्टि से कर्म-अकर्म का विवेचन करना चाहिए। आरिस्टाटल ने भी अपने नीतिशास्त्र के ग्रन्थ (१-७-८) में कहा है कि आत्मा के हित में ही इन सब बातों का समावेश हो जाता है। तथापि इस विषय में आत्मा के हित के लिए जितनी प्रधानता देनी चाहिए थी उतनी आरिस्टाटल ने दी नहीं! हमारे शास्त्रकारों में यह बात नहीं है।

उन्होंने यह निश्चय किया है कि आत्मा का कल्याण अथवा आध्यात्मिक पूर्णावस्था ही प्रत्येक मनुष्य का पहला और परम उद्देश्य है। अन्य प्रकार के हितों की अपेक्षा आत्मा को प्रधान जानना चाहिए और उसी के अनुसार कर्म-अकर्म का विचार करना चाहिए। अध्यात्म-विद्या को छोड़कर कर्म-अकर्म का विचार करना ठीक नहीं है। जान पड़ता है कि वर्तमान समय में पश्चिमी देशों के कुछ पंडितों ने भी कर्म-अकर्म के विवेचन की इसी पद्धति को स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, जर्मन तत्त्वज्ञानी कांट ने पहिले 'शुद्ध (व्यवसायात्मिक) बुद्धि की मीमांसा' नामक नीति शास्त्र विषयक ग्रन्थ लिखा है और इंगलैंड में भी ग्रीन ने अपने नीति शास्त्र के उपोद्धात का सृष्टि के मूल भूत आत्म-तत्त्व से ही आरम्भ किया है। परन्तु इन ग्रन्थों के बदले केवल आधिभौतिक पंडितों के ही नीति-ग्रन्थ आज तक हमारे यहाँ अंग्रेज़ी पाठशालाओं में पढ़ाये जाते हैं जिसका परिणाम यह देख पड़ता है कि गीता में बतलाए कर्म-

योग शास्त्र के मूल तत्त्वों का हम लोगों में से अंग्रेज़ी सीखे हुए बहुतेरे विद्वानों को भी स्पष्ट बोध नहीं होता। उक्त विवेचन से ज्ञात हो जाएगा कि व्यावहारिक नीति बन्धनों के लिए अथवा समाज धारण की व्यवस्था के लिए हम 'धर्म' शब्द का उपयोग क्यों करते हैं? महाभारत, भगवद्गीता आदि संस्कृत-ग्रन्थों में तथा भाषा के ग्रन्थों में भी व्यावहारिक कर्त्तव्य अथवा नियम के अर्थ में 'धर्म' शब्द का हमेशा उपयोग किया जाता है। कुल धर्म और कुल आचार दोनों शब्द समान अर्थ के समझे जाते हैं। भारतीय युद्ध के समय कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी ने निगल लिया था। उस को उठाकर ऊपर लाने के लिए कर्ण अपने रथ से नीचे उतरा किन्तु अर्जुन को अपना वध करने के लिए तैयार हुआ देखकर कर्ण ने कहा—'निःशस्त्र शत्रु को मारना धर्म-युद्ध नहीं है'। इसे सुनकर श्री कृष्ण ने कर्ण को कई पिछली बातों का स्मरण कराया। जैसे कि द्रोपदी का चीर हरण किया गया, सब लोगों ने मिलकर बालक अभिमन्यु का बध कर डाला, इत्यादि। और प्रत्येक प्रसंग में यह प्रश्न किया कि हे कर्ण! उस समय तेरा धर्म कहाँ गया था? इन सब बातों का वर्णन महाराष्ट्र कवि मोरोपन्त ने किया है और महाभारत में इस प्रसंग पर 'कंते धर्मस्तदा गतः' प्रश्न में धर्म शब्द ही का प्रयोग किया गया है तथा अन्त में कहा गया है कि जो इस प्रकार अधर्म करे, उसके साथ उसी तरह का बर्ताव करना ही उसको उचित दण्ड देना है। सारांश, क्या संस्कृत क्या अन्य भाषा सभी ग्रन्थों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग

उन सब नीति नियमों के बारे में किया गया है। जो समाज-धारण के लिए श्रेष्ठ जनों के द्वारा, अध्यात्म दृष्टि से बनाए गये हैं। इसलिए धर्म शब्द का उपयोग हमने भी इस ग्रन्थ में किया है।

इस दृष्टि से विचार करने पर नीति के उन नियमों अथवा 'शिष्टाचार' को 'धर्म' की बुनियाद कह सकते हैं जो समाज धारणा के लिए श्रेष्ठ जनों के द्वारा प्रचलित किए गए हों और जो सर्व मान्य हो चुके हों। इसलिए महाभारत में एवं (मनु० १०४-१५७) स्मृति ग्रन्थों में 'आचार प्रभावो धर्म' अथवा 'आचार परमोधर्मः' (मनु १-१०८) अथवा धर्म का मूल बतलाते समय 'वेदः स्मृति साचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः' (मनु० २-१२) इत्यादि वचन कहे हैं। परन्तु कर्म योग शास्त्र में इतने ही से काम नहीं चल सकता। इस बात का भी पूरा और मार्मिक विचार करना पड़ता है कि ऐसे प्रचार की प्रवृत्ति ही क्यों हुई—इस आचार की प्रवृत्ति का ही कारण क्या है ? 'धर्म' शब्द की दूसरी एक और व्याख्या प्राचीन धर्म ग्रंथों में दी गई है। उसका भी यहाँ थोड़ा विचार करना चाहिए। यह व्याख्या मीमांसकों की है। 'चोदना लक्षणाऽर्थो धर्म' (जैसू १-१-२) किसी अधिकारी पुरुष का कहना अथवा आज्ञा करना कि 'तू अमुक काम कर' अथवा 'मत कर' 'चोदना' यानी प्रेरणा है। जब तक इस प्रकार का कोई प्रबन्ध नहीं कर लिया जाता, तब तक किसी को कोई भी काम करने की स्वतन्त्रता होती है।

इसका आशय यही है कि पहले-पहल निबन्ध या प्रबन्ध

के कारण, धर्म निर्माण हुआ। धर्म की यह व्यवस्था कुछ अंश में प्रसिद्ध अंग्रेजी ग्रंथकार हाब्स के मत से मिलती है ; असभ्य तथा जंगली अवस्था में प्रत्येक मनुष्य का आचरण समय-समय पर उत्पन्न होने वाली मनोवृत्तियों की प्रबलता के अनुसार हुआ करता है। परन्तु धीरे-धीरे समय के बाद यह मालूम होने लगता है कि इस प्रकार का मन माना बर्ताव उत्तम और लाभदायक नहीं है, और यह विश्वास होने लगता है कि इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यापारों की कुछ मर्यादा निश्चित करके उसके अनुसार बर्ताव करने ही में हम लोगो का कल्याण है। तब प्रत्येक मनुष्य ऐसी मर्यादाओं का पालन नियम अनुसार करने लगता है। यह मर्यादा शिष्टाचार से, अन्य रीति से, सुदृढ़ हो जाया करती है। जब इसी प्रकार की मर्यादाओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है, तब उन्हीं का एक शास्त्र बन जाता है। पूर्व समय में विवाह व्यवस्था का प्रचार नहीं था। पहले पहल उसे श्वेतकेतु ने चलाया। और पीछे बतलाया गया है कि शुक्राचार्य ने मदिरापान को निषिद्ध ठहराया। यह न देखकर कि इन मर्यादाओं को नियुक्त करने में श्वेतकेतु अथवा शुक्राचार्य का क्या हेतु था, केवल इसी एक बात पर ध्यान देकर कि इन मर्यादाओं के निश्चित करने का काम या कर्त्तव्य इन लोगों को करना पड़ा, धर्म शब्द की 'चोदना लक्षणाऽर्थो धर्मः' व्याख्या बनाई गई है। धर्म भी हुआ तो पहले उसका महत्त्व किसी व्यक्ति के ध्यान में आता है और तभी उसकी प्रवृत्ति होती है। खाओ, पीओ, चैन करो! ये बातें किसी को सिखलानी नहीं पड़ती, क्योंकि ये इन्द्रियों के

स्वाभाविक धर्म ही हैं।

मनु जी ने जो कहा कि 'न मांसभक्षणो दोषो न मद्यं च मैथुने' (मनु ५-५६) अर्थात् मांस भक्षण करना अथवा मद्यपान और मैथुन करना कोई सृष्टि कर्म-विरुद्ध दोष नहीं है। इस का तात्पर्य भी यही है, कि ये सब बातें मनुष्य ही के लिए नहीं; किन्तु प्राणीमात्र के लिये स्वाभाविक हैं। 'प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्' समाज की इस धारणा के लिये अर्थात् सब लोगों के लिये इन स्वाभाविक आचरणों का उचित प्रतिबन्ध करना ही धर्म है। महाभारत (शा०२९४—२९) में भी कहा है—

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिकोविशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिर्समानाः॥

आहार, निद्रा, भय और मैथुन, मनुष्यों और पशुओं के लिए एक ही समान स्वाभाविक हैं। मनुष्यों और पशुओं में कुछ भेद है, तो केवल धर्म का। इन स्वाभाविक वृत्तियों को मर्यादा में रखने का जिस मनुष्य में धर्म नहीं है वह पशु के समान ही है। आहारादि स्वाभाविक वृत्तियों को मर्यादा में रखने के विषय में भागवत् का श्लोक पिछले प्रकरण में दिया गया है। इसीप्रकार भगवद्गीता में भी जब अर्जुन से भगवान् कहते हैं :—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(गी० ३-३४)

प्रत्येक इन्द्रिय में, अपने-अपने उपभोग्य अथवा त्याज्य पदार्थ के विषय में जो प्रीति अथवा द्वेष होता है, वह स्वभाव सिद्ध है। इनके वश में हमें नहीं होना चाहिये, क्योंकि राग

और द्वेष दोनों हमारे शत्रु हैं। तब भगवान् भी धर्म का यही लक्षण स्वीकार करते हैं, जो स्वाभाविक मनोवृत्तियों को मर्यादा में करने के विषय में ऊपर दिया गया है। मनुष्य की इन्द्रियाँ उसे पशु के समान आचरण करने के लिये कहा करती हैं। और उसकी बुद्धि विपरीत दिशा में खेंचा करती है। इस कलह-अग्नि में, जो लोग अपने शरीर में संचार करने वाले पशुत्त्व का यज्ञ करके कृत्य-कृत्य (सफल) होते हैं, उन्हें ही सच्चा यज्ञ करने वाला कहना चाहिये और वही धन्य भी हैं। धर्म आचार-प्रभाव का कहिये एवं 'धारणात्' धर्म मानिये अथवा 'चौदनलक्षणा' धर्म समझिए, धर्म की अथवा व्यावहारिक नीति बन्धनों की कोई व्याख्या लीजिए, परन्तु जब धर्म-अधर्म का संशय उत्पन्न होता है, तब उसका निर्णय करने के लिए उपर्युक्त दोनों लक्षणों का कुछ उपयोग नहीं होता। पहली व्याख्या से सिर्फ़ यह मालूम होता है, कि धर्म का मूल स्वरूप क्या है? उसका बाह्य उपभोग दूसरी व्याख्या से मालूम होता है और तीसरी से यही बोध होता है कि पहले पहल किसी ने धर्म की मर्यादा कर दी है। परन्तु अनेक आचार्यों में भेद पाया जाता है। एक ही कर्म के अनेक परिणाम होते हैं और अनेक ऋषियों की आज्ञा अर्थात् 'चोदन' भी भिन्न-भिन्न है। इन कारणों से सँशय के समय धर्म-निर्णय के लिये किसी दूसरे मार्ग को ढूँढने की आवश्यकता होती है। यह मार्ग कौन सा है? यही प्रश्न यक्ष ने युधिष्ठिर से किया था। उस समय युधिष्ठिर ने उत्तर दिया है कि :—

तर्कोऽप्रतिष्ठःश्रुतयो विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्यवचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथा॥

'यदि तर्क को देखें तो वह चचंल है अर्थात् जिसकी बुद्धि जैसी तीव्र होती है, वैसे ही अनेक प्रकार के अनेक अनुमान उसकी बुद्धि मे घर कर जाते हैं। श्रुति अर्थात् वेद अज्ञायें देखी जायें तो यह भिन्न-भिन्न हैं और स्मृति शास्त्रों को देखें तो ऐसा एक भी ऋषि नहीं है, जिसका वचन अन्य ऋषियों की अपेक्षा अधिक प्रमाणभूत समझा जाय। अच्छा, इस व्यावहारिक धर्म का मूल तत्त्व देखा जाये तो वह भी अन्धकार में छिप गया है क्योंकि वह साधारण मनुष्यों की समझ में नहीं आ सकता। इसलिये महाजन अर्थात् गत् महापुरुष जिस मार्ग से गये हों, वही धर्म का मार्ग ठीक है (म० भा० बन०३१२.११५) परन्तु महाजन किसको कहना चाहिए ? इसका अर्थ 'बड़ा अथवा बहुत सा जन-समूह' नहीं हो सकता। क्योंकि जिन साधारण लोगों के मन में धर्म-अधर्म की शंका भी उत्पन्न नहीं होती, उनके बतलाए हुए मार्ग से जाना मानो कठोपनिषद् में वर्णित 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' वाली नीति को चरितार्थ करना है। अब यदि महाजन अर्थात् बड़े-बड़े सदाचारी पुरुषों का अर्थ लिया जाये और यही अर्थ इस श्लोक में छिपा हुआ है तो उन महाजनों के आचरणों में भी एकता कहाँ है ? निष्पाप श्री रामचन्द्र जी ने अग्नि द्वारा शुद्ध हो जाने पर भी अपनी पत्नी सीता जी का त्याग केवल लोक निन्दा के ही भय से किया और सुग्रीव को अपने पक्ष में मिलाने के लिये उससे 'तुल्यरिमित्र' अर्थात् जो तेरा शत्रु वही मेरा शत्रु और जो तेरा मित्र वही मेरा मित्र, इस प्रकार सन्धि करके बेचारे बाली का बध किया। यद्यपि बाली ने श्री रामचन्द्र जी का कुछ भी अपराध नहीं

किया था। परशुराम जी ने पिता की आज्ञा से प्रत्यक्ष अपनी माता का सिर छेदन कर डाला। यदि पाण्डवों का आचरण देखा जाये, तो पाँचों की एकही स्त्री थी! स्वर्ग के देवताओं को देखें तो कोई अहिल्या का सतीत्व भ्रष्ट करने वाला है और कोई (ब्रह्मा) मृग रूप से अपनी ही कन्या की अभिलाषा करने के कारण रुद्र के बाण से बिन्ध कर आकाश में पड़ा हुआ है (ऐ० ब्रा० ३-३३)। इन्हीं बातों को मन में लाकर उत्तर राम चरित्र नाटक में भवभूति ने लव के मुख से कहलाया है कि 'वृद्धास्ते न विचारणीयचरिता' इन वृद्धों के कृत्यों का बहुत विचार नहीं करना चाहिए। अंग्रेजी में शैतान का इतिहास लिखने वाले एक ग्रंथकार ने लिखा है, कि शैतान के साथियों और देवदूतों के झगड़ों का हाल देखने से मालूम होता है कि कई बार देवताओं ने ही दैत्यों को कपट जाल में फंसा लिया।

इसी प्रकार कौषतिकी ब्राह्मणोपनिषद् (कौषी ३-१) और (ऐ० ब्रा० ७-२८) में इन्द्र प्रतर्दन से कहता है कि—'मैंने वृत्र को (यद्यपि वह ब्राह्मण था) मार डाला। अरुनमुख सन्यासियों के टुकड़े-टुकड़े करके भेड़ियों को खाने के लिए दिए और अपनी कई प्रतिज्ञाओं को भंग करके प्रह्लाद के नातेदारों और गोत्रजों का तथा पौलम और कालखंज नामक दैत्यों का बध किया, (इससे) मेरा एक बाल भी बाँका नहीं हुआ—'तस्यमे तत्र लोम चमा मीयते' यदि कोई कहे कि 'तुम्हें इन महात्माओं के बुरे की ओर ध्यान देने का कुछ भी कारण नहीं है, जैसा कि तैत्तिरियोपनिषद् (१-११२) में बतलाया गया है, कि उनके

जो कर्म अच्छे हों उन्हीं का अनुकरण करो और बाकी सब छोड़ दो उदाहरणार्थ, परशुराम के समान पिता की आज्ञा का पालन करो, 'परन्तु माता की हत्या मत करो' तो वही पहला प्रश्न फिर भी उठता है कि बुरा कर्म और भला कर्म समझने के लिए साधन है क्या ? इसलिए अपनी करनी का उक्त प्रकार से वर्णन कर इन्द्र प्रतर्दन से फिर कहता है कि—'जो पूर्ण आत्मज्ञानी है, उसे मातृ-बध, पितृ-बध, बालक, स्त्रीहत्या का अथवा स्तेय (चोरी) इत्यादि किसी भी कर्म का दोष नहीं लगता। इस बात को तू भलीभाँति समझ ले और यह भी समझ ले कि आत्मा किसे कहते हैं। ऐसा जानने से तेरे सारे संशयों की निवृत्ति हो जायगी।' इसके बाद इन्द्र ने प्रतर्दन को आत्मविद्या का उपदेश दिया। सारांश यह है कि 'महाजनों येन गतः स पन्थः' यह उक्ति यद्यपि सामान्य लोगों के लिए चाहे सरल हो, तो भी यह सब बातों मे इससे निर्वाह नहीं हो सकता। और अन्त में महाजनों के आचरण का सच्चा तत्त्व कितना भी गूढ़ हो, तो आत्मज्ञान में घुस कर विचारवान पुरुषों को उसे ढूँढ निकालना ही पड़ता है। 'न देवचरित चरेत्'—देवताओं के केवल बाहरी चरित्र के अनुसार आचरण नहीं करना चाहिए' इस उपदेश का रहस्य भी यही है। इसके सिवा कर्म-अकर्म का निर्णय करने के लिये कुछ लोगों ने एक सरल युक्ति बतलाई है।

उनका कहना है कि कोई भी सद्गुण हो, उसकी अधिकता न होने देने के लिए हमें हमेशा यत्न करते रहना चाहिए, क्योंकि इस अधिकता से ही अन्त में सद्गुण दुर्गुण बन बैठता है। जैसे देना सचमुच सद्गुण है, परन्तु 'अति दानाद्वलिर्वद्धः'—दान

की अधिकता होने से ही राजा बलि फांसा गया। प्रसिद्ध युनानी पंडित आरिस्टाटल ने अपने नीति शास्त्र के ग्रन्थ में, कर्म के निर्णय की यही युक्ति बतलाई है और स्पष्ट रूप में दिखलाया है कि किसी भी सद्गुण की अधिकता होने पर कैसी दुर्दशा होती है। भर्तृहरि ने भी कुछ गुण-दोषों का वर्णन करते हुए कहा है कि अधिक बोलना वाचालता का लक्षण और कम बोलना घून्नापन है। यदि ज्यादा खर्च करें तो उड़ाऊ और कम खर्च करें तो कन्जूस, आगे बढ़ें तो दुस्साहसी और पीछे हटें तो कायर, अतिशय आग्रह करें तो जिद्दी और न करें तो चंचल, ज्यादा खुशामद करें तो नीच और ऐंठ दिखलाये तो घमंडी हैं। परन्तु इस प्रकार की स्थूल कसौटी से अन्त तक निर्वाह नहीं हो सकता। क्योंकि, 'अति' किसे कहते हैं और 'नैमित' किसे कहते हैं इसका भी तो कुछ निर्णय करना चाहिये तथा यह निर्णय कौन, किस प्रकार करे? किसी एक को अथवा किसी एक मौके पर जो बात 'अति' होगी, वही बात दूसरे को अथवा दूसरे समय पर कम हो जायेगी। हनुमान जी को पैदा होते ही सूर्य को पकड़ने के लिये उड़ान मारने का काम कठिन नहीं मालूम पड़ा (बा० रामा० ७-३५) परन्तु यह बात औरों के लिये कठिन क्या, असम्भव जान पड़ती है। इसलिए जब धर्म-अधर्म के विषय में सन्देह उत्पन्न हो, तब प्रत्येक मनुष्य को ठीक वैसा ही निर्णय करना पड़ता है जैसा श्येन ने राजा शिवि से कहा है—

अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मःसत्यविक्रम।

विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरू लाघवम्,
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत् ॥

परस्पर विरुद्ध धर्मों का तारतम्य अथवा लघुता और गुरुता देखकर ही प्रत्येक मौके पर अपनी बुद्धि के द्वारा सच्चे धर्म अथवा कर्म का निर्णय करना चाहिये। (महा० वन १३१-११-१२ और मनु ६-२९९)। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि इतने ही से धर्म-अधर्म के सार-असार का विचार करना ही शंका के समय धर्म निर्णय की एक सच्ची कसौटी है। क्योंकि, व्यवहार में अनेक बार देखा जाता है, कि अनेक पंडित लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सार-असार का विचार भी भिन्न-भिन्न प्रकार से किया करते हैं और एक ही बात की नीति का निर्णय भी भिन्न-रीति से किया करते हैं। यही अर्थ उपर्युक्त 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' वचन में कहा गया है। इसलिए अब हमें जानना चाहिए कि धर्म-अधर्म संशय के इन प्रश्नों का अचूक निर्णय करने के लिए अन्य कौन से साधन या उपाय हैं, या नहीं, यदि हैं तो कौन-कौन से हैं और यदि अनेक उपाय हैं, तो उनमें से श्रेष्ठ कौन है ? बस, इस बात का निर्णय कर देना ही शास्त्र का काम है। शास्त्र का यही लक्षण भी है कि 'अनेक संशयोच्छेदि परीक्षार्थस्य दर्शकम्' शंकाओं को छेदन करके सबसे पहले उन विषयों के मिश्रण को अलग अलग कर देवे जो कि समझ में नहीं आते हैं। फिर उसके अर्थ को सुगमता पूर्वक स्पष्ट करके जो बातें आँखों से देख न पड़ती हों, उनका, अथवा आगे होने वाली बातों का भी यथार्थ ज्ञान करा देवे। जब हम इस बात को सोचते हैं कि ज्योतिष

शास्त्र सीखने से आगे होने वाले ग्रहणों का भी सब हाल मालूम हो जाता है, तब इन्हीं लक्षणों के 'परिक्षार्थस्य दर्शकम्' इस दूसरे भाग की सार्थकता अच्छी तरह देख पड़ती है। परन्तु अनेक संशयों का समाधान करने के लिए पहले यह जानना चाहिए कि वह कौन सी शंकाएं हैं। इसलिए प्राचीन और अर्वाचीन ग्रंथकारों की यह रीति है, कि किसी भी शास्त्र का सिद्धांत पक्ष बतलाने के पहले, उस विषय में जितने पक्ष हो गए हों, उनका विचार करके उनके दोष और उनकी न्यूनताएँ दिखलाई जाती हैं।

इसी रीति को स्वीकार कर गीता में कर्म-अकर्म निर्णय के लिए प्रतिपादन किया हुआ सिद्धान्त माननीय है। योग की युक्ति बतलाने के पहले, इसी काम के लिए जो अन्य युक्तियाँ पंडित लोग कहलाया करते हैं, उनका भी अब हम विचार करेंगे। यह सत्य है कि ये युक्तियाँ हमारे यहाँ पहले प्रचार में नहीं थी विशेष करके पश्चिमी पंडितों ने ही वर्तमान समय में उनका प्रचार किया है। परन्तु इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता, कि उनकी चर्चा इस ग्रन्थ में न की जावे। क्योंकि न केवल तुलना ही के लिए, किन्तु गीता के आध्यात्मिक कर्मयोग का महत्त्व ध्यान में लाने के लिए भी इन युक्तियों को चाहे संक्षेप में ही क्यों न हों, जान लेना अत्यन्त आवश्यक है।

गीता में कहा गया है कि 'ब्राह्मणे गवि हस्तिनी' (गी० ५-१८) विद्या विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता तथा चांडाल में पंडितों की सम बुद्धि होती है। इसलिए यदि कोई गाय के लिए लाया हुआ चारा ब्राह्मण को, और ब्राह्मण के

लिए बनाई गई रसोई गाय को खिलाने लगे, तो क्या उसे पंडित कहेंगे ? अज्ञानी मूर्ख लोग इस प्रश्न का महत्त्व भले ही न मानें, पर कर्मयोग शास्त्र की बात ऐसी नहीं है। धर्म-अधर्म के स्वरूप को ध्यान में रखकर, स्वार्थ-परायण लोगों के समाज में स्थितप्रज्ञ यह निश्चय करके बर्त्तता है। देश काल के अनुसार उसमें कौन-कौन हेर-फेर कर देना चाहिए, कर्मयोग शास्त्र का यही तो विकट प्रश्न है। साधु पुरुष स्वार्थी लोगों पर नाराज़ नहीं होते अथवा उनकी लोभ-बुद्धि देखकर के अपने मन की समता को डिगने नहीं देते। किन्तु इन्हीं लोगों के कल्याण के लिए वे अपने उद्योग को केवल कर्त्तव्य समझकर वैराग्य से करते रहते हैं।

इसी तत्त्व को मन में लाकर श्री समर्थ रामदास जी ने दास-बोध के प्रारम्भ में पहिले ब्रह्मज्ञान बतलाया है और फिर (११-१०-१२-८-१०-१५-२) इस बात का वर्णन आरम्भ किया है कि स्थितप्रज्ञ या उत्तम पुरुष सर्वसाधारण लोगों को चतुर या ज्ञानी बनाने के लिए वैराग्य से अर्थात् निःस्पृहता से लोक-संग्रह के निमित्त व्यापार या उद्योग किस प्रकार किया करते हैं, आगे अठारवें दशक (दास० ८–२) में कहा है कि सभी को ज्ञानी पुरुष अर्थात् जानकार के गुण-कथा, बातचीत, युक्ति, दाव-पेंच, प्रसंग, प्रयत्न, तर्क, चतुराई, राजनीति-सहन-शीलता, तीक्ष्णता, उदारता, अध्यात्म-ज्ञान, श्रद्धा, भक्ति, ध्यान, अलिप्तता, वैराग्य, धैर्य, उत्साह, दृढ़ता, निग्रह, समता, और विवेक आदि सीखना चाहिए। परन्तु इस निःस्पृह साधु को लोभी मनुष्यों में ही बर्त्तना है। इस कारण अन्त में (दास०

१६६–३०) श्री समर्थ रामदास जी का यह उपदेश है, कि लट्ठ का सामना लट्ठ ही से करा देना चाहिए, उजड्ड के लिए उजड्ड ही चाहिए और नटखट के सामने नटखट की ही आवश्यकता है। भगवान् ने भी कहा है :

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्यः पार्थ सर्वशः ।।
(गी० ४–११)

हे अर्जुन ! जो मेरे को जैसे भजते हैं, मैं उनको वैसे ही भजता हूँ, इस रहस्य को जानकर ही बुद्धिमान सब प्रकार से मेरे मार्ग के अनुसार बर्त्तते हैं। अर्थात् भक्त लोग प्रेम, श्रद्धा और भक्ति भाव से मेरा ही चिन्तन करते हैं।

लक्ष्मण जी का निषाद राज के प्रति

* भक्ति उपदेश *

कोऊ काहू नहीं सुख दुःख दाता ।
निज कृत कर्म फल भोग सुनु भ्राता ।।
योग-वियोग, भोग, भल मन्दा ।
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ।।
जन्म मरण जहँ लगि जग जालू ।
सम्पत्ति विपत्ति कर्म अरु कालू ।।
धरणि धाम, धन, पुर परिवारू ।
स्वर्ग-नर्क जहँ लगि व्यवहारू ।।
देखिये सुनिय गुनिय मन माहीं ।
मोह मूल परमार्थ नाहिं ।।

स्वपने होय भिखारि नृप, रंक नाकपति होय ।
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोय ।।

अस विचारि नहीं कीजिये रोषू ।
बादि न काहूहि दीजिये दोषू ।।
मोह निशा सब सोवनि हारा ।
देखहिं स्वप्न अनेक प्रकारा ।।
येहि जग जामिनि जागहिं योगी ।
परमार्थी प्रपंच वियोगी ।।
जानिय तबहिं जीव जग जागा ।
जब सब विषय विलास विरागा ।।

होय विवेक मोह भ्रम भागा । तब रघुनाथ चरण अनुरागा ।
सखा परम परमार्थ एहू । मन-कर्म-वचन राम पद नेहू ।।
राम ब्रह्म परमारथ रूपा । अविगत-अलख-अनादि-अनूपा ।
सकल विचार रहित गत भेदा । कहि नित्त नेति निरूपहिं वेदा ।।

भक्त-भूमि-भूसुर-सुरभि, सुरहित लागि कृपाल ।
करत चरित धरि मनुज तन, सुनत मिटहिं जग जाल ।।

निर्गुण ब्रह्म सुलभ अति, सगुण न जाने कोय ।
सुगम-अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होय ।।

भक्ति-योग

अब तक अध्यात्म दृष्टि से इन बातों पर विचार किया गया है कि सर्वभूतात्मैक्य रूपी निष्काम-बुद्धि ही कर्म-योग की और मोक्ष की जड़ है। यह शुद्ध बुद्धि परमात्मा के ज्ञान से ही प्राप्त होती है और शुद्ध बुद्धि से प्रत्येक मनुष्य को अपने जन्म भर स्वधर्म के अनुसार, प्राप्त हुए कर्त्तव्य कर्मों का पालन करना चाहिए। परन्तु इतने ही से भगवद्गीता में प्रतिपादित भक्ति के विषय का विवेचन पूरा नहीं होता। यद्यपि इसमें सन्देह नहीं, कि ब्रह्म का ज्ञान ही केवल सत्य और अन्तिम साध्य है तथा उसके समान इस संसार में दूसरी कोई भी वस्तु पवित्र नहीं है (गी० ४—३८)। तथापि अब तक उसके विषय में जो विचार किया गया है और उसकी सहायता से समता बुद्धि प्राप्त करने का जो मार्ग बताया गया है, वह सब बुद्धि-गम्य है। इसलिए सामान्य जनों की शंका है कि उस विषय को पूरी तरह से समझने के लिए प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि इतनी तीव्र कैसे हो सकती है और यदि किसी मनुष्य की बुद्धि तीव्र न हो तो क्या उसको ब्रह्म की एकता से हाथ धो बैठना चाहिए? सच कहा जाय तो यह शंका भी कुछ अनुचित नहीं देख पड़ती। 'यदि कोई कहे कि जब बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुष भी अविनाशी नाम-रूपात्मक माया से आच्छादित तुम्हारे उस अमृतस्वरूपी परब्रह्म का वर्णन करते समय 'नेति-नेति' कहकर चुप हो जाते हैं। तब हमारे समान

साधारण जनों की समझ में वह ज्ञान कैसे आवे ? इसलिए हमें कोई ऐसा सरल उपाय या मार्ग बताओ, जिस से तुम्हारा वह गहन ब्रह्म-ज्ञान, हमारी अल्प ग्रहण-शक्ति से समझ में आ जावे —जो ऐसा कहता है, उसका क्या दोष है ? गी० २–२९ और कठोपनिषद् २–७ में कहा है कि आश्चर्य से चकित होकर आत्मा (ब्रह्म) का वर्णन करने वाले तथा सुनने वाले बहुत हैं, तो भी किसी को उसका ज्ञान नहीं होता। श्रुति ग्रन्थों में इस विषय पर एक बोध दायक कथा आती है। उसमें यह वर्णन है कि जब बाष्कलि ने बाह्व से कहा—'हे महाराज ! मुझे कृपा करके बतलाइए कि ब्रह्म किसे कहते हैं ? तब बाह्व कुछ भी नहीं बोले। बाष्कलि ने फिर वही प्रश्न किया, तो बाह्व चुप ही रहे। जब ऐसा ही चार पाँच बार हुआ तब बाह्व ने बाष्कलि से कहा, अरे ! मैं तो तेरे प्रश्नों का उत्तर तभी से दे रहा हूँ। परन्तु तेरी समझ में नहीं आया तो मैं क्या करूँ ? ब्रह्म स्वरूप किसी प्रकार बतलाया नहीं जा सकता, इसलिए शाँत होना अर्थात् चुप रहना ही सच्चा ब्रह्म-लक्षण है। समझा ? (वेसू-शां भा, ३–२-१७)। साराँश, विलक्षण, अनिर्वाच्य और अचिन्त्य पारब्रह्म का वर्णन नहीं है और वह मुँह बन्द करके बतलाया जाता है। आँखों से दिखाई न देने पर भी उसे देख सकते हैं और समझ में न आने पर भी वह मालूम होने लगता है (केन० २–११)। उस को साधारण बुद्धि के मनुष्य कैसे पहिचान सकेंगे और उसके द्वारा साम्यावस्था प्राप्त होकर उनको सद्गति कैसे मिलेगी ?

जब परमेश्वर-स्वरूप का अनुभवात्मक और यथार्थ ज्ञान ऐसा हो जावे कि सब चराचर सृष्टि में एक ही आत्मा प्रतीत होने लगे तभी मनुष्य की पूरी उन्नति होगी मगर ऐसी उन्नति कर लेने के लिए, तीव्र बुद्धि के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही न हो तो संसार के लाखों करोड़ों मनुष्यों को ब्रह्म-प्राप्ति की आशा छोड़कर चुपचाप बैठ जाना होगा क्योंकि बुद्धिमान मनुष्यों की संख्या हमेशा कम रहती है। यदि यह कहें कि बुद्धिमान लोगों के कथन पर विश्वास रखने से हमारा काम चल जायगा, तो उनमें कई मतभेद दिखाई देते हैं। और यदि यह कहें कि विश्वास रखने से काम चल जाता है, तो यह बात आप ही आप सिद्ध हो जाती है, कि इस बुद्धि-गम्य गहन ज्ञान की प्राप्ति के लिए 'विश्वास अथवा श्रद्धा रखना' भी बुद्धि के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग है। सच पूछो तो यही देख पड़ेगा कि सत्य ज्ञान की पूर्ति अथवा फल प्राप्ति श्रद्धा के बिना नहीं होती। यह कहना कि सत्य ज्ञान केवल बुद्धि ही से प्राप्त होता है, उसके लिए किसी अन्य मनोवृति की सहायता आवश्यक नहीं तो उस पंडित का वृथा अभिमान है। जिनकी बुद्धि केवल तर्क-प्रधान शास्त्रों का जन्म भर अध्यापन करने से कर्कशा हो गई है, श्रद्धा और प्रेम रहित वे इस भेद को नहीं जान सकते। उदाहरण के लिए यह सिद्धान्त लीजिए कि कल सबेरे फिर सूर्य उदय होगा। हमलोग इस सिद्धान्त के ज्ञान को अत्यन्त निश्चित मानते हैं, क्यों? उत्तर यही है, कि हमने और हमारे पूर्वजों ने इस काम को अखंडित देखा है। परन्तु कुछ अधिक

विचार करने से मालूम होगा कि 'हमने अथवा हमारे पूर्वजों ने अब तक प्रतिदिन सवेरे सूर्य को निकलते देखा है' यह बात कल सवेरे सूर्य उदय होने का कारण नहीं हो सकती। अथवा प्रतिदिन हमारे देखने के लिए या हमारे देखने से कुछ सूर्य उदय नहीं होता। यथार्थ में सूर्य उदय होने का कुछ और ही कारण है। अच्छा अब यदि 'हमारा सूर्य को प्रतिदिन देखना, कल सूर्य उदय का कारण नहीं है; तो फिर इस के लिए क्या प्रमाण है कि कल सूर्य उदय होगा ! दीर्घ काल तक किसी वस्तु का क्रम एक सा बिना बाधा के देख पड़ने पर यह मान लेना भी एक प्रकार का विश्वास या श्रद्धा ही तो है। कहना पड़ेगा कि वह क्रम आगे भी वैसा ही नित्य चलता रहेगा। इसको हम लोग एक बड़ा प्रतिष्ठित नाम 'अनुमान' दे दिया करते हैं। तो भी यह ध्यान रखना चाहिए कि यह अनुमान बुद्धिगम्य कार्य-कारणात्मक नहीं है, किन्तु उसका मूल स्वरूप आत्म श्रद्धा ही है। मन्नू को शक्कर मीठी लगती है, इसलिए छन्नू को भी शक्कर मीठी ही लगेगी। यह जो निश्चय हम लोग किया करते हैं वह भी वस्तुतः इसी नमूने का है। क्योंकि जब कोई कहता है कि मुझे शक्कर मीठी लगती है, तब इस ज्ञान का अनुभव उसकी बुद्धि को प्रत्यक्ष रूप से होता है। परन्तु इससे भी आगे बढ़कर जब हम यह कहते हैं कि शक्कर सब मनुष्यों को मीठी लगती है तब बुद्धि को श्रद्धा की सहायता दिये बिना काम नहीं चल सकता। रेखा-गणित या शास्त्र का सिद्धान्त है कि ऐसी दो सरल रेखायें होती हैं जो चाहे जितनी बढ़ाई जावें तो आपस में कहीं नहीं

मिलती। कहना नहीं होगा कि इस तत्त्व को अपने ध्यान में लाने के लिए हमको अपने प्रत्यक्ष अनुभव के भी परे केवल श्रद्धा की सहायता से ही चलना पड़ता है। इसके सिवाय यह भी ध्यान रखना चाहिये कि संसार के सब व्यवहार श्रद्धा, प्रेम आदि नैसर्गिक मनोवृत्तियों से ही चलते हैं। इन वृत्तियों को रोकने के सिवाय, बुद्धि दूसरा कोई कार्य नहीं करती। जब बुद्धि किसी बात की भलाई या बुराई का निश्चय कर लेती है, तब आगे उस निश्चय को अभ्यास में लाने का काम मन के द्वारा अर्थात् मनोवृत्तियों के द्वारा ही हुआ करता है। बुद्धिगम्य ज्ञान की पूर्ति होने के लिए और आगे आचरण तथा कर्म में उसकी फल प्राप्ति करने के लिये इस ज्ञान को हमेशा श्रद्धा, दया वात्सल्य, कर्त्तव्य, प्रेम इत्यादि नैसर्गिक मनोवृत्तियों की आवश्यकता होती है। जो ज्ञान इन मनोवृत्तियों को शुद्ध तथा जागृत नहीं करता, और जिस ज्ञान को उनकी सहायता प्राप्त नहीं होती; उसे रूखा, कोरा, कर्कश, अधूरा, बांझ या कच्चा ज्ञान समझना चाहिए। जैसे बिना बारूद और बन्दूक के केवल गोली नहीं चलती, वैसे ही प्रेम श्रद्धा आदि मनोवृत्तियों की सहायता के बिना केवल बुद्धिगम्य ज्ञान किसी को तार नहीं सकता। यह सिद्धान्त हमारे प्राचीन ऋषियों को भलीभाँति मालूम था। उदाहरण के लिये छांदोग्योपनिषद् में वर्णित यह कथा लीजिए (छा० ६-१२)। एक दिन श्वेतुकेतु के पिता ने यह सिद्ध कर दिखाने के लिए कि अव्यक्त और सूक्ष्म पारब्रह्म ही सब दृश्य जगत का मूल कारण है

श्वेतकेतु से कहा कि बरगद का एक फल ले आओ और देखो कि उसके भीतर क्या है ? श्वेतकेतु ने वैसा ही किया । उस को तोड़ कर देखा और कहा 'इसके अन्दर छोटे-छोटे बहुत से बीज या दाने हैं' उसके पिता ने फिर कहा इन बीजों में से एक बीज ले लो, उसे तोड़ कर देखो और बताओ कि उसके भीतर क्या है ? श्वेतकेतु ने एक बीज ले लिया, उसे तोड़ कर देखा और कहा कि इसके भीतर कुछ नही है । तब पिता ने कहा–'अरे ! यह जो तुम कुछ नही कहते हो, इसी से यह बरगद का बहुत बड़ा वृक्ष हुआ है और अन्त में यह उपदेश किया कि 'श्रद्धस्व' अर्थात् इस कल्पना को केवल बुद्धि में रख कर मुंह से ही 'हां' मत कहो, किन्तु उसके आगे भी चलो । भाव यह है कि इस तत्त्व को अपने हृदय में अच्छी तरह जमने दो और आचरण करने में दिखाई देने दो । सारांश यह कि निश्चयात्मक ज्ञान होने के लिये भी श्रद्धा की आवश्यकता है । सृष्टि की इस बात को पूर्णतया जान लेने के लिये कि सारी सृष्टि का मूल तत्त्व अनन्त, अनादि, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र और चैतन्य रूप है—पहले हम लोगों को जहाँ तक हो सके बुद्धि रूपी बटोही का अवलम्बन करना चाहिये । परन्तु बुद्धि के अनुरोध से आगे कुछ दूर तो अवश्य ही श्रद्धा तथा प्रेम की पगडन्डी से ही जाना होगा । देखिये जिसे मैं मां कहकर ईश्वर के समान पूज्य मानता हूँ उसे ही अन्य लोग एक सामान्य स्त्री समझते हैं । इस एक छोटे से व्यावहारिक उदाहरण से यह बात किसी के भी ध्यान में सहज में आ सकती है कि जब केवल तर्क शास्त्र के सहारे प्राप्त किया गया ज्ञान, श्रद्धा और प्रेम के

सांचे में ढाला है, तब उस में कैसे अन्तर हो जाता है ? इसी कारण से गीता (६-४७) में कहा है कि कर्म-योगियों में भी श्रद्धावान श्रेष्ठ है और ऐसा ही सिद्धान्त, जैसे पहिले कह आये हैं, अध्यात्म शास्त्र में भी किया गया है। इन्द्रियों के द्वारा जिस वस्तु का चिन्तन करते नहीं बनता, उस के स्वरूप का निर्णय केवल तर्क से नहीं करना चाहिये। यही एक अड़चन है जो कि साधारण मनुष्यों के यदि निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान होना कठिन है, तो बुद्धिमान पुरुषों में मतभेद होने पर भी श्रद्धा या विश्वास से उनका निवारण किया जा सकता है। कारण यह है कि इन पुरुषों में जो अधिक विश्वास-नीय होगें, उन्हीं के वचनों पर विश्वास रखने से हमारा काम चल जाएगा (गी० १२-२०)। तर्क शास्त्र में इस उपाय को "आप्त वचन प्रमाण" कहते हैं। 'आप्त' का अर्थ विश्वास-नीय है। जगत के व्यवहार पर दृष्टि डालने से यही दिखाई देगा, कि हज़ारों लोग आप्त वाक्य पर ही अपना व्यवहार चलाते हैं। दो पंजे दस के बदले बारह क्यों नहीं होते, अथवा एक पर एक लिखने से दो नहीं होते, ग्यारह ही क्यों होते हैं इस विषय की उत्पत्ति या कारण बतलाने वाले पुरुष बहुत कम मिलते हैं। तो भी इन सिद्धान्त को सत्य मानकर ही जगत का व्यवहार चल रहा है। ऐसे लोग बहुत ही कम मिलेगें जिन्हें इस बात का प्रत्यक्ष ज्ञान है, कि हिमालय की ऊँचाई ५ मील है या १० मील। परन्तु जब कोई यह प्रश्न पूछता है कि हिमालय कि ऊँचाई कितनी है, तब भूगोल की पूस्तक में पढ़ी हुई 'तीस हजार फीट *'(Feet)'* संख्या हम तुरन्त ही बतला देते हैं।

यदि इसी प्रकार कोई पूछे कि 'ब्रह्म कैसा है' तो यह उत्तर देने में क्या हानि है कि वह 'निर्गुण' है? वह सचमुच ही निर्गुण है या नहीं, इस बात की पूरी जांच कौन करे? बाधक प्रमाणों की मीमांसा करने के लिए सामान्य लोगों में बुद्धि की तीव्रता भले ही न हो परन्तु श्रद्धा या विश्वास कुछ ऐसा मनो-धर्म नहीं है, जो महा बुद्धिमान पुरुषों में ही पाया जाय। साधकों में भी श्रद्धा की कुछ कमी नहीं होती। जबकि श्रद्धा से ही वे लोग अपने सैकड़ों सांसारिक व्यवहार किया करते हैं। उसी श्रद्धा से यदि वे ब्रह्म को निर्गुण मान लेवें तो कोई आश्चर्य नहीं देख पड़ता। मोक्ष-धर्म का इतिहास पढ़ने से मालूम होगा कि जब ज्ञाता पुरुषों ने ब्रह्म स्वरूप की मीमांसा करके उसे निर्गुण बतलाया, उसके पहिले ही मनुष्यों ने केवल अपनी श्रद्धा से यह जान लिया था, कि सृष्टि की जड़ में सृष्टि के नाशवान और अनित्य पदार्थों से भिन्न या विलक्षण कोई एक तत्त्व है अनन्त, अमृत, स्वतन्त्र, सर्वशक्तिमान, सर्वत्र और सर्वव्यापी है मनुष्य उसी समय से उस तत्त्व की उपासना किसी न किसी रूप में करता चला आया है। यह सच है कि वह उस समय इस ज्ञान की उत्पत्ति बतला नहीं सकता था। परन्तु आधि-भौतिक शास्त्रों में भी यही क्रम देख पड़ता है, कि पहले अनुभव होता है और पश्चात् उसकी उत्पत्ति बतलाई जाती है। जैसे भास्कराचार्य को शक्ति अथवा अन्त में न्यूटन को पृथ्वी में आकर्षण शक्ति की कल्पना सूझने के पहिले भी यही बात अनादि काल से सब लोगों को मालूम थी, कि पेड़ से गिरा हुआ फल नीचे पृथ्वी पर गिरता है। विचारने की बात तो यह है कि न्यूटन आदि

वैज्ञानिकों के, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति को जानने से पहिले क्या वृक्ष का टूटा हुआ फल आकाश की ओर जाता था ? नहीं ! तब भी नीचे गिरता था भले ही वे लोग लिखते या कहते न हों। आध्यात्मिक शास्त्र में भी यही नियम उपयुक्त है। श्रद्धा से प्राप्त हुए ज्ञान की जांच करना और उसकी उत्पत्ति की खोज करना बुद्धि का काम है तो सही, परन्तु सब प्रकार योग्य उत्पत्ति न मिलने से ही यह नहीं कहा जा सकता कि श्रद्धा प्राप्त होने वाला ज्ञान केवल भ्रम है।

सिर्फ़ इतना ही जान लेने से हमारा काम चल जावे कि ब्रह्म निर्गुण है, तो इसमें संदेह नहीं कि यह काम उपर्युक्त कथन के अनुसार श्रद्धा से चलाया जा सकता (गीता० १३-१५)। परन्तु हम प्रथम ही कह चुके हैं कि ब्रह्म स्थिति की (सिद्ध अवस्था की) प्राप्ति कर लेना ही इस संसार में मनुष्यों का परम साध्य या अन्तिम ध्येय है और उसके लिए केवल यह कोरा ज्ञान, कि ब्रह्म निर्गुण है, किसी काम का नहीं। दीर्घकाल के अभ्यास और नित्य की आदत से इस ज्ञान का प्रवेश हृदय में तथा देह इन्द्रियों में अच्छी तरह हो जाना चाहिए और आचरण के द्वारा सभी में एक ब्रह्मात्मा बुद्धि ही हमारी देह का स्वभाव होना चाहिए। ऐसी स्थिति के लिये परमेश्वर के सत्य स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करके फिर प्रेम पूर्वक चिन्तन करके मन को परमात्मा के स्वरूप में तदाकार करना ही एक सुलभ उपाय है। यही मार्ग या साधन हमारे देश में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है और इसी को भक्ति या उपासना कहते हैं। शांडिल्य सूत्र (२) में इस प्रकार कहा है कि 'सा (भक्ति) परानुरक्ति-

रश्विरे' ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम को भक्ति कहते हैं। भगवत् पुराण में कहा है कि वह प्रेम निःस्वार्थ, निष्काम और निरन्तर होना चाहिये। 'अहेतुक्य व्यवहिता भक्ति पुरुषोत्तमे' (भाग० ३-२९, १२) भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम होने को ही भक्ति कहते हैं।

पढ़ पढ़ के पत्थर भए, लिख लिख हो गए ईंट ।
कबिरा अन्तर प्रेम की, लगी न एको छींट ॥
पढ़ पढ़ पोथी जग मुआ, पंडित भया न कोय ।
एक ही अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय ॥

भक्ति के मार्ग में किसी वस्तु की चाहना नहीं होती। मांगना ही प्रेम मार्ग में बाधक है। मांग तो बालों को भी दो हिस्सों में बाँट देती है। जब इस हेतु से भक्ति की जाती है कि हे ईश्वर मुझे कुछ दे, तब वैदिक यज्ञ-याज्ञ आदि काम्य कर्मों के समान ही कुछ न कुछ व्यापार का स्वरूप बन जाता है। ऐसी भक्ति राजस या रजोगुणी कहलाती है। ऐसी राजस भक्ति से मन की पूरी पूरी शुद्धि नहीं होती। जब चित्त की पूरी पूरी शुद्धि नहीं होती तो आत्म-उन्नति और मोक्ष प्राप्ति में बाधा आ जाती है। अध्यातम शास्त्र प्रतिपादन करता है कि पूर्ण निष्कामता का तत्त्व ही भक्ति मार्ग में सहायक होता है। गीता में भी भगवान् ने भक्तों की चार श्रेणियां बताई हैं।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ गी० ७-१६

प्रथम भक्त वे हैं जो दु:ख निवृति के लिये भगवान् की भक्ति करते हैं। दूसरे अर्थ के लिये और तीसरे जानने के लिये भगवान् की भक्ति करते हैं। किन्तु ज्ञानी तो भगवान् का ही स्वरूप होता है। पर जो कुछ भी पाने के लिए भगवान् की भक्ति करता है, उसे निकृष्ट श्रेणी का भक्त बताया है। उत्तम भक्त परमेश्वर का ज्ञान होने के कारण स्वयं अपने लिए कुछ भी प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखता। गीता (३-१८)। उस पुरुष का सम्पूर्ण भूतों में कुछ भी स्वार्थ भाव नहीं होता। परन्तु नारद आदिकों के समान "ज्ञानी" पुरुष तो केवल कर्त्तव्य बुद्धि से ही परमेश्वर की भक्ति करता है, वही सब भक्तों में श्रेष्ठ है (गी० ७-१६-१८)। यह भक्ति भगवतपुराण (७-५-२३) के अनुसार नौ प्रकार की बताई है। जैसे:—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम् ॥

भजन या भक्ति के नौ भेद बतलाए गए हैं। १—श्रवणं—सुनना, २—कीर्तनं—भगवान् का गुणानुवाद करना, ३—विष्णोः स्मरणं—भगवान् के स्वरूप का वा भगवान् के नाम का चिन्तन करना, ४—पाद सेवनम्—चरणों की सेवा करना, ५—अर्चनं—चरणों की पूजा करना, —वन्दनं—वन्दना एवं नमस्कार करना, ७—दास्यं—दास भाव, ८—सख्य—सखा भाव, ९—आत्म निवेदनं—अपने आप को पूर्ण रूप से श्री 'हरि' के अर्पण करना ही आत्म निवेदन भक्ति है। वास्तव में आठ प्रकार की भक्ति आने पर आत्म निवेदन

स्वयं ही हो जाता है। इन सब भेदों का निरूपण दासबोध आदि ग्रन्थों में विस्तार रीति से किया गया है। नारद जी के भक्ति सूत्र में इसी भक्ति के ग्यारह भेद बताये गए हैं। पर हम यहाँ पर उनकी विशेष चर्चा न करके भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने भिलनी के प्रति जो नवधा भक्ति का निरूपण किया है, उसी का वर्णन करेंगे।

कह रघुपति सुनु भामिनी बाता।
मानहुँ एक भक्ति कर नाता॥
जाति पांति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुण चतुराई॥
भक्ति हीन नर सोहइ कैसे। बिन जल बारिद देखिये जैसे॥
नवधा भक्ति कहौं तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भक्ति सन्तन कर संगा। दूसरी रति मम कथा प्रसंगा॥

पहली भक्ति सन्तों के निकट जाकर सत्संग श्रवण करना और दूसरी भक्ति कथा के प्रसंग में रति अर्थात् प्रेम होना। जितने भी मनुष्य दान पुण्य आदि शुभ कर्म करता है, इन सब का फल मरने के बाद अर्थात् चौरासी में मिलता है। मगर सत्संग रूपी गंगा में नहाने का फल तो उसी समय मिल जाता है। सच्चा सुख और आनन्द सन्तों की संगत करने से ही मिलता है।

मुद मंगल मय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीर्थ राजू॥
जे श्रद्धा सम्बल रहित, नहिं सन्तन्ह कर साथ।
तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ॥

जो श्रद्धा रूपी धन से हीन हैं, सन्तों की संगत से दूर रहते हैं और जिन्हें भगवान् के मिलने एवं दर्शन करने की उत्कंठा

नहीं है, वे लोग राम भक्ति के रहस्य को नहीं जान सकते। सन्त-महात्मा सभी कालों और सभी देशों से रहते हैं। मगर भाग्यहीन लोग अपने अभिमान के वशीभूत होकर सत्संग से लाभ नहीं उठा सकते।

बट विश्वास अचल निज धर्मा। तीर्थ राज समाज सुकर्मा॥
सबहि सुलभ सब दिन सब देशा। सेवत सादर शमन कलेशा॥
अकथ अलौकिक तीर्थ राऊ। देय सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥

सुनि समुझहिं जनै मुदित मन, मज्जहि अति अनुराग।
लहहि चारि फल अछत तनु, साधु समाज प्रयाग॥

सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ॥
बिनु सत्संग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥
मज्जन फल पेखिय तत्काला। काक होहि पिक बकऊ मराला॥

तीर्थों का राजा, प्रयाग राज को माना जाता है। मगर सच्चा तीर्थ राज तो सन्त समाज है। जिसमें नहाने का फल तत्काल मिल जाता है। कौवे के स्वभाव वाला मनुष्य कोयल और बगुले के स्वभाव वाला मनुष्य 'हंस' बन जाता है। राम भक्ति का तो अधिकारी ही वह है, जिसे सन्तों की संगत प्यारी लगती है।

राम भक्ति के ते अधिकारी।
जिन को सत्संगति अति प्यारी॥

भक्ति स्वतन्त्र सकल सुख खानी। बिन सत्संग न पावहिं प्रानी॥
भक्ति तात अनुपम सुख मूला। मिलहिं जो सन्त होहिं अनुकूला॥

भक्ति सब सुखों और गुणों का खज़ाना है। भक्ति जप, तप, पूजा, पाठ, यज्ञ, हवन, तीर्थ व्रत आदि के आधीन नहीं है। भक्ति अनुपम तथा स्वतन्त्र है। किन्तु भक्ति तभी मिलती है जब कि सन्त मिल जावें और अनुकूल होकर भक्ति का उपदेश देवें। जिस पर भगवान् की परम कृपा होती है, जिसको भगवान् अपनी भक्ति देना चाहते हैं, उसी को सन्तों का दर्शन होता है।

सन्त विशुद्ध मिलहिं पुनि तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही ॥
पुन्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता। सत्संगति संसृति कर अन्ता ॥

सन्तों के मिलने से भक्ति मिलती है और भक्ति में लगने से संसार के सभी क्लेशों का नाश हो जाता है।

गुरू पद पंकज सेवा, तीसरी भक्ति अमान।
चौथी भक्ति मम गुण गण, करइ कपट तजि गान ॥

तीसरी भक्ति सब प्रकार के अभिमान को त्यागकर श्रीगुरु महाराज जी के चरण कमलों की सेवा करना। जब गुरू धारण करेगा, तभी तो गुरू की सेवा करेगा। जो गुरू की शरण में नहीं जाता, वह भक्ति के मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता। मन-मानी भक्ति करने से तेली के बैल की नाईं जहाँ सवेरे बन्धता है, शाम को वहीं खुलता है। छल-कपट को त्याग कर भगवान् का गुणानुवाद करना ही चौथी भक्ति है।

मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकाशा ॥
षठ दम शील विरती बहु कर्मा। निरत निरन्तर सज्जन धर्मा ॥
सप्तम मोहि मय सब जग देखे। मोते सन्त अधिक करि लेखे ॥
अष्टम यथा लाभ संतोषा। स्वपनेहु नहीं देखे पर दोषा ॥
नवम सरल सब सन छल हीना। मम भरोस हिय हर्ष न दीना ॥

नव महँ एकउ जिन्हके होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोई अतिशय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भक्ति दृढ़ तोरे ॥
जोगी-वृन्द दुर्लभ गति जोई। तोकहुँ आजु सुलभ भई सोई ॥
मम दर्शन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा ॥

सब प्रकार तब भाग बड़, मम चरनन अनुराग।
तव महिमा जेहि उर बसहिं, तासु परम बड़ भाग ॥

भक्ति किसी प्रकार की हो, यह प्रगट है कि परमेश्वर में स्वार्थ-रहित निष्कामपूर्ण परम प्रेम रखकर अपनी वृत्ति को तदाकार करना, भक्ति का सामान्य काम प्रत्येक मनुष्य को अपने मन से ही करना पड़ता है। बुद्धि नामक जो अन्तर इन्द्रिय है, वह केवल भले बुरे, धर्म-अधर्म अथवा कार्य-अकार्य का निर्णय करने के सिवा और कुछ भी नहीं करती। शेष मानसिक कार्य मन को ही करने पड़ते हैं। अर्थात् मन के ही दो भेद हो जाते हैं एक भक्ति करने वाला मन और दूसरा उसका उपास्य याने जिस पर प्रेम किया जाता है। उपनिषदों में जिस श्रेष्ठ ब्रह्म-स्वरूप वस्तु का प्रतिपादन किया गया है, वह इन्द्रियातीत, अव्यक्त' अनन्त, निर्गुण और 'एकमेवाद्वितीय' है, इसलिए उपासना का आरम्भ उस स्वरूप में नहीं हो सकता, कारण यह है कि जब श्रेष्ठ ब्रह्म-स्वरूप का अनुभव होता है, तब मन अलग नहीं रहता। किन्तु उपास्य और उपासक, अथवा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक रूप हो जाते हैं। निर्गुण ब्रह्म अन्तिम साध्य वस्तु है साधन नहीं। जब तक किसी साधन से निर्गुण ब्रह्म के साथ एक रूप होने की पात्रता मन में नहीं

आतीं, तब तक श्रेष्ठ ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार हो ही नहीं सकता। अतएव साधन की दृष्टि से की जाने वाली उपासना के लिए ब्रह्म स्वरूप को स्वीकार करना पड़ता है, वह दूसरी श्रेणी अर्थात् उपास्य और उपासक के भेद से मन के गोचर होने वाला सगुण ब्रह्म-स्वरूप ही होता है। इसलिए उपनिषदों में जहाँ-जहाँ ब्रह्म की उपासना कही गई है, वहाँ-वहाँ उपास्य ब्रह्म के अव्यक्त होने पर भी सगुण रूप से ही इसका वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ—शांडिल्य विद्या में जिस ब्रह्म की उपासना कही गई है वह यद्यपि अव्यक्त अर्थात् निराकार है तथापि छांदोग्योपनिषद् (३-१४) में कहा है कि वह प्राण-शरीर, सत्य, संकल्प, सर्व-गन्ध, सर्व-रस, सर्व-कर्म अर्थात् मन को गोचर होने वाले सब गुणों से युक्त है। स्मरण रहे कि, यहाँ उपास्य ब्रह्म यद्यपि सगुण है, तथापि वह अव्यक्त अर्थात् निराकार है। परन्तु मनुष्य के मन की स्वाभाविक रचना ऐसी है कि सगुण वस्तुओं में से भी जो अव्यक्त होती है, अर्थात् जिसका कोई विशेष रूप रंग आदि नहीं जो नेत्रादि इन्द्रियों से अगोचर है, उसमें प्रेम रखना, या हमेशा उसका चिन्तन करना, मनको उसी में स्थिर करके वृत्ति को तदाकार करना, मनुष्य के लिए बहुत कठिन और दुःसाध्य ही है। क्योंकि मन स्वभाव से ही चंचल है। इसलिए जब तक मन के सामने आधार के लिये कोई इन्द्रिय गोचर स्थित वस्तु न हो, तब तक यह मन बारम्बार उसे भूल जाता है। मन स्थिर कहाँ होता है ? इसको अनेकों मनुष्य नहीं जानते। चित्त की स्थिरता का यह मानसिक कार्य बड़े-बड़े ज्ञानी पुरुषों को

भी दुष्कर प्रतीत होता है। फिर साधरण मनुष्यों के लिये तो कहना ही क्या है? रेखागणित के सिद्धान्तों की शिक्षा लेते समय जिस प्रकार ऐसी रेखा की कल्पना करने के लिये कहा जाता है, कि जो अनादि, अनन्त और बिना चौड़ाई वाली (अव्यक्त) है किन्तु जिसमें लम्बाई का गुण होने से सगुण है, उस रेखा का एक छोटा सा नमूना स्लेट पर व्यक्त करके दिखलाना पड़ता है। उसी प्रकार ऐसे परमेश्वर पर प्रेम करने और उसमें अपनी वृत्ति को लीन करने के लिए, कि जो सर्वकर्त्ता सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ निराकार अर्थात् अव्यक्त है मन के सामने, 'प्रत्यक्ष नाम रूपात्मक किसी वस्तु के रहे बिना, साधारण मनुष्यों का काम नहीं चल सकता'। क्योंकि पहले किसी व्यक्त पदार्थ के देखे बिना मनुष्यों के मन में अव्यक्त की कल्पना की जागृति हो ही नहीं सकती। जैसे कि जब हम लाल, हरे इत्यादि अनेक व्यक्त रंगों के पदार्थ पहले आँखों से देख लेते है तभी रंगों की सामान्य और अव्यक्त कल्पना जागृत होती है। यदि ऐसा न हो तो 'रंग' की यह अव्यक्त कल्पना हो ही नहीं सकती। अब चाहे इसे कोई मनुष्य के मन का स्वभाव कहे या दोष, कुछ भी कहा जाय किन्तु जब तक मनुष्य अपने मन के इस स्वभाव को अलग नहीं कर सकता तब तक उपासना अथवा भक्ति के लिये निर्गुण से सगुण में—और उसमें भी अव्यक्त सगुण की अपेक्षा व्यक्त सगुण में आना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है। यही कारण है कि व्यक्त सगुण उपासना मार्ग अनादि काल से प्रचलित है। राम तापनीय आदि

उपनिषदों में मनुष्य रूप धारी व्यक्त ब्रह्म-स्वरूप की उपासना का वर्णन है और गीता में भी यही कहा गया है कि :—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

'अव्यक्त में चित्त एवं मन की एकाग्रता करने वालों को अनेक कष्ट होते हैं। क्योंकि इस अव्यक्त गति को पाना मनुष्य के लिए स्वभाव से ही कष्टदायक है' (गी० १२–५)। किन्तु सगुण में चित्त सहज में ही लग जाता है। इस प्रत्यक्ष मार्ग को ही 'भक्तिमार्ग' कहते हैं। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि कई बुद्धिमान पुरुष अपनी बुद्धि से पारब्रह्म के स्वरूप का निश्चय करके उस अव्यक्त स्वरूप में केवल अपने विचारों के बल से अपने मन को स्थिर करने का प्रयास करते हैं, यद्यपि इसमें भी उनको श्रद्धा और प्रेम का सहारा लेना पड़ता है, परन्तु वे मन की स्थिरता को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। इस मार्ग में ध्यान करने के लिए जिस ब्रह्म-स्वरूप को स्वीकार किया जाता है उसे अव्यक्त बुद्धिगम्य अर्थात् ज्ञान मार्ग कहते हैं। परन्तु वस्तुतः यह ज्ञान मार्ग है नहीं। ज्ञान मार्ग में भी ब्रह्म के निराकार ज्योतिरूप का साक्षात्कार होना परमावश्यक होता है। उपर्युक्त तथाकथित ज्ञान-मार्ग पर चलकर अन्तिम सीढ़ी तक पहुँचना अत्यन्त ही दुर्लभ है।

ज्ञान का पंथ कृपाण की धारा, परत खगेश न लागहि बारा।
ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका, साधन कठिन न मन कहँ टेका॥
कहत कठिन, समुझत कठिन, साधन कठिन विवेक।
होय घुणाक्षर न्याय ज्यों, पुनि प्रत्यूह अनेक॥

ज्ञान मार्ग एवं निराकार ब्रह्म की उपासना का मार्ग कृपाण की धारा है। कृपाण रक्षा भी करती है, तो अपना ही संहार भी कर सकती है। ज्ञान मार्ग से भटकने में देर नहीं लगती क्योंकि ज्ञान मार्ग में मन के टिकाने का कोई भी ठिकाना नहीं है। इसलिए कहने में, समझने में और विवेक के साधन में अनेक कठिनाईयाँ आती है। जैसे लकड़ी को खाने वाला कीड़ा (घुण) कोई अक्षर बनाना तो नहीं जानता, मगर स्वतः ही कोई अक्षर बन जावे तो बन जावे। ऐसे ही ज्ञान मार्ग का कोई ही पथिक मोक्ष पद तक पहुँचता है। अन्यथा स्वयं को ब्रह्म समझने वाले ज्ञानी, संसार के विषय कटक मार्ग में ही फँस कर रह जाते हैं। भक्ति मार्ग दीनता का और ज्ञान मार्ग अहंकार का सूचक है। जो पृथ्वी पर पड़ा है, उसे गिरने का कोई भय नहीं है मगर जो जितनी अधिक ऊँचाई से गिरता है, उसे उतनी ही अधिक चोट लगती है। ठीक भक्ति मार्ग के सरल, सीधे और सुलभ मार्ग को छोड़कर, जो ज्ञान के गहन और पथरीले मार्ग पर चलता है, वह अपने ध्येय से गिरने पर उतनी ही गहरी अधमता को प्राप्त होता है।

सगुण ब्रह्म की उपासना में भी जब अव्यक्त के बदले व्यक्त देह-धारी रूप स्वीकृत किया जाता है, तभी वह भक्ति-मार्ग कहलाता है। यों तो इन दोनों मार्गों से एक ही परमात्मा की प्राप्ति होती है और अन्त में एक ही जैसी साम्य बुद्धि उत्पन्न होती है। जिस प्रकार किसी छत पर जाने के लिए दो जीने होते हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न मनुष्यों की योग्यता अनुसार ज्ञान और भक्ति अनादि काल से भिन्न-भिन्न यह दो

मार्ग हैं। इन दो मार्गों की भिन्नता होने पर भी अन्तिम साध्य या ध्येय में कुछ अन्तर नहीं होता। इसमें एक जीने की पहली सीढ़ी बुद्धि है, तो दूसरे जीने की पहली सीढ़ी श्रद्धा और प्रेम है। किसी भी मार्ग से जाओ, अन्त में परमेश्वर का एक ही जैसा ज्ञान होता है। दोनों ही मुक्ति पद को प्राप्त होते हैं। इसीलिए दोनों मार्गों में यही सिद्धान्त स्थिर रहता है कि आत्मिक अनुभव ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता एवं एक ही मुक्त पद प्राप्त होता है। इसीलिए दोनों मार्गों में यही एक सिद्धान्त स्थिर रहता है, कि 'अनुभवात्मक ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता।' फिर यह व्यर्थ बखेड़ा करने से क्या लाभ है कि ज्ञान मार्ग श्रेष्ठ है या भक्ति-मार्ग श्रेष्ठ है ? यद्यपि ये दोनों साधन प्रथमावस्था में अधिकार या योग्यता के अनुसार भिन्न हों, तथापि अन्त में अर्थात् परिणामरूप में तो दोनों ही की योग्यता समान है। और गीता में इन दोनों को एक ही 'अध्यात्म' नाम दिया गया है (गी० ११-१)। साध्य की दृष्टि से ज्ञान और भक्ति की योग्यता एक ही समान है। इसमें संदेह नहीं कि अध्यात्म विचार से या अव्यक्त उपासना से परमेश्वर का जो ज्ञान होता है वही भक्ति से होता है (गी० १८-५५) परन्तु इस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर आगे यदि कोई मनुष्य सांसारिक कार्यों को छोड़ दे और ज्ञान ही में सदा निमग्न रहने लगे तो गीता के अनुसार वह अधूरी 'ज्ञाननिष्ठा' कहलावेगी। जब तक भक्ति की क्रिया ज्ञान के साथ जारी नहीं रहती है तब तक उपास्य की प्राप्ति विशुद्ध रूप से नहीं होती। अन्तिम एक ब्रह्म में स्थिति होने पर अन्य

किसी प्रकार की उपासना शेष नहीं रहती। भक्ति का अन्तिम फल भी ज्ञान है भक्ति ज्ञान का साधन है। सारांश अव्यक्त उपासना की दृष्टि से ज्ञान एक बार साधन हो सकता और दूसरी बार ब्रह्म के एकत्त्व भाव की दृष्टि से उसी ज्ञान को निष्ठा या सिद्धावस्था की अन्तिम स्थिति कह सकते हैं। जब इस भेद को प्रकट रूप में दिखलाने की आवश्यकता होती है, 'तब ज्ञान मार्ग और ज्ञान निष्ठा' दोनों शब्दों का उपयोग समान अर्थ में नहीं किया जाता, किन्तु अव्यक्त उपासना की साधन अवस्था वाली स्थिति दिखलाने के लिये 'ज्ञान मार्ग' शब्द का उपयोग किया जाता है और ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर सब कर्मों को छोड़कर ज्ञान ही में निमग्न हो जाने की जो सिद्ध अवस्था की स्थिति है, उसके लिये 'ज्ञान निष्ठा' शब्द का उपयोग किया जाता है अर्थात् अव्यक्त उपासना या अध्यात्म विचार के अर्थ में ज्ञान को एक बार साधन (ज्ञान-मार्ग) कह सकते हैं और दूसरी बार परमात्मा के साक्षात्कार अर्थ में उसी ज्ञान को निष्ठा या कर्म त्याग रूपी अन्तिम अवस्था कह सकते हैं। यही बात कर्म के विषय में भी कही जा सकती है। शास्त्रों की मर्यादा के अनुसार जो कर्म पहले चित्त की शुद्धि के लिये किया जाता है, वह साधन कहलाता है। इस कर्म में पहले चित्त की शुद्धि होती है और अन्त में ज्ञान तथा शांति की प्राप्ति होती है। परन्तु यदि कोई मनुष्य इस ज्ञान में निमग्न न रह कर शान्ति पूर्वक मृत्यु-पर्यन्त निष्काम-कर्म करता चला जावे, तो ज्ञान-युक्त निष्काम-कर्म की दृष्टि से उसके इस कर्म को निष्ठा कहते हैं (गी० ३-३)। पर यह बात भक्ति के विषय में

नहीं कह सकते, क्योंकि भक्ति केवल ज्ञान प्राप्ति का एक मार्ग, उपाय या साधन ही नहीं है, उसे निष्ठा नहीं कह सकते। गीता के आरम्भ में भी ज्ञान (सांख्य) और योग (कर्म) यही दो निष्ठा कही गई हैं। उनमें से कर्म-योग-निष्ठा की सिद्धि के उपाय, साधन, विधि या मार्ग पर विचार किया गया है (गी० ७-१)। अव्यक्त उपासना (ज्ञान-मार्ग) और व्यक्त उपासना (भक्ति-मार्ग) के दो साधन प्राचीन समय से एक साथ चले आ रहे हैं। उनका वर्णन करते समय गीता में कहा है कि इन दोनों में से अव्यक्त उपासना बहुत क्लेशमय है और व्यक्त उपासना या भक्ति सुलभ है, क्योंकि भक्ति साधन को सब लोग स्वीकार कर सकते हैं। प्राचीन उपनिषदों में ज्ञान मार्ग ही का विचार किया गया है और शाण्डिल्य आदि सूत्रों में तथा भागवत् आदि ग्रन्थों में भक्ति-मार्ग ही की महिमा गाई गई है। परन्तु साधन दृष्टि से ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग में योग्यतानुसार भेद दिखलाकर भी अन्त में दोनों का मेल निष्काम कर्म के साथ, जैसे गीता में सम-बुद्धि से किया है वैसा अन्य किसी भी प्राचीन धर्म-ग्रन्थ में नहीं पाया जाता।

ईश्वर के स्वरूप का यथार्थ अनुभव—यह आत्मिक ज्ञान होने के लिए कि सब प्राणियों में एक ही परमेश्वर है, 'देह इन्द्रिय धारी, मनुष्यों को क्या करना चाहिए ?' इस प्रश्न का विचार उपर्युक्त रीति से करने पर जान पड़ेगा कि यद्यपि परमेश्वर का श्रेष्ठ स्वरूप अनादि, अनन्त, अनिर्वाच्य तथा अचिंत्य है और वेदों ने 'नेति नेति' कहा है, किन्तु वही निर्गुण, अज्ञय और अव्यक्त भी है। पर जब उसका अनुभव होता है,

तब उपास्य, उपासक रूपी द्वैत-भाव शेष नहीं रहता। इसीलिये उपासना आरम्भ वहां से नहीं हो सकती क्योंकि वह तो केवल अन्तिम साध्य है, साधन नहीं। मन एवं बुद्धि तद्रूप होने की जो अद्वैत स्थिति है, उसकी प्राप्ति के लिए उपासना केवल एक साधन या उपाय है अतएव उस उपासना में जिस वस्तु को स्वीकार करना है, उसका सगुण होना अत्यन्त आवश्यक है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी और निराकार ब्रह्मस्वरूप वैसा अर्थात् सगुण है। परन्तु वह केवल बुद्धिगम्य और अगोचर होने के कारण उपासना के लिए अत्यन्त क्लेशमय है। अतएव प्रत्येक धर्म में यह देख पड़ता है कि परमेश्वर के इन दोनों स्वरूपों की अपेक्षा जो परमेश्वर अचिंत्य, सर्वसाक्षी, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान, जगदात्मा होकर भी हमारे समान हमसे बोलेगा, हम पर प्रेम करेगा, हमको सन्मार्ग दिखायेगा और सद्गति देगा, जिसे हम लोग 'अपना' कह सकें जिसे हमारे सुख-दुःखों के साथ सहानुभूति होगी या जो हमारे अपराधों को क्षमा करेगा, जिसके साथ हम लोगों का यह प्रत्यक्ष सम्बन्ध उत्पन्न हो कि 'हे परमेश्वर ! मैं तेरा हूँ और तू मेरा है।' जो पिता के समान रक्षा करेगा और माता के समान प्यार करेगा, अथवा 'गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरण सुहृत' (गी० ९-१७ और १८ अर्थात् जिसके विषय में मैं यह कहूँगा कि 'तू मेरी गति है, तू मेरा पोषण करता है, तू मेरा स्वामी है, तू मेरा साक्षी है, तू मेरा विश्राम स्थान है, तू मेरा अन्तिम आधार है, मेरा तू सखा है, और ऐसा कहकर बच्चों की नाई प्रेम-पूर्वक तथा लाड़ से जिसके स्वरूप का मैं दर्शन कर सकूँगा;

ऐसे सत्य-संकल्प, सर्व-क्लेशों को दूर करने वाले, दयासागर, भक्तवत्सल, परमपवित्र, परमउदार, परमकारुणिक, परमपूज्य, सर्वसुन्दर, सकल-गुण-निधान, अथवा संक्षेप में कहें तो ऐसे लाड़ले सगुण, प्रेमगम्य, और व्यक्त यानि प्रत्यक्ष रूपधारी, सुलभ परमेश्वर के स्वरूप का सहारा, मनुष्य भक्ति के लिए स्वभावत: ही लिया करता है। जो परब्रह्म मूल में अचिंत्य और 'एकमेवाद्वितीयम्' है उसके इस प्रकार के अन्तिम दो स्वरूपों को (अर्थात् प्रेम, श्रद्धा आदि मनोमय नेत्रों से मनुष्य को गोचर होने वाले स्वरूप को) ही वेदान्त शास्त्र की परिभाषा में ईश्वर कहते हैं। परमेश्वर सर्वव्यापक होकर भी मर्यादित क्यों हो गया ? इसका उत्तर प्रसिद्ध महाराष्ट्र साधु तुकाराम ने एक पद्य में दिया है, जिसका आशय यह है :

रहता है सर्वत्र ही व्यापक एक समान ।
पर निज भक्तों के लिए, छोटा है भगवान् ॥

यही सिद्धाँन्त वेदान्तसूत्रों में भी दिया गया है (१–२-७) उपनिषदों में भी जहाँ-जहाँ ब्रह्म की उपासना का वर्णन है वहाँ-वहाँ प्राण, मन इत्यादि सगुण और केवल अव्यक्त वस्तुओं का निर्देश न कर, उनके साथ-साथ सूर्य (आदित्य) चन्द्रमा और अग्नि सगुण और व्यक्त पदार्थों की उपासना भी कही गई है (तै० ३–२६, छा० ७)। श्वेताश्वेतरोपनिषद् में तो ईश्वर का लक्षण इस प्रकार बतलाकर, कि 'माया तू प्रकृति विद्यात् माथिन तुमहेश्वरम्' (४–१०)। प्रकृति या, माया और इस माया के अधिपति को महेश्वर जानो। इस के समान ही (गी० १०–३) में सगुण ईश्वर की महिमा

का वर्णन किया है। फिर—'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्येसेऽशुभात्' (गी० ६–१), इस देव को जान लेने से मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाता है। कहा है—यह जो नाम—रूपात्मक वस्तु उपास्य परब्रह्म के चिह्न, पहिचान, अवतार, अंश या प्रतिनिधि के तौर पर उपासना के लिए आवश्यक है, उसी को वेदान्त शास्त्र में 'प्रतीक' कहते हैं। प्रतीक (प्रति + इक) प्रति = अपनी ओर इक = झुका हुआ। जब किसी वस्तु का कोई एक भाव पहिले गोचर हो और फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं। इस नियम के अनुसार सर्वव्यापी परमेश्वर का ज्ञान होने के लिए उसका कोई भी प्रत्यक्ष चिह्न रूप विभूति या भाग 'प्रतीक' हो सकता है। उदाहरणार्थ, महाभारत में ब्राह्मण और व्याध का जो संवाद है, उसमें व्याध ने ब्राह्मण को पहिले बहुत सा अध्यातम-ज्ञान बतलाया। फिर उसने कहा—हे द्विजवर! मेरा जो प्रत्यक्ष धर्म है, उसे अब देखो—'प्रत्यक्ष मम यो धर्मस्तं च पश्य-द्विजोत्तमं' (बन० २१३–३)। ऐसा कहकर उस ब्राह्मण को वह व्याध अपने वृद्ध माता-पिता के समीप ले गया और कहने लगा—यही मेरे 'प्रत्यक्ष' देवता हैं। मनोभाव से ईश्वर के समान इन्हीं की सेवा करना मेरा 'प्रत्यक्ष' धर्म है। इसी अभिप्राय को मन में रखकर भगवान् श्री कृष्ण ने अपने व्यक्त स्वरूप की उपासना बतलाने के लिए गीता में कहा है:

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥

भक्तिमार्ग का यह साधन सब विद्याओं में और गुह्यों में श्रेष्ठ (राज-विद्या और राज-गुह्य) है । यह उत्तम, पवित्र, प्रत्यक्ष देख पड़ने वाला- धर्मानुकूल, सुख और आचरण करने योग्य और अक्षय है, (गी० ९-२) । इस श्लोक में राजविद्या और राज-गुह्य दोनों समासिक शब्द हैं, इनका विग्रह यह है 'विद्यानां राजा' और 'गुह्यानां राजा' अर्थात् विद्याओं की राजा या गुह्यओं का राजा और सब समास हुआ तब सस्कृत व्याकरण के नियमानुसार 'राजा' शब्द का उपयोग पहले किया गया । परन्तु इसके बदले कुछ लोग 'राजविद्या' (राजाओं की विद्या) ऐसा विग्रह करते हैं । योगवशिष्ठ (२-११-१६-१८) में जो वर्णन है, उसके अनुसार जब प्राचीन समय में ऋषियों ने राजाओं को ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया, तब से ब्रह्म-विद्या को या अध्यात्म ज्ञान को ही राजविद्या और राजगुह्य कहने लगे हैं । इसलिए गीता में भी इन शब्दों से वही अर्थ अध्यात्म-ज्ञान ही लेना चाहिए । इसका अर्थ भक्ति नहीं लिया जाना चाहिए । गीता-प्रतिपादित-मार्ग भी मनु, इक्ष्वाकु, प्रभृति, राजा-परम्परा ही से प्रवृत्त हुए थे (गी०४-१) । इसलिए नहीं कहा जा सकता कि गीता में 'राजविद्या' और 'राजगुह्य' शब्द 'राजाओं की विद्या' एंव राजाओं का गुह्य'— राज मान्य विद्या और गुह्य—के अर्थ में उपयुक्त न हुए हों । परन्तु इन अर्थों को मान लेने पर भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि इस स्थान में ये शब्द ज्ञान मार्ग के लिये उपयुक्त नहीं हुए हैं । कारण यह है कि गीता के जिस अध्याय में यह श्लोक आया है, उसमें भक्ति मार्ग का विशेष प्रतिपादन

किया गया है (गी० ९-२२-३१ देखो) । पर अन्तिम साध्य-ब्रह्म एक है । तथापि गीता में ही अध्यात्म विद्या का साधनात्मक, ज्ञान-मार्ग केवल 'बुद्धिगम्य' अव्यक्त और दुःख-कारक कहा गया है (गी० १२-५) । ऐसी अवस्था में यह असम्भव जान पड़ता है कि भगवान् अब उसी ज्ञान मार्ग को 'प्रत्यक्षावगमं' व्यक्त और 'कर्त्तुमसुसुखं' आचरण करने में सुखकारक कहते हैं । अतएव प्रकरण की साम्यता के कारण यही सिद्ध होता है कि इस श्लोक में 'राजविद्या' शब्द से भक्ति मार्ग सिद्ध होता है । 'विद्या' शब्द केवल ब्रह्मज्ञान सूचक नहीं है, किन्तु पारब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने का जो साधन या मार्ग है, उसे ही उपनिषदों में 'विद्या' अर्थात् शाण्डिल्यविद्या, प्राणविद्या हार्दविद्या इत्यादि कहा है । वेदांत सूत्रों के तीसरे अध्याय के तीसरे पद में तथा उपनिषदों में वर्णित ऐसी अनेक प्रकार की विद्याओं अर्थात् साधनों पर विचार किया गया है । उपनिषदों से यह भी विदित होता है कि प्राचीन समय में ये सब विद्यायें गुप्त रखी जाती थीं और शिष्यों के अतिरिक्त और अन्य किसी को इनका उपदेश नहीं किया जाता था ।

अतएव कोई भी विद्या हो, वह गुह्य अवश्य ही होगी । परन्तु ब्रह्म प्राप्ति के लिए साधन भूत होने वाली जो यह गुह्य विद्यायें या मार्ग हैं वे यद्यपि अनेक हों, तथापि उन सब में गीता प्रतिपादित भक्ति मार्ग रूपी विद्या अर्थात् साधन श्रेष्ठ (गुह्यानां विद्यानां च राजा) है । क्योंकि हमारे मतानुसार इस श्लोक का भावार्थ यह है, कि वह भक्ति मार्ग रूपी

साधन ज्ञान मार्ग की विद्या के समान 'अव्यक्त' नहीं है। किन्तु यह प्रत्यक्ष 'आँखों से दिखाई देने वाला है और इसका आचरण भी सुख से किया जा सकता है। मनुष्य श्रद्धा-मय है, जिस की जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह हो जाता है (गी० १८-३)।' भगवान् कहते हैं कि देवताओं की भक्ति करने वाले देवलोक में, पितरों की भक्ति करने वाले पितर-लोक में, भूतों की भक्ति करने वाले भूतों में जाते हैं और मेरी भक्ति करने वाले मेरे पास आते हैं। (गी० ९-२५) या 'ये यथा माँ प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'' जो जिस प्रकार मुझे भजते हैं, उसी प्रकार मैं उन्हें भजता हूँ (गी० ४-११)। सर्व कर्मों का फल दाता और सर्व-साक्षी मुझ परमेश्वर की दृष्टि अपने भक्त-जनों के भाव की ओर ही रहा करती है। साधु तुकाराम जी कहते है कि 'देव' भाव का ही भूखा है प्रतीक का नहीं, भक्ति-मार्ग का यह तत्त्व, जिसे भली भाँति मालूम हो जाता है उस के मत में यह दुराग्रह नहीं रहने पाता कि 'मैं जिस ईश्वर-स्वरूप या प्रतीक की उपासना करता हूँ वही सच्चा है और अन्य सब मिथ्या है' किन्तु उसके अन्तःकरण में ऐसी उदार बुद्धि जागृत हो जाती है कि 'किसी का प्रतीक कुछ भी हो परन्तु जो लोग उस के द्वारा परमेश्वर का भजन-पूजन किया करते हैं, वे सब एक ही परमेश्वर में जा मिलते हैं।' और तब उसे भगवान् के इस कथन की प्रतीति होने लगती है कि :—

येऽप्यन्यदेवताभक्तायजन्ते श्रद्धायाचिता ।
तेऽपि मामेव कौंतेयं यजंत्यविधिपूर्वकम् ॥

हे अर्जुन ! श्रद्धा से युक्त होकर जो सकामी भक्त परमात्मा के सत्य स्वरूप को न जान कर अन्य दूसरे देवताओं का भजन पूजन करते हैं वे सर्वव्यापकता के भाव से एक प्रकार से मेरी ही पूजा करते हैं। मगर उनका यह भजन पूजन अवधि अर्थात् अज्ञान पूर्वक है (गी० ५-२४)। यों तो सम्पूर्ण यज्ञों का भोगता और स्वामी मैं ही हूँ मगर वह मेरे आदि अन्त से रहित स्वरूप को न जानने के कारण गिर जाता है (१० पृ० ४.८-यु०)। शिव गीता १२-४ में भी ऐसा पाया जाता है 'ऐकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' ऋ० १-१६५-४६ के वेद वचन का तात्पर्य भी यही है। प्रतीक का फल प्रतीक में नहीं है। किन्तु प्रतीक में जो हमारा आँतरिक भाव होता है, वह फल भाव के अनुरूप मिलता है। प्रतीक के बारे में झगड़ा मचाने से कुछ लाभ नहीं है। श्री भगवान् जी ने अर्जुन को पहले यही उपदेश किया कि "मय्येव मन आधत्स्व" (गी० १२-८) अर्थात् मेरे शुद्ध-स्वरूप में मन को स्थिर कर, और इसके बाद परमेश्वर-स्वरूप में मन को स्थिर करने के लिए भिन्न-भिन्न उपायों का इस प्रकार वर्णन किया है—'यदि तू मेरे स्वरूप में अपने चित्त को स्थिर न कर सके तो तू अभ्यास *(Practice)* अर्थात् बार-बार प्रयत्न कर। यदि तुझ से अभ्यास भी न हो सके तो मेरे लिए चित्त शुद्धि करने वाले कर्म कर। यदि यह भी न हो सके तो कर्म फल का त्याग कर अर्थात् निष्काम कर्म कर और उससे मेरी प्राप्ति कर (गी० १२-६-११ व भाग० ११-११-२१-२५)। यदि मूल देह का स्वभाव अथवा प्रकृति तामसी हो तो परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप में चित्त को

स्थिर करने का प्रयत्न एकदम या एक ही जन्म में सफल नहीं होगा। परन्तु कर्म-योग के समान भक्ति-मार्ग में कोई भी बात निष्फल नहीं होती। स्वयं भगवान् सब लोगों को इस प्रकार का भरोसा देते हैं कि 'बहूना जन्मनान्ते' 'ज्ञानवान् मां प्रपद्यंते।' 'वासुदेवः सर्वनिति स महात्मा सुदुर्लभः' जब कोई मनुष्य एक बार भक्ति-मार्ग में लग जाता है, तब इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में, नहीं तो उसके आगे के जन्मों में, कभी न कभी तो उस परमेश्वर के स्वरूप का ऐसा यथार्थ ज्ञान हो ही जाता है। यह सारा विश्व वासुदेव स्वरूप ही है। इस ज्ञान से अन्त में मुक्ति भी मिल जाती है (गी० ७-११)। कर्म-योग का अभ्यास करने वाले के विषय में कहा गया है कि 'अनेक जन्म-संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गी० ६-४५)।

मनुष्य को चाहिए कि वह आत्म-ज्ञान के प्रयत्न की मात्रा को कभी कम न करे। साराँश यह है कि जिस प्रकार किसी मनुष्य के मन में कर्म-योग की जिज्ञासा के उत्पन्न होते ही वह धीरे-धीरे पूर्ण सिद्धि की ओर आप ही आप आकर्षित हो जाता है (गी० ६-४४)। इसी प्रकार धर्म का भी यही सिद्धान्त है कि जब भक्ति-मार्ग में लग कर कोई भक्त एक बार अपने तईं ईश्वर को सौंप देता है, तो स्वयं भगवान् ही उसकी निष्ठा को बढ़ाते जाते हैं और अन्त में अपने यथार्थ स्वरूप का पूर्णज्ञान भी करा देते हैं (गी० ७-२१, १०-१०)। भक्ति-मार्ग में श्रद्धा प्रेम और विश्वास की ही आवश्यकता है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

श्रद्धावान मनुष्य जब इन्द्रिय-निग्रह द्वारा ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न करने लगता है तब उसे ब्रह्म स्वरूप की एकता के ज्ञान का अनुभव होता है और फिर उस ज्ञान से शीघ्र ही पूर्ण शान्ति मिल जाती है (४-३९) अथवा—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
तनो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥

भगवान् कहते हैं कि तत्त्व का ज्ञान भक्ति से ही होता है और 'जब यह ज्ञान हो जाता है, तब वह भक्त मुझमें ही आ मिलता है' (गी० १८-५५) । परमेश्वर का पूरा ज्ञान होने के लिये ज्ञान और भक्ति इन दो मार्गों के सिवा और कोई तीसरा मार्ग नहीं है । गीता में यह बात स्पष्ट रीति से कह दी गई है कि जिसे न तो स्वयं अपनी सद्बुद्धि हो और न श्रद्धा हो उसका सर्वथा नाश ही समझिये—

अज्ञश्चाद्दश्रधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

भगवत् विषय को जानने वाला, तथा श्रद्धा रहित और संशय युक्त पुरुष परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है । संशय युक्त पुरुष को न इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक में सद्गति मिलती है। (गी० ४-४०) ऊपर कहा गया है कि श्रद्धा और भक्ति से ही अन्त में पूर्ण पारब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है । भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग का अन्तिम साध्य एक है । इसलिए इस विषय का कुछ अधिक खुलासा कर देना चाहिए । अध्यात्म शास्त्र का सिद्धान्त है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक ही 'आत्मा' नाम

रूप से आच्छादित है, इसलिए अध्यात्म-शास्त्र की दृष्टि से हम लोग कहा करते हैं कि जो आत्मा मुझ में है, वही सब प्राणियों में भी है। 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' (गी० ६–२९) अथवा यह सब आत्मा ही हैं।

गुड़ सा मीठा है भगवान्, बाहर भीतर एक समान ।
किसका ध्यान करूँ 'सविवेक', जल तरंग से हैं हम एक ।।

मैं सब प्राणियों में हूँ और सब प्राणी मुझ में हैं (गी० ६–२९), अथवा 'वासुदेव सर्वमिति' जो कुछ है यह सब वासुदेवमय है (गी० ७–१९)। 'येनभूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' ज्ञान हो जाने पर तू सब प्राणियों को स्वयं अपने में ही देखेगा (गी० ४–३५)। ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य स्वयं प्रयत्न करे और अपना उद्धार आप ही करे। 'आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः'। अशुभ कर्म करने पर अपनी ही आत्मा अपना शत्रु है और शुभ कर्म करने पर अपनी ही आत्मा अपना मित्र है (गी० ६–५)। यह बात सच है कि जब भक्ति के द्वारा परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब भक्त को स्वयं अपने हित के लिए कुछ प्राप्त कर लेना शेष नहीं रह जाता। परन्तु प्रेम-मूलक भक्ति-मार्ग में दया, करुणा, कर्त्तव्य, प्रीति इत्यादि श्रेष्ठ मनोवृत्तियों का नाश नहीं होता, बल्कि वे और भी अधिक शुद्ध हो जाती हैं। ऐसी दशा में यह प्रश्न नहीं उठ सकता, कि कर्म करे अथवा न करे? वरन् भगवद्भक्त तो वही है कि जिसके मन में ऐसा अभेद भाव उत्पन्न हो जाय :

जिसका कोई न हो हृदय से उसे लगावे ।
प्राणी मात्र के लिए प्रेम की ज्योति जगावे ।।
सब में विभु को व्याप्त जान, सबको अपनावे ।
है सब ऐसा वही भक्त की पदवी पावे ।।

ऐसी अवस्था में स्वभावतः उन लोगों की वृत्ति लोक संग्रह के ही अनुकूल हो जाती है । 'सन्तों की विभूतियाँ' जगत कल्याण के लिए हुआ करती हैं । वे लोग परोपकार के लिए अपने शरीर को भी कष्ट दिया करते हैं । गीता प्रतिपादित भक्ति-मार्ग 'कर्म प्रधान' है और उसका तत्त्व यही है कि परमेश्वर की पूजा न केवल पुष्पों से या वाचा से ही होती है किन्तु वह स्वधर्मोक्त निष्काम कर्मों से भी होती है और ऐसी पूजा प्रत्येक मनुष्य को अवश्य करनी चाहिए । जबकि कर्ममय-भक्ति का यह तत्त्व गीता के अनुसार अन्य किसी स्थान में प्रतिपादित नहीं हुआ है, तब इसी तत्त्व को गीता प्रतिपादित भक्ति मार्ग का विशेष लक्षण कहना चाहिए । इस प्रकार कर्म-योग की दृष्टि से ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग का पूरा-पूरा मेल यद्यपि हो गया है तथापि ज्ञान मार्ग से भक्ति-मार्ग में जो एक महत्त्व की विशेषता है, उसका भी अब अन्त में स्पष्ट रीति से वर्णन हो जाना चाहिए । यह तो पहले ही कह चुके हैं कि ज्ञान मार्ग केवल बुद्धि-गम्य होने के कारण अल्प बुद्धि वाले जनों के लिए क्लेशमय है और भक्ति मार्ग के श्रद्धा-मूलक प्रेमगम्य तथा प्रत्यक्ष होने के कारण उसका आचरण करना संसार में सब लोगों के लिये सुगम है । परन्तु क्लेश के सिवा ज्ञान-मार्ग में एक और भी अड़चन है । जैमिनी

की मीमांसा या उपनिषद् वेदान्त सूत्रों को देखें तो मालूम होगा कि उनमें श्रोत-यज्ञ-याज्ञ आदि की अथवा कर्म संन्यास पूर्वक 'नीति' स्वरूपी पारब्रह्म की चर्चा भरी पड़ी है और अन्त में यही निर्णय किया है कि स्वर्ग प्राप्ति के लिए साधन-भूत होने वाले श्रोत-यज्ञ-यज्ञादि कर्म करने का अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक उपनिषद् वेदाध्ययन करने का अधिकार भी पहले तीन ही वर्णों के पुरुषों को ही है। (वेसू-१-३-३४-३८) इसमें इस बात पर विचार नहीं किया है कि बाकी तीन वर्णों को, स्त्रियों को अथवा चातुर्वर्ण्य के अनुसार समाज के हित के लिये खेती या अन्य व्यवसाय करने वाले साधारण स्त्री, पुरुषों को मोक्ष कैसे मिले। अच्छा, स्त्री शूद्रादिकों के साथ वेदों की ऐसी अनबन होने से यदि यह कहा जाये कि उन्हें मुक्ति कभी मिल ही नहीं सकती, तो उपनिषदों और पुराणों में ही ऐसा वर्णन पाया जाता है कि गार्गी, प्रभृति स्त्रियों को विदुर आदि शूद्रों को ज्ञान की प्राप्ति होकर सिद्धि मिल गयी थी (वेसू० ३-४-३६-३९) ऐसी दशा में यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि सिर्फ पहले तीन वर्णों के पुरुषों को ही मुक्ति मिलती है। यदि यह मान भी लिया जाये कि शूद्र आदि सभी लोगों को मुक्ति मिल सकती है, तो अब यह बतलाना चाहिए कि उन्हें किस साधन से ज्ञान की प्राप्ति होगी। वादरायणाचार्य कहते हैं कि 'विशेषानुग्रहपश्च' (वेसू० ३-४-२८) अर्थात् परमेश्वर का विशेष अनुग्रह ही उनके लिये एक साधन है और भागवत् (१-४-२५) में कर्म प्रधान भक्ति मार्ग के रूप में आत्मा पर परमात्मा की विशेष कृपा का साधन महाभारत में और

गीता में भी निरूपण किया गया है। क्योंकि स्त्रीयों, शूदों या कलियुग के नाम-धारी ब्राह्मणों के कानों तक श्रुति की आवाज नहीं पहुँचती है। भक्ति मार्ग से प्राप्त होने वाला ज्ञान और उपनिषदों का ब्रह्म-ज्ञान दोनों एक ही जैसे हैं। इस लिये स्त्री-पुरुष सम्बन्धी या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सम्बन्धी कोई भेद शेष नहीं रहता। भक्ति मार्ग के विशेष गुणों के बारे में गीता कहती है कि :

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम्॥

हे पार्थ !स्त्री, वैश्य और शूद्र या अन्त्यज आदि जो नीचे वंश में उत्पन्न हुए हैं, वे भी सब उत्तम गति पा जाते हैं (गीता ९-३२)। यही श्लोक महाभारत के अनुगीता पर्व में भी आया है (म० भा० अश्व १९-६१)। वन-पर्व के अन्तर्गत ब्राह्मण, व्याध-सम्वाद में एक माँस बेचने वाले व्याध ने किसी ब्राह्मण को तथा शांतिपर्व में तुलाधार बनिये ने जाजली नाम के तपस्वी ब्राह्मण को यह निरूपण सुनाया है कि स्वधर्म के अनुसार निष्काम बुद्धि से आचरण करने से मोक्ष कैसे मिलती है ? (म० भा० वन० २०६-२१४ शा० २५०-२६३) और भी ऐसी अनेक कथायें हैं, जिन से प्रगट होता है कि जिस की बुद्धि सम हो जावे, वही श्रेष्ठ है। फिर चाहे वह सुनार हो, बढ़ई हो, बनिया हो या कसाई हो। किसी मनुष्य की योग्यता उस के धन्धे पर, व्यवसाय पर, या जाति पर अवलम्बित नहीं है। किन्तु सर्वथा उसके अन्तःकरण की शुद्धता पर अवलम्बित होती है और यही भगवान् का अभिप्राय भी

है। इसी प्रकार किसी समाज के सब लोगों के लिये मोक्ष के दरवाजे खोल देने से उस समाज में जो एक प्रकार की विलक्षण जागृति उत्पन्न होती है, उसका स्वरूप महाराष्ट्र में भगवत् धर्म के इतिहास से भली भांति दीख पड़ता है। परमेश्वर को क्या स्त्री, क्या चांडाल, क्या ब्राह्मण सभी समान प्यारे हैं। 'देव' भाव का भूखा है! ब्राह्मण, चांडाल आदि भेदों का नहीं!! साधु तुकाराम जी का इसी विषय का अभिप्राय, इस हिन्दी पद से प्रगट हो जाता है—

क्या द्विज जाति, क्या शुद्र, ईश को वेश्या भी भज सकती है।
श्वपचों को भी भक्ति भाव में शुचिता कब तज सकती है॥
अनुभव से कहता हूँ, मैंने उसे कर लिया है बस में।
जो चाहें सो पिये प्रेम से अमृत भरा है इस रस में॥

अधिक क्या कहें! मनुष्य कैसा ही दुराचारी क्यों न हो, परन्तु यदि अन्त काल में भी वह अनन्य भाव से भगवान् की शरण में जावे, तो परमेश्वर उसे नहीं भूलता (गीता ९-३२ और ८-५)। 'वेश्या' शब्द जो कि साधु तुकाराम जी के मूल वचन के आधार से रखा गया है, उसको देख कर पवित्रता, अपवित्रता का ढोंग करने वाले बहुतेरे विद्वानों को कदाचित बुरा लगे। किन्तु सच बात तो यह है कि ऐसे लोगों को सच्चे धर्म का तत्त्व मालुम ही नहीं। न केवल हिन्दु धर्म में किन्तु बौद्धधर्म में भी यही सिद्धान्त स्वीकार किया गया है (मिलिन्द प्रश्न ३-७-२)। उनके धर्म ग्रन्थों में भी ऐसी कथायें आती हैं कि भगवान् बुद्ध ने आम्रपाली नामक किसी वेश्या को और अँगुलीमाल नाम के डाकू को दीक्षा दी थी। ईसाइयों के धर्म ग्रन्थ में भी यही वर्णन

है कि क्राइस्ट के साथ जो दो चोर सूली पर चढ़ाये गये थे, उन में से एक चोर मृत्यु के समय क्राइस्ट की शरण में गया और क्राइस्ट ने उसे सद्गति दी थी (ल्युक २३-४२-४३) स्वयं क्राइस्ट ने भी एक स्थान में कहा है कि हमारे धर्म में श्रद्धा-भक्ति रखने वाली वैश्यायें भी मुक्त हो जाती हैं। (मेथ्यू० २१-३१ल्यूक०) । अध्यात्म शास्त्र की दृष्टि से भी यही सिद्धान्त निष्पन्न होता है। यद्यपि यह धर्म तत्त्व शास्त्र अनुसार निर्विवाद है, मगर जिस का सारा जन्म दुराचरण में ही व्यतीत हुआ है, उसके अन्तःकरण में केवल मृत्यु के समय ही अनन्यभाव से भगवान् का स्मरण करने की बुद्धि कैसे जागृत हो सकती है ? ऐसी अवस्था में अन्तकाल की वेदनाओं को सहते हुए केवल यन्त्र के समान एक बार 'रा' कह कर और कुछ देर के बाद 'म' कह कर मुँह खोलने और बन्द करने के परिश्रम के सिवाय कुछ अधिक लाभ नहीं होता। इसी लिए भगवान् ने सब लोगों को निश्चित रीति से यह कहा है कि न केवल मृत्यु के समय ही किन्तु पूरे जीवन भर सदैव मेरा स्मरण मन में रहे और स्वधर्म के अनुसार अपने सब कर्म व्यवहारों को परमेश्वर-अर्पण बुद्धि से करते रहो। फिर चाहे तुम किसी जाति-पाति में रहो, तो भी तुम निष्काम कर्मों को करते हुए मुक्त हो जाओगे (गीता ९-२६ और १८-३०-३४)। मगर समस्त प्राणियों में सद्-बुद्धि रखने का जो अन्तिम साधन है, वह इनमें से किसी धर्म पर प्रीति और श्रद्धा के साथ मन की एकाग्रता किये बिना प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि इन अनेक मार्गों अथवा प्रतीक उपासना

हैं कि खूब सुख मिले । उनके जीवन का लक्ष्य विषय-भोग ही है । वे किसी से इस बात को जान गए हैं कि कोई एक पुरुष है जो इन सब सुख भोगों को देता है । इसीलिए वे ईश्वर की उपासना करते हैं । यह तो एक भाव हुआ । दूसरे लोगों का भाव यह है कि ईश्वर ही हम लोगों के जीवन का लक्षण रूप है, ईश्वर से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। इसलिए इन्द्रिय सुख भोगों को छोड़कर उच्चतर वस्तु की प्राप्ति के लिए अग्रसर होना चाहिए । केवल यही नहीं ! बल्कि इन्द्रिय सुख को छोड़कर यदि संसार में और कुछ नहीं होता तो संसार बड़ा ही भयानक होता । हम लोग अपने जीवन में नित्य-प्रति देखते हैं कि जिस मनुष्य में इन्द्रिय सुख भोग जितना ही कम है उस मनुष्य का जीवन उतना ही उच्चतर और सुखी है । कुत्तों को देखिये ! कौन मनुष्य इतनी तृप्ति के साथ खा सकता है ? शूकरों की तरफ देखिये ! खाते समय शूकर किस प्रकार आनन्द सूचक शब्द करते हैं । ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं, जो इस प्रकार से खा सके । त्रिजग-जाति की देखने, सुनने, सूँघने आदि की शक्तियाँ भी कितनी प्रबल होती हैं । उनकी सब इन्द्रियाँ बहुत उत्कर्ष होती हैं । मनुष्यों की इन्द्रिय-शक्ति कभी इतनी प्रबल नहीं हो सकती । पशु एक बार ही इन्द्रिय-भोग के आनन्द में उन्मत्त होते हैं । मगर मनुष्य जितना ही अवनत रहेगा, उसे इन्द्रिय सुख भोगों में उतना ही अधिक आनन्द मिलेगा । वह क्रमशः जैसे-जैसे उन्नत होता जाएगा, उसके विचार भी उतने ही उच्च होते जायेंगे और हृदय प्रेम से भरता जाएगा । आप देखेंगे कि आप में विचार-शक्ति और प्रेम का विकास होने पर

आपकी इन्द्रिय-सुख भोग-शक्ति कम होती जाएगी। यदि हम लोग यह स्वीकार करें कि मनुष्य के भीतर एक निर्दिष्ट शक्ति है और इसका प्रयोग देह, मन या आत्मा के ऊपर किया जा सकता है तो मानना होगा कि यदि उस शक्ति का प्रयोग केवल किसी बात पर किया जाए तो दूसरों के ऊपर प्रयोग की शक्ति उतनी ही कम हो जाएगी। सभ्य जाति की अपेक्षा असभ्य जाति की इन्द्रिय-शक्ति तीक्ष्णतर होती है। मगर सभ्य जाति का शरीर दुर्बल होता जाता है। किसी असभ्य जाति को सभ्य बनाने पर ठीक यही बात ज्ञात होती है। या ऐसा देखा जाता है कि बर्बर जातियाँ ही सर्वदा जयशालिनी होती हैं। यदि हम लोगों को सर्वदा इन्द्रिय-सुख भोगों की वासनाएँ होती हैं, तो समझ लेना चाहिए कि हम लोग एक ऐसे पदार्थ के लिए प्रार्थना करते हैं, जिसे पाकर हम लोग पशु हो जायेंगे। जब मनुष्य एक ऐसे स्थान में जाना चाहता है, जहाँ उसको इन्द्रिय भोग अधिकता से मिल सकें, तो समझ लो! वह, मनुष्य-जन्म नहीं चाहता। क्योंकि पशु योनि में ही उसको ऐसा सुख भोग मिल सकता है। शूकर को कभी यह विचार नहीं होता कि मैं अशुद्ध वस्तु का भोजन कर रहा हूँ। उस को तो यही स्वर्ग है और यदि स्वयं भगवान् आकर उस के निकट उपस्थित हो जावें तो भी वह उनकी ओर देखना नहीं चाहेगा। क्योंकि भोजन में ही उसका मन एवं प्राण लगे हुए हैं। मनुष्य भी परमात्मा को भूल कर पशु के सदृश विषय-वासना के भारी कीचड़ में लिपटा हुआ है। इसके बाहर क्या है, सो वह देख नहीं सकता? वह तो इन्द्रीय भोगों

को ही चाहता है। मगर समय पाकर इस जीवन को बदलना होगा। प्रत्येक मनुष्य को यह जानना होगा कि भोगों की अपेक्षा उच्चतर कोई वस्तु है, जिस के सम्बन्ध में हम नहीं जानते। आधुनिक काल में साधारणतः नास्तिकों द्वारा जिस प्रकार सब बातों में अविश्वास करके ईश्वर सम्बन्धी सब धारणाओं का परित्याग किया जाता है, सब भावनाओं को उड़ा दिया जाता है, मैं उस भाँति इन धारणाओं का परित्याग करने को नहीं कहता। किन्तु जो ईश्वर भक्त हैं, जो उनकी अपेक्षा उच्चतर वस्तु का दर्शन कर चुके हैं, वह सत्य को सत्य मानते हैं। नास्तिक स्वर्ग में नहीं जाना चाहता, क्योंकि उसके विचार से स्वर्ग कोई वस्तु नहीं है और भगवद्भक्त भी स्वर्ग में नहीं जाना चाहते, क्योंकि वे स्वर्ग को लड़कों का खेल समझते हैं; वे तो केवल ईश्वर को चाहते हैं, ईश्वर को छोड़ कर उनके जीवन का श्रेष्ठ लक्ष्य और हो भी क्या सकता है? सभ्य लोग ईश्वर से किसी ऊँची वस्तु की धारणा कर भी नहीं सकते। क्योंकि ईश्वर प्रेम स्वरूप हैं, प्रेम से बढ़कर और किसी सुख की हम को क्या इच्छा हो सकती है? पूर्ण निःस्वार्थ प्रेम को ही एक मात्र प्रेम कह सकते हैं। वह प्रेम केवल ईश्वर के प्रति हो सकता है। किन्तु वह प्रेम प्राप्त करना बड़ा ही कठिन काम है।

बिनु गुण जीवन रूप धन, बिनु स्वार्थ हित जान।
शुद्ध-कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखान॥
प्रेम अगम, अनुपम, अमित, सागर सरस बखान।
जो आवत येहि ढिग बहुर, जात नहीं रसखान॥
प्रेम हरि को रूप है, त्यों हरि प्रेम स्वरूप।

एक होय दो यों रहें, ज्यों सूरज अरु धूप ॥
प्रेमी ढूण्डत मैं फिरूँ, प्रेमी मिला न कोय।
प्रेमी से प्रेमी मिले, गुरू भक्ति दृढ़ होय ॥

इस बनावटी प्रेम से जी घबराता है । न जाने दुनियाँ के लोगों ने प्रेम को क्या समझा हुआ है ? यों तो सैकड़ों मिलते हैं, मगर ऐसा तो कोई ही मिलता है, जो सत्य प्रेम से हृदय को परिपूर्ण कर देवे। भोग-विलास की सामग्री प्राप्त होने पर और सगे-सम्बन्धी तथा अनेक मित्रों के होने पर भी प्रेम मूलक शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि यह सब झूठा ही धीरज बन्धाने वाले हैं। कोई मनुष्य भी किसी मनुष्य से प्रेम नहीं करता, केवल सभी बात बनाते हैं, हे प्राण नाथ ! मैं तुम्हें बहुत प्यार करती हूँ, ऐसा कह कर पत्नी पति को चुम्बन करती है, अविरल धार से आँसू गिरा कर पति-प्रेम की पराकाष्ठा दिखलाती है किन्तु जब स्वामी मर जाता है, तब उसी ससय वह पति के रुपये के सन्दूक की ताली ढूंढने लगती है। कल उसकी क्या दशा होगी, बस ! यही सोच कर व्याकुल हो जाती है। जब स्त्री बीमार हो जाती है और रूप-यौवन गँवा कर कुरूपा हो जाती है, तो स्वामी उस की ओर देखना भी नहीं चाहता। सब सांसारिक प्रेम इसी प्रकार 'अंतः सारशून्य' कपट और स्वार्थ पूर्ण होता है इसी प्रकार सांसारिक स्वार्थ पूर्ण प्रेम केवल भ्रम मात्र है। महाशक्ति हम लोगों को प्रेम करने के लिये प्रेरणा किया करती है। मगर हम लोग उसके प्रेम को नहीं जानते और बार-बार धोखा खाते हैं। जब हम किसी वस्तु को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं तो वह हम लोगों के हाथ से खिसक जाती है। तब

हम किसी दूसरी वस्तु के लिये हाथ बढ़ाते हैं। पर धोखा खाने के बाद भी हम लोगों को प्रकाश दिखाई नहीं देता। तब हम लोग ईश्वर के सन्मुख उपस्थित होना चाहते हैं। परन्तु ईश्वर को प्राप्त करना बड़ा कठिन है। उसके निकट जाने के लिये बहुत बड़ा रास्ता तय करना पड़ता है इस लिये बहुत कम मनुष्य ईश्वर को प्राप्त कर पाते हैं। सैंकड़ों वर्षों के मध्य में बहुत ही कम लोग ईश्वर प्रेम का लाभ कर पाते हैं। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से अन्धकार पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार कुछ थोड़े से भगवद्भक्त पुरुषों के अभ्युदय से समस्त देश धन्य और पवित्र हो जाता है।

जिस समय हम और आप छोटे बच्चे थे, तो उस समय हम सबसे अधिक अपने माता-पिता से ही प्यार करते थे। उस के बाद साथ खेलने वाले बच्चों में और उसके उपरांत सहपाठियों को ही प्रिय बन्धु समझने लगे। तत्पश्चात् विवाह हुआ, उस समय नारी को स्वामी और पुरुषों को स्त्री ही परम-प्रिय, प्रेम की वस्तु हो गई। इसमें संदेह नहीं कि स्त्री स्वामी को प्यार करती है मगर ज्यों ही बच्चा पैदा होता है, त्यों ही स्त्री का आधे से अधिक प्यार संतान के प्रति हो जाता है और पहले का भाव चला जाता है। बस सांसारिक प्रेम धाराओं का यही हाल है।

पहिले आकाश में एक तारा उदय हुआ, फिर असंख्यों तारे उदय हुये। चन्द्रमा भी उदय हुआ अन्त में जब सूर्य उदय हुआ तो उसके प्रकाश से सभी क्षुद्रतर ज्योतियां मलीन हो गई। ईश्वर ही सबका प्रेम समूह सूर्य है और चन्द्रमा तथा तारागण

समूह हमारा सांसारिक प्यार है। जिस समय परमात्मा रूपी सूर्य उदय होता है तो मनुष्य उस प्रेम को पाकर पागल हो जाता है। इस प्रकार के भगवत् प्रेमोन्मत्त को मानव कहते हैं तब उसके निकट मनुष्य पशु-पक्षी सभी जीव जन्तु आन्त्रिक आत्म रूप से ईश्वर रूप ही हो जाते हैं और वह मानव प्रेम सागर की तरंगों एवं लहरों में समा जाता है। मगर भगवत् कृपा से ही ऐसा संयोग उपस्थित होता है।

—: राम—कृपा :—

रामकृपा नासहिं सब रोगा। जो येहि भाँति बने संयोगा॥
सद्गुरु वैद्य वचन विश्वासा। संयम यह न विषय करि आसा॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनुपान श्रद्धा अति रूरी॥
येहि विधि भलेहि कुरोग नसाहीं। नाहिं ते कोटि जतन नहिं जाहीं॥
जानिये तब मन विरुज गुसाई। जब उर बल विराग अधिकाई॥
सुमति क्षुधा बाढ़ई नित्त नई। विषय आस दुर्बलता गई॥
विमल ज्ञान जल पाये सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥
शिव,अज,सुक,सनकादिक नारद। जे मुनि-ब्रह्म विचार-विसारद॥
सब कर मत खगनायक येहा। करिये राम पद पंकज नेहा॥
श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहिं। रघुपति भगति बिना सुख नाहिं॥
कमठ पीठ जामहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहु विधि फूला। जीव न लहँ सुख हरि प्रतिकूला॥
तृषा जाये बरु मृग जल पाना। बरु जामहिं सस शीश विषाना॥
अंधकार बरु रविहि नसावहिं। विमुख राम सुख जीव न पावहिं॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। विमुख राम सुख पावे न कोई॥

दोहा—बारि मथे घृत होय बरु सिकता ते बरु तेल ।
बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल ।।

—: विचार :—

अस विचार मति धीर, तजि कुतर्क संशय सकल ।
भजहुँ राम रघुवीर, करुणाकर सुन्दर सुखद ।।
मसकहि करहिं विरचि प्रभु, अजहु मसक ते हीन ।
अस विचारि तजि संशय, रामहि भजहिं प्रवीन ।।
जो चैतन्य को जड़ करें, जड़हि करें चैतन्य ।
अस समर्थ रघुनायकहिं, भजहिं जीव ते धन्य ।।
श्रुति सिद्धान्त येहि उरगारी । भजिय नाम सब काम बिसारी ।।
नर तन भव बारिद कहुँ बेरो । सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ।।
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा । दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।।
जो न तरे भव सागरहिं, नर समाज अस पाय ।
सो कृत निन्दक मन्द मति, आत्म हरिण गति जाय ।।

जो ब्रह्म ज्ञानी होने पर भी कर्म-योगी हो और सत् एवं उत्तम आचरण करता हो, वही सद्गुरु हैं और वही परमात्मा का दर्शन करा सकते हैं। जिन में केवल ऊपरी आडम्बर हो, केवल कान में मन्त्र देने तक का ज्ञान रखते हों, ऐसे गुरू परमात्मा के विरुद्ध ही होते हैं। जिसमें गुरु प्रतीति, शास्त्र प्रीति और आत्म प्रतीति हो, वही सच्चे गुरू होते हैं। मोक्ष अथवा परमात्मा की प्राप्ति करने की इच्छा करने वालों को आदर पूर्वक, सर्व अभिमानों को त्याग कर ऐसे ही गुरू की शरण में जाना चाहिए।

तद्विद्धिप्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
गी० ४—३४

तत्त्व ज्ञानी श्री सद्‌गुरु देव जी को भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम करके सेवा द्वारा प्रसन्न करके, निष्कपट भाव से प्रश्न करके, भक्ति के परम तत्त्व को जानना चाहिए। जिसे जानने के उपरान्त संसार में और कुछ भी जानना बाकी नहीं रह जाता।

काहे रे बन खोजन जाई।
सर्व निवासी सदा अलेपा, तोरे ही संग समाई॥ १॥
पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुर माहिं जस छाई।
ऐसे ही हरि बसत निरन्तर, घट ही खोजो भाई॥ २॥
अन्तर बाहर हरि को बासा, यह गुरू ज्ञान बताई।
जन नानक बिन आपा चीन्हें, मिटे न भरम की काई॥ ३॥

गुरू की खोज

ऐसा कोई ना मिला, हम को दे उपदेश।
भव-सागर में बूड़ता, कर गहि काढ़े केश॥
ऐसा कोई ना मिला, जा से रहिए लाग।
सब जग जलता देखिया अपनी-अपनी आग॥
ऐसा कोई ना मिला, घर दे अपना जराय।
पाँचों लरिका पटिक के, रहे नाम लौ लाय॥
हम घर जारा आपना, लूका लीन्हा हाथ।
वाही का घर फूँक दूँ, जो चले हमारे साथ॥

ऐसा कोई ना मिला, समझे सैन सुजान ।
ढोल बाजता न सुने, सुरत बिहूना कान ।।
ऐसा कोई ना मिला, हम को लै पहिचान ।
अपना करि कृपा करै, दै उतार मैदान ।।
ऐसा कोई ना मिला, सब विधि देय बताय ।
कवन मंडल में पुरुष है, जेहि रहें लौ लाय ।।
जैसा ढूँढत मैं फिरूँ, वैसा मिला न कोय ।
तत् वेत्ता त्रिगुण रहित, गुरू भक्ति में रत होय ।।
प्रेमी ढूँढत मैं फिरूँ, प्रेमी मिला न कोय ।
प्रेमी से प्रेमी मिले, विष से अमृत होय ।।
शिष्य तो ऐसा चाहिए, गुरू को सब कुछ देय ।
गुरू तो ऐसा चाहिए, शिष्य से कछु न लेय ।।
कूँची दीन्ही हाथ में, पर्दा दिया उतार ।
बांका पर्दा खोल कै, सन्मुख लै दीदार ।।
पुहुपन केरी वास ज्यों, व्यापि रहा सब ठाहिं ।
बाहर कबहूँ न पाइये, पावे सन्तों माहिं ।।
वृक्ष जो पूछे बीज को, बीज वृक्ष के माहिं ।
जीव जो ढूढें ब्रह्म को, ब्रह्म जीव के माहिं ।।
डाल जो ढूढें मूल को, मूल डाल के माहिं ।
आप-आप को सब चले, कोई मिले मूल से नाहिं ।।
कबीर मूल गहि बढ़ चले, फल खाये भर पेट ।
चौरासी की ग़म नहीं, ज्यों जाने त्यों लेट ।।
वस्तु कहीं ढूढें कहीं, केहि विधि आवे हाथ ।
कहे कबीर वस्तु तब पाइये, भेदी लीन्हा साथ ।।

सत्गुरू लीन्हा साथ कर, दीन्ही वस्तु लखाय।
कोटि जन्म का पन्थ था, पल में पहुँचा जाय॥
जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बावरी ढूण्डन गई, रही किनारे बैठ॥
हेरत-हेरत हेरिया, रहा 'हंस' हिराय।
बून्द समानी समूद्र में, सो कित हेरी जाय॥
बून्द समानी समुद्र में, जानत हैं सब कोय।
समुद्र समाना बून्द में, बूझे बिरला कोय॥
बिन गुरू काहू न पाइया, कोटि जतन करै कोय।
तन-मन से गुरू सेविया, झटपट दर्शन होय॥
लाख चतुराई जो करे, रीझे नहीं गुरुदेव।
कबीर अवसर जात है, करि सत्गुरु की सेव॥

शिष्य कैसा होना चाहिए ?

सूर्य की शोभा धूप से, चन्द्रमा की चाँदनी से, वृक्षों की शोभा फल फूलों से, राजा की शोभा न्याय तथा धर्म प्रिय कर्मचारियों से, पिता की शोभा सुपुत्र से, माता की शोभा भक्त, सूर एवं दानी पुत्र से होती है। वैसे ही गुरू की शोभा सद्शिष्य से ही होती है। जल के प्रवाहित होने से नदी कहलाती है। जिसमें जल न हो उसे कोई भी नदी नहीं कहता। ऐसा ही किसी के शिष्य होने पर ही गुरू कहलाता है। गुरू सूर्य स्वरूप है, तो शिष्य उनकी धूप है। गुरू चन्दन के सदृश हैं तो शिष्य कीर्ती रूपी सुगन्ध को फैलाने वाला वायु के समान है जो कि सत्य ज्ञान की सुगन्ध से दूसरों को भी ज्ञानी बना देता है।

भगवान् राम की कीर्ति रुपी पताका को सहारा देकर ऊँचे उठाने वाले लक्ष्मण जी ने सेवा करके सद्शिष्य होने का संसार को पाठ पढ़ाया। समर्थ रामदास जी की महिमा को चार चाँद लगाने वाले शिवा जी ने गुरू-सेवा में सर्वस्व अर्पण किया। गीता जैसे गहन शास्त्र को संसार के सन्मुख प्रगट करने वाले अर्जुन जैसे सद्शिष्य ही थे। भक्त ही भगवान् को प्रगट करता है।

सद्शिष्य को भी सद्गुरु के मिलने पर ही महानता मिलती है। परन्तु जब तक शिष्य में गुरू के प्रति ईश्वर भाव नहीं होता, तब तक सद्शिष्य नहीं होता और न उन्नत होने वाले भगवत्ज्ञान की प्राप्ति होती है। गुरू में परमात्मा बुद्धि होने पर

सद्शिष्य को गुरु की प्रत्येक क्रिया लीला मालूम होने लगती है। शिष्य में गुरु के प्रति जितना अधिक प्रेम, श्रद्धा और विश्वास होता है उतनी ही उसके ऊपर गुरू की अधिक कृपा होती है। गुरू की कृपा प्राप्त करने में क्रिया रूप सेवा से भाव की अधिक आवश्यकता होती है भाव के बिना की हुई सेवा का उत्तम फल नहीं मिलता। संसार रूपी हाट में भी हर वस्तु भाव से मिलती है। जिस वस्तु का भाव नहीं, उसकी एक कौड़ी भी कीमत नहीं होती। इसलिये, स्वर्ग या संसार की मान बड़ाई को पाने के लिये स्त्री, पुत्र एवं परिवार या देवताओं की सेवा करने की अपेक्षा ममता, आसक्ति तथा अहंकार को त्यागकर निःस्वार्थ भाव से सद्गुरु की, की हुई थोड़ी सेवा भी बहुत ही अधिक मूल्यवान तथा फलदायक होती है।

मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष अथवा परमपद की प्राप्ति करना माना जाता है। जिसमें कि सभी आनन्दों का समावेश होता है। संसार के अनेक पदार्थों के संयोग से होने वाले सभी आनन्द मिलकर भी परमानन्द के एक बिन्दु की बराबरी नहीं कर सकते। किन्तु उस परमानंद से भी बढ़कर सद्गुरु की सेवा से जो आनन्द मिलता है, वह शिष्य ही जानता है। जिस को गुरू सेवा का सौभाग्य प्राप्त होता है, वही जीव धन्य है और उसका ही मनुष्य शरीर पाना सार्थक है। उसका कुल, उसकी जाति, उसका देश सभी कुछ धन्य है। जहाँ ऐसा गुरू भक्त जन्म लेता है। वह संसार से बहुत ऊँचे उठकर पाप पुण्य के द्वन्द से रहित, देवताओं से भी बहुत महान्,

गुरू सेवा में सर्वस्व न्योछावर करता हुआ गुरू का प्यारा होता है। जिन्होंने गुरू सेवा में अपने अस्तित्त्व को भुलाया है, ऐसे महान् सद्‌शिष्य संसार में सदा से होते आये हैं और आगे भी ऐसे शिष्य होते ही रहेंगे।

मनुष्य विचार प्रधान प्राणी है। पशु से तो बल-पूर्वक ही सेवा कराई जाती है। परन्तु शिष्य अपनी इच्छा से ही गुरू सेवा करता है। स्वार्थ तथा विषयों की पूर्ति करने के लिए तो परिवार की एवं संसार की सेवा सभी कर रहे हैं परन्तु निःस्वार्थ तथा निष्काम भाव से सद्‌गुरु की सेवा करने वाला तो कोई ही होता है। गुरू की तन, मन, धन, से सेवा करने पर भी किसी प्रकार की अभिलाषा का न होना ही निष्काम भक्ति कहलाती है। संसार की सेवा तो किसी काल में भी निष्काम भाव से हो ही नहीं सकती। एक आदर्श के लिए स्वयं को गुरू के प्रति समर्पित कर देने से अथवा मनुष्य जीवन के सर्वोत्तम कार्य को अपना जीवन-केन्द्र बना कर गुरू आज्ञानुसार कार्य करने से मनुष्य के विचार संकीर्ण नहीं रहते। पर स्वार्थ के वशीभूत हो कर मनुष्य जो कर्म करता है, उससे राग-द्वेष ही उत्पन्न होते हैं। जिसका महा भयंकर परिणाम जन्म-मरण रूपी महान् दुःख ही होता है। विश्व प्रेम तो महापुरुषों की सेवा से उत्पन्न होता है। महापुरुषों के प्रति जिस की जैसी श्रद्धा और जैसा भाव होता है, वैसी उसे सिद्धि भी मिलती है। अपने इष्ट-देव श्री सद्‌गुरु देव के प्रति कैसी भावना होनी चाहिए ? किस प्रकार सेवा करके गुरू को खुश करना है ? यही भेद शिष्य को जानना है।

किसी से यदि प्रश्न किया जावे कि तुम क्या चाहते हो ? तो वह यही उत्तर देगा, शान्ति ! परम सुख !! सारा विश्व परम सुख पाने के लिये ही इधर-उधर दौड़ लगा रहा है, मगर हमें किसी को भी संसार के व्यवहार में शान्ति मिलती नहीं दिखाई दे रही । सच्ची शान्ति का केन्द्र तो श्री सद्गुरु हैं। सद्गुरु की सेवा में तल्लीन हो कर जब तक मनुष्य स्वयं को नहीं भूल जाता उस समय तक किसी उपाय से भी जीव को शान्ति नहीं मिलती। हम संसार में क्यों आये हैं ? क्या करने आये थे ? क्या कर रहे हैं ? इन सब बातों की समझ-बूझ गुरू की शरण में जाने से ही आती है। सद्गुरु बड़े भाग्य से मिलते हैं। मिलने पर सभी पूर्ण रूप से पहचान भी नहीं सकते किन्तु पहिचान न होने पर भी सद्गुरु की सेवा से लाभ ही लाभ है।

आज संसार में यों तो गुरुओं की कमी नहीं है। पुस्तकों को पढ़ कर ही कितने ही मनुष्य स्वयं को ब्रह्म अथवा महापुरुष समझने लगते हैं। आज के समय में यदि गणना की जावे तो चेलों से गुरुओं की संख्या अधिक ही मिलेगी। जिस प्रकार गुरु बहुत हैं, उसी प्रकार से इन के भक्ति करने के रास्ते भी अनेक हैं। कोई भैरों की उपासना पर जोर देता है तो कोई काली पर मूक-पशुओं की बलि देकर बच्चे और बूढ़ों का हित समझता है। कोई मन्दिर की पूजा पर प्रकाश डाल रहा है तो कोई मूर्ति को तोड़ने पर लेक्चर झाड़ रहा है। जितने भिन्न-भिन्न प्रकार के गुरु हैं, वैसे ही इन के तन्त्र मन्त्र भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। कोई किसी मन्त्र को बता कर गुरू बन बैठा

है, तो दूसरा किसी दूसरे ही मन्त्र को बताकर गुरू-पूजा कराता है, परन्तु महापुरुष 'सौ सयानों का एक ही मत बताते हैं यह कहावत भी चली ग्राती है कि :—

बारह ब्राह्मण बारह बाट। बारह खाती एक ही घाट ॥

लकड़ी का काम करने वाले बढ़ई लोगों का काम करने का एक ही तरीका है। पर बारह ब्रह्मण एक बात को भिन्न-भिन्न कह कर या बताकर ग्राप भी बारह बाट हो रहे हैं और दूसरों को तीन तेरह कर रहे हैं जब धर्म की नैया के रक्षकों की यह गति है तो ग्रौरों की न जाने ग्राज क्या गति हो रही होगी सो ग्राप ही विचार करें। इन लोगों को परमार्थ से कोई सरोकार नहीं। चेले या पूजा करने वाले नर्क जावें या स्वर्ग जावें इन्हें तो ग्रपने-ग्रपने हलवे-माण्डे से मतलब है। यह तो दिन रात स्वार्थ के रंग में हाथ रंगने में लगे हुए हैं। भजन से मतलब नहीं, परन्तु भगवान् के भजन की बात कहते हैं। परमात्मा से दूर का भी नाता नहीं, पर भगवान् का दर्शन कराते हैं। यदि इनसे पूछा जावे कि पाठ पूजा करते-करते बुढ़ापा ग्रा गया, क्या तुम ने परमात्मा की कुछ झलक देखी है? तब झूठे धर्मों के ग्रभिमानी लोग क्रोधित होकर यही कहेंगे, क्या तुम्हें सामने रक्खे हुऐ भगवान् नज़र नहीं ग्राते ? पर भाई ! थोड़ा तो विचार करना चाहिए कि जब एक गाय की तस्वीर से दूध की उम्मीद रखना भूल है तो, भगवान् की मूर्ति में भगवान् के मिलने का ग्रानन्द कैसे ग्रौर कब मिलेगा ? मित्र के चित्र से जब मित्र की प्राप्ति नहीं होती, भगवान् के चित्र से भगवान् की प्राप्ति कैसे हो जायगी ?

मनुष्य चाहे जितना विद्वान, गुणवान अथवा चतुर हो पर, यदि उसका ईश्वर में प्रेम नहीं, गुरू-भक्ति में निष्ठा नहीं, तो उसकी विद्या और चातुरी किसी काम की नहीं। पहिले किसी का पुत्र कहलाएगा, तभी तो कुछ दिन बाद पिता बनेगा। पहिले दास भाव होगा, तभी तो स्वामी पद मिलेगा। जिसने कभी भूलकर भी गुरु सेवा न की हो, भला वह स्वामी कैसे हो सकता है। इसीलिए तो तुलसीदास जी को कहना पड़ा।

'सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरे उरगारि'

मोरे मन प्रभु अस विश्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा।।
राम सिन्धु घन सज्जन धीरा। हरि चन्दन तरु सन्त समीरा।।

सागर की लम्बाई, चौड़ाई, गहराई का कोई नाप तौल नहीं है। इतना अथाह जल है, मगर खारी होने के कारण नहाने, धोने, पीने और सिंचाई आदि के किसी काम में नहीं आता। पर जब बादल उसी समुद्र से खारीपन को त्यागकर मीठा जल पृथ्वी पर वर्षाते हैं, तो वही जल सभी मनुष्य, पशु-पक्षी वनस्पति आदि सभी को लाभदायक होता है। इसी प्रकार राम रूपी समुद्र सर्वव्यापक के नाते घट-घट में समाया हुआ है। घट-घट में उसकी ज्योति जगमगा रही है। घट-घट में उसका पवित्र नाम मौजूद है। मगर बिना जाने किसी काम का नहीं, खारी है।

घट में है सूझे नहीं लानत ऐसी जिन्द।
तुलसी या ससार को भयो मोतिया बिन्द।।

सागर के अथाह जल की तरह सर्वव्यापक परमात्मा किसी काम का नहीं। क्योंकि परमात्मा यह कभी नहीं कहता कि मैं

तुम्हारे दिल में बैठा हूँ और न ही किसी को इमका आनन्द मिलता है। मगर जब सद्गुरू-रूपी बादल आते हैं और हमारे ऊपर सत्संग रूपी वर्षा करते हैं तथा घट-घट व्यापक ज्योति जिसे भर्गो, चान्दना, परम-प्रकाश भक्ति, विश्व-रुप, नूरे-इलाही या डिवाइन लाइट *(Divine Light)* कहते हैं और प्रभु के पावन नाम का (जिसे अमृत-नाम, अखण्ड-नाम, महा-मन्त्र, सत्य-नाम, पावन-नाम, हक्क-नाम-बाँगे-इलाही, गैबी-आवाज़, गुप्त-नाम, 'हंस' नाम, प्रणव-योग, लय-योग, हंस-योग कहते हैं) ज्ञान करा देते हैं तो ऐसा जानकर जीव परमेश्वर के भक्ति रुपी मधुर जल को प्राप्त हो कर परम आनन्दित हो जाता है।

चन्दन का सारा वृक्ष ही सुगन्ध रूप होता है। मगर चन्दन का वृक्ष किसी को सुगन्ध देना चाहे तो वह दे नहीं सकता। मगर जब वायु (समीर) चलता है तो उसी चन्दन से सुगन्ध लेकर सारे बन के वृक्षों को चन्दन के समान सुगन्धित कर देता है। ठीक राम-रूपी सुगन्ध सभी के अन्दर है। मगर ज्ञान न होने के कारण हम ईश्वर-रूपी सुगन्ध को नहीं पा सकते। जब सद्गुरू रुपी वायु आते हैं, तो सभी को परमात्मा का ज्ञान करा कर राम-रूप ही कर देते हैं।

गुरू चार प्रकार के होते हैं—पारस गुरु, चन्दन गुरु, दीपक गुरू और भृङ्गी गुरू। पारस लोहे को सोना बना सकता है, मगर उसे अपने समान बनाने वाला पारस नहीं बना सकता? दीपक बुझे हुए दीपक को जलाता है। दूसरों को प्रकाश भी देता है, पर वह स्वयं अन्धेरे में रहता है। ऐसे गुरूओं से

कभी लाभ नहीं होता ।

पंडित और मशालची, इन को सूझे नाहिं ।
और‍ों को करें चाँदना, आप अंधेरे माहिं ॥

चन्दन में सुगन्ध है, मगर उस पर विषधर (साँप) लिपटे रहते हैं । अंग संग होने पर भी उनका विष दूर नहीं होता । भृङ्गी एक कीड़ा होता है जो किसी जाति के कीड़े को पकड़ कर लाता है । किन्तु भृङ्गी उस कीड़े को लाता है, जो कि ठोकर मारते ही बेहोश हो जाता है । भृङ्गी उस कीड़े को मिट्टी के छोटे घरोंदे में बंद करके अपना शब्द सुनाता है । कुछ समय के बाद वही कीड़ा भृङ्गी बनकर उस घरोंदे की दीवारें तोड़कर बाहर निकल आता है । और फिर वह भी अन्य कीड़ों को भृङ्गी बनाने लगता है । भृङ्गी ने दूसरे कीड़े को अपना रूप देकर अपने समान ही बना दिया । सद्गुरु भी किसी जाति के मनुष्य को अथवा जीव-रूपी कीड़े को शब्द की झंकार से सद्गूरु ही बना देते हैं । ऐसे गुरु से ही जीव का सच्चा कल्याण होता है ।

सद्गुरु की महिमा को कौन गा सकता है ? शेष और शारदा भी गुरु का गुण गाने में असमर्थ हैं । फिर और कौन सद्गुरु की महिमा तथा कृपा का बखान कर सकता है ? परन्तु वह शिष्य भी बहुत ही महान् है, जो कि गुरु का दास बनता है । उसी को मिला हुआ ज्ञान भी फलीभूत होता है ।

आप लोगों ने एकनाथ स्वामी का नाम सुना होगा, वह एक अच्छे सन्त हुए हैं । उन्होंने सच्ची भक्ति का उपदेश करके अनेक जीवों का कल्याण किया । उनके यहाँ भगवान् ने स्वयं

बारह वर्ष रह कर सेवा की थी। एकनाथ का जन्म महाराष्ट्र प्रान्त के पैठन गाँव में हुआ था। उनके माता-पिता की मृत्यु तो उनकी अबोध अवस्था में ही हो गई थी। दादा और दादी ने उनका बड़े लाड़-प्यार से पालन किया था। परन्तु माँ बाप का प्यार न मिलने से या पूर्व-जन्मों के संस्कारों के कारण संसार के पदार्थों में उनकी रुचि नहीं थी। वह सच्चे आनन्द को पाने की अभिलाषा में संसार से उदासीन रहा करते थे। यों तो वह देव-दर्शन को मन्दिरों में भी जाते थे, कथायें भी सुनते थे, पर केवल दर्शनों और कोरी कथाओं से उनके मन की भूख दूर नहीं हुई। जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे उन्हें परमात्मा के दर्शन की उत्कण्ठा बढ़ती ही गई। कथाओं में उन्होंने यह भी सुना था कि परमातमा का दर्शन भक्ति से होता है और सच्ची भक्ति का ज्ञान गुरू से होता है। एकनाथ को यह भी मालूम था कि देवगढ़ रियासत के दीवान जनार्दन स्वामी बड़े महापुरुष हैं। वह संसार के व्यवहार में रहते हुए भी संसार से बहुत ऊपर हैं। एकनाथ की प्रबल इच्छा जनार्दन स्वामी की शरण में जाने की थी। परन्तु पीछे से दादा और दादी के दुःख की याद करके एकनाथ जा नहीं पाते थे। यों तो दादा और दादी एकनाथ के वैरागी जीवन को देख-देख कर हर समय चिन्तित रहते थे परन्तु वह एकनाथ को प्रभु के प्रेम के मार्ग से हटाना भी नहीं चाहते थे। अन्त में मोह के ऊपर प्रेम ने विजय पाई और एकनाथ ने गुरूमहाराज की शरण में जाने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

रात आधी से अधिक बीत चुकी थी। संसार नींद में

सोया हुआ था। दादा और दादी भी नींद में मृतक के समान सोये पड़े थे। पर एकनाथ के नेत्रों में नींद का नामोनिशान भी नहीं था। यदि किसी मकान के चारों ओर आग लग जावे और अन्दर रहने वाले को यह पता लग जावे कि मकान के चारों ओर आग लगी हुई है, तो वह व्यक्ति सुख की नींद न सो कर उस मकान से बाहर निकलने का ही प्रयत्न करेगा। एकनाथ यह बात अच्छी प्रकार से समझ चुके थे कि संसार एक काठ की कोठी की तरह है। जिसके चारों और विषय रूपी अग्नि लगी हुई है और संसार मोह रूपी नींद में सोया पड़ा है। इसलिए काम, क्रोध, लोभ, मोह और अंहकार रूपी अग्नि में जल कर ही मरेगा। जो संसार रूपी कोठी से बाहर निकल जावेगा, वह ही इस अग्नि से बच सकेगा। एकनाथ दुःख रूपी अग्नि से बचकर सच्ची शान्ति चाहते थे। इसीलिए उनकी नींद और भूख भाग गई थी। उन्हें तो बस एक ही ध्यान था, कि वह कौनसा शुभ समय होगा, जब कि मैं जाकर श्री गुरू जनार्दन स्वामी के चरणों में साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करूँगा ?

एकनाथ ने धीरे से द्वार खोला और घर के बाहर निकल गये। दसों-दिशाओं में अन्धकार छाया हुआ था। पर जिस प्रकार आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे, उसी प्रकार एकनाथ के हृदय में भी गुरू-दर्शनों का आशा रूपी दीपक जगमगा रहा था। एकनाथ को जाते-जाते दादा-दादी और प्रिय परिवार का कुछ ख्याल आ गया, आँखों में आँसू भर आये, मगर एकनाथ ने इस दुर्बलता को दूर करके अन्धकार में आगे ही कदम बढ़ा दिये और गाँव से बाहर हो गया।

दाना-पानी होने पर भी यदि पिंजरे की खिड़की खुली मिल जावे तो पक्षी दाने-पानी का लालच छोड़कर पिंजरे से बाहर निकलने की ही सोचेगा। एकनाथ जी मोह रूपी पिंजरे को तोड़कर उस प्रकाश की खोज में भागे जा रहे थे, जहाँ कि संसार का कोई भी दुःख नहीं है। जिस प्रकार विषयों के मिलने की लालसा से लोग संसार के अनेक होने वाले कष्टों की परवाह नही करते वैसे ही एकनाथ अंधेरे में होने वाले कष्टों की परवाह नहीं कर रहे थे। कहीं गड्ढे में गिर रहे थे कहीं पत्थरों की ठोकरें लगती थीं, काँटों से कपड़े फट रहे थे, पैर काँटों के लगने से छलनी हो रहे थे, पर एकनाथ को इन बातों की कोई चिन्ता नहीं थी कि आगे अंधेरे में क्या-क्या होना है। गीदड़ों के रोने की आवाज़ से कलेजा काँपता था, उल्लू की अनेक प्रकार की भय उत्पन्न करने वाली बोली कानों में आ रही थी। मगर एकनाथ का ख्याल इन बातों में से किसी पर भी नहीं जाता था। वह तो जल्दी से जल्दी अपने स्वामी के चरणों के निकट पहुँचना चाहते थे। वह अपने मार्ग में आगे ही बढ़ते गये।

प्रातःकाल होने पर जब बूढ़े दादा और दादी को एकनाथ दिखाई नहीं दिये तो उन्होने रो-रो कर सारे गाँव के नर-नारियों को इकट्ठा कर लिया। सारे घर में उदासी छा गई। पक्षी उड़ गया, और घर वाले पिंजरे को देख-देख कर दुःखी हो रहे थे। जिस समय एकनाथ के घर में कोहराम मचा हुआ था, ठीक उसी समय एकनाथ नदी किनारे बैठ अपने पैरों से काँटे निकाल रहे थे। काँटों के साथ खून की धारा बह-बह कर निकल रही थी। पथ ने पथिक को थका कर चूर कर

दिया था। मगर उसका मन एक अद्‌भुत आनन्द की झाँकियाँ ले रहा था। वे यही सोच रहे थे :

"दुनिया से छूटा नाता, हुई हरि मिलन की आशा"।

आशा कह रही थी, एकनाथ ! तू बड़ा भाग्यशाली है, जो तेरे दिल में गुरू का प्यार पाने की उत्कण्ठा हुई है। नहीं तो सभी संसार का प्यार पाने में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं। तू चल तो पड़ा है ! पर देखना तो यह है, कि तुझ गुणहीन पर श्री गुरूमहाराज कब कृपा करते हैं, कब प्रेम की नज़र डाल कर तेरे हृदय रूपी कमल को खिलाते हैं।

एकनाथ ने थकावट को दूर करने के लिए हाथ, पैर और मुँह धोये तथा जल पीकर अपने घर की ओर मुँह करके खड़े हो गये। अचानक उन्हें घर वालों की याद आ गई। एकनाथ यह बात अच्छी प्रकार से जानते थे कि उनके घर से भाग आने पर घर के सभी लोग कैसे दुःखी हो रहे होंगे ! एकनाथ का चेहरा फ़ीका पड़ गया और उन्हें फिर मोह ने आ कर घेर लिया।

कुटुम्ब-कबीले को त्याग कर दूर चले जाना जितना आसान है, उतना प्यारे परिवार की याद को दिल से भुलाना आसान नहीं है। पर एकनाथ तो इन सब रोगों से निवृति पाने के लिए ही सद्‌गुरू रूपी वैद्य की शरण में जा रहे थे।

एकनाथ घर की याद करके बेचैन से हो रहे थे। चिन्ता उनके चेहरे पर स्पष्ट दिखाई दे रही थी। एकनाथ अभी खड़े हुए कुछ सोच ही रहे थे कि इतने में एक सज्जन पुरुष जो घोड़े पर सवार थे, जिनकी भेष-भूषा बहुत सादी और आकर्षक

थी, अचानक ही आ कर एकनाथ के सन्मुख खड़े हो गये तथा एकनाथ से कहने लगे—भाई ! तुम इतने सवेरे यहाँ खड़े-खड़े क्या सोच रहे हो ? तुम्हारी चिंता का क्या कारण है ? और हाँ ! तुम्हें जाना कहाँ है ? एकनाथ ने गाँव की ओर से मुख फेर कर दूर तक सामने दिखाई देने वाले रास्ते पर नज़र डालते हुए कहा—बहुत दूर जाना है । मुसाफिर ने कहा, फिर भी जहाँ जाना है, वहाँ के लिए तो घर से चलने से पहले निश्चय किया ही होगा ? निश्चय के बिना तो कोई एक कदम भी नहीं उठाता ।

परदेश में यदि कोई थोड़ी भी सहानुभूति से हमारे कष्टों को पूछने वाला मिल जावे, तो हमें वह प्रिय कुटुम्बी ही मालूम होता है । फिर एकनाथ तो घर-बार छोड़ कर चले ही आये थे । अब तो उन्हें सारा संसार ही अपने प्यारे परिवार के समान मालूम होने लगा था । जिनका संसारी स्वार्थ समाप्त हो जाता है, उन्हें किसी से भी द्वेष और वैर-भाव नहीं रहता ।

मुसाफिर की मन-मोहनी-वाणी को सुन कर एकनाथ मुग्ध हो रहे थे और मुसाफिर के चेहरे की ओर टकटकी लगा कर देख रहे थे । बड़े नम्र भाव से कहने लगे "श्री गुरूमहाराज जी के चरणों में जा रहा हूँ ।"

मुसाफिर ने पूछा, ऐसे गुरू कौन हैं, जिन्हें तुम जैसा शिष्य मिला है ? एकनाथ ने कहा—'पंडित जनार्दन स्वामी' इतना कह कर दोनों हाथ जोड़े और सर झुका लिया । मानो अब भी श्री गुरुमहाराज जी सामने ही खड़े हों ।

मुसाफिर घोड़े से नीचे उतर आया । वे एकनाथ का गुरू

के प्रति ऐसा श्रद्धा-भाव देख कर बड़े प्रसन्न हुए। एकनाथ से कहने लगे, क्या देवगढ़ के दीवान 'जनार्दन पन्त'? एकनाथ ने फिर श्रद्धा-भक्ति से सर झुका कर कहा, जी हाँ! दीवान जी ही मेरे गुरू हैं। वे एक महापुरुष आत्मसंयमी, शीतल स्वभाव वाले दीनों पर सदा कृपा दृष्टि रखने वाले हैं। उन जैसा मेरी नज़र में और कोई भी दूसरा महापुरुष नहीं है। क्या आप ने उन के कभी दर्शन भी किए हैं? वे तो बड़े ही कोमल स्वभाव के हैं। एक बार दर्शन पाकर तथा वार्तालाप करके मनुष्य मुक्त कण्ठ से उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। मुसाफिर कहने लगा, हाँ! मुझे कई बार उन के दर्शन करने का सौभाग्य मिला है। किन्तु सुना है उन्होंने अभी तक किसी को भी शिष्य रूप में ग्रहण नहीं किया है और न ही मैंने उनके यहाँ अभी तक कोई शिष्य देखा है? मुझे तो बड़ा आश्चर्य हो रहा है कि उन्होंने कैसे शिष्य बना लिया?

एकनाथ ने कहा, आप का जीवन धन्य है। आप ऐसे महा-पुरुष के दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये हैं। शिष्य तो उन्होंने मुझे भी नहीं बनाया है। पर मैंने उन्हें दिल से गुरू मान लिया है। अभी मैं ऐसे महापुरुष के दर्शन करने ही जा रहा हूँ। मुझे तो पूरा भरोसा है कि मेरी दीनता को देख कर दीन-बन्धु मुझ पर अवश्य ही कृपा करेंगे। अपने चरणों की शरण देकर मेरे सर पर अपना हस्त कमल रख कर अवश्य मेरे दारुण दुःखों को हरण करेंगे। मुसाफिर ने कहा, तो क्या तुम्हें अभी तक उनके दर्शन भी नहीं हुए हैं? एकनाथ ने कहा, जी नहीं! अभी तक यह भाग्य-हीन प्राणी गुरू के दर्शनों से वंचित ही

है। मुसाफिर ने कहा, तुम्हारी अवस्था तो अभी बहुत ही छोटी है। एकनाथ ने कहा, पर बहुत आयु तक जिन्दा ही रहूँगा, यह भी तो कोई भरोसा नहीं है। इसीलिए मोह बंधन को ढीला करके सत्य को जानने की इच्छा से गुरुदेव की शरण लेने की भावना जाग्रत हुई है। मुसाफिर ने पूछा क्या तुम्हें संसार का भी कुछ अनुभव है? एकनाथ ने कहा, न तो अभी मुझे संसार का अनुभव है और न परमार्थ का ही अनुभव है, पर गुरुदेव की कृपा से दोनों बातों का ज़रूर अनुभव हो जायगा। मुसाफिर—'भाई! मार्ग है तो बहुत ही कठिन और टेढ़ा-मेढ़ा, क्या इस रास्ते को पार कर सकोगे? एकनाथ–'किन्तु गुरू तो कठिन मार्ग को भी सरल बना देते हैं। जिस पर गुरु की कृपा हो जाती है वह तो सागर को भी एक छलाँग में पार कर सकता है।' मुसफिर ने हँस कर कहा, तुम्हारा साहस तो बहुत है, मगर देवगढ़ भी तो यहाँ से बहुत दूर है, वहाँ तक पाँवों से पैदल कैसे पहुँच सकोगे। एकनाथ ने कहा—जिसे किसी वस्तु के पाने की लग्न होती है, उसे मार्ग की दूरी या मार्ग का कष्ट प्रतीत नहीं होता। वस्तु चाहे कितनी दूर हो, मगर उसे वह वस्तु सदा हृदय के निकट ही नज़र आती है। मुसाफिर—कोई सवारी क्यों नहीं ले लेते? एकनाथ ने कहा—गुरुदेव के चरणों में जा रहा हूँ! फिर तो मुझे आना जाना है ही नहीं। क्यों न नंगे पाँव चल कर दर्शन करूँ? उनकी याद करता हुआ आनन्द से वहाँ तक पहुँच ही जाऊँगा। दिन-रात मुझे चलनें का ही काम है।

मुसाफिर एकनाथ की बातों से बहुत ही प्रसन्न हुये। मन

में विचार किया कि लग्न, श्रद्धा, प्रेम, उत्साह तो खूब है, यदि यह ऐसा ही दृढ़ रहा, तो मंजिले-मकसूद पर अवश्य पहुँच जायेगा। एकनाथ से कहा, बेटा! तुम्हारे साहस और लग्न को देखकर मेरा हृदय कहता है कि तुम परमार्थ में जरूर सफलीभूत होगे। मुसाफिर इतना कह कर वहाँ से चल पड़ा।

मार्ग निस्सन्देह दूर था, पर एकनाथ को कोई भी दूरी का ख्याल नहीं था, वे गुरू के दर्शनार्थ भावना के घोड़े पर चढ़ कर भागे जा रहे थे। आराम नाम को भी नहीं था, पर फिर भी एकनाथ को मार्ग का कष्ट प्रतीत नहीं हो रहा था। दिन-रात की मंजिलों को एक करके, आखिरकार एक दिन एकनाथ देवगढ़ पहुँच ही गये। देवगढ़ के दूर से दर्शन होते ही उनका चेहरा कमल की तरह खिल उठा, सारी थकान क्षण भर में दूर हो गयी। उन्हें खुशी भी क्यों न होती? जब कि वह अपने मंजिले-मकसूद पर पहुँच चुके थे।

एकनाथ लोगों से दीवान श्री जनार्दन पंत का पता पूछते-पूछते दीवान-खाने के सामने पहुँचे। दीवान जी उस समय सरकारी कागज़ात देख रहे थे। एकनाथ धीरे से अन्दर चले गये। मगर दीवान जी को एकनाथ के आने का कोई पता नहीं हुआ। एकनाथ ने भक्ति भाव से साष्टाँग दण्डवत् प्रणाम किया तथा एक कोने में खड़ा होकर दीवान जी की ओर प्रेम दृष्टि से देखने लगे। दीवान जी के ऊपर नज़र पड़ते ही एकनाथ के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, अरे! यह तो वही मुसाफिर हैं जो कि मुझे नदी के किनारे

पर मिले थे। एकनाथ के सारे शरीर में रोमांच हो गया और नेत्रों से आँसुओं की प्रेम-धारा बहने लगी। हे गुरुदेव! इतने महान् होते हुए भी अपने आप को कितना छिपाये हुए हो? पर क्या कभी मुशक की सुगन्ध पर्दों में छिप सकती है?

एकनाथ अपने विचारों में डूबे हुये थे, सहसा दीवान जी ने ऊपर नज़र उठाई और एकनाथ को सन्मुख खड़ा देखकर मुस्कराने लगे। एकनाथ दौड़कर जनार्दन स्वामी के चरणों में लिपट गया और फूट-फूट कर रोने लगा, मानो! आँसुओं के जल से अपने इष्टदेव के चरण पखारने लगा। पर यह आँसू नहीं थे, प्रेम के आँसूओं की गंगा थी, जो कि संसार के महा-कठिन बन्धन रूपी हिमालय को पार कर नाना कष्ट रूपी पत्थरों, चट्टानों और जंगलों को पीछे छोड़ती हुई सद्गुरु रूपी सागर में आई है और अब महासागर में लीन होती जा रही है। यह आँसू नहीं बल्कि एकनाथ की वाटिका के श्रद्धा एवं भाव रूपी पुष्प थे, जो आँसुओं के रूप में अपने भगवान् के श्री चरणों में चढ़ाये जा रहे थे।

दीवान जी ने एकनाथ के सर पर प्रेम से हाथ फेरते हुए कहा, आखिर तुम आ ही पहुँचे? पर बेटा! मार्ग में बहुत ही कष्ट हुआ होगा? एकनाथ ने कहा, हुआ होगा प्रभो! किन्तु अब नहीं है। आप का दर्शन करते ही मेरी थकावट और मेरा सब दुःख दूर हो गया है। हे गुरुदेव! मेरी तो अब यही इच्छा है कि सदा मेरा मस्तक, मेरा मन इन्हीं चरणों में लगा रहे। दीवान जी कहने लगे, पर मैं तो गृहस्थी हूँ। गुरू-मन्त्र लेना है तो तुम्हें किसी साधू, सन्यासी या वीतराग परमहंस को

गुरू बनाना चाहिए। एकनाथ ने कहा मैंने तो अपना परम-'हंस' परमयोगी और परमात्मा पा लिया है। इसीलिए वहाँ से यहाँ तक आया हूँ। देवगढ़ के स्वामी दीवान भी हैं, पंडित भी हैं, परमयोगी, साधु, वीर, उदार और परमगुरु सभी कुछ तो हैं। मैं यह सभी बातें अपने श्री गुरुदेव में देख रहा हूँ जो कि न्याय और समदृष्टि की साक्षात् मूर्ति हैं। जिनकी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान का कोई भेद नहीं है, वस्त्र न रंगे होने पर भी महात्मा (महान् आत्मा) ही तो हैं। जिनकी ब्रह्मा आदि सभी देवता हाथ जोड़ कर स्तुति गाते हैं, जिनके चरणों में सारा विश्व सर झुकाता है, जिनसे सारा विश्व माँगता है, ऐसे त्रिभुवन-पति श्री गुरुदेव की चौखट छोड़ कर किस कंगाल के दर भिक्षा माँगने जाऊँ ? जो आप के दर पर आकर भी खाली हाथों लौट जाता है, वह तो भाग्य-हीन ही है। जिसे नेत्र रोग होता है, उसे ही सारा विश्व पीला नज़र आता है। जिस पर आप की कृपा दृष्टि हो जाती है, वह श्री चरणों को पाकर अपने भाग्य को धन्यवाद दिये बगैर नहीं रह सकता। कौन कहता है, आप गृहस्थी हैं ? आप तो जल में प्रगट होकर जल से अलग रहने वाले कमल हैं। भौंरे ही आप के रूप पर मुग्ध होते हैं। खून को चूसने वाली जोंक कमल की सुगन्ध और रूप को नहीं जानती। जो लोग आपको गृहस्थी समझते हैं, उनकी आँखों पर माया का पर्दा पड़ा हुआ है। जो लोग स्वयं राग-द्वेष, काम-क्रोध की अग्नि में जल रहे हैं, वे ही आप को माया के बन्धन में समझते हैं। नाव में बैठकर चलने वाला स्वयं को अचल समझ कर संसार को चलता हुआ देखता है।

जनार्दन-स्वामी कहने लगे, वाह ! क्या ही श्रद्धा और भाव हैं, यही श्रद्धा तुम्हें यहाँ तक ले आई है। परन्तु पुत्र ! यह तो विचार करो, मैं तो यहाँ के राजा का दीवान हूँ। गुरू तो सर्वज्ञ, सर्व-अन्तर्यामी को कहते हैं। जिस राज्य का मैं दीवान हूँ इसकी सीमा सीमित हैं। फिर तुम्हें हम को गुरू धारण करने की इच्छा कैसे उत्पन्न हुई ? और मैंने तो अभी तक किसी को भी शिष्य नहीं बनाया है।

एकनाथ ने कहा, स्वामी ! आप औरों के लिये अवश्य दीवान जी होंगे। परन्तु मेरे लिए तो आप शाहनशाहों के शाहनशाह हैं। गुरू तो सारे विश्व का मालिक होता है, गुरू सबके दिलों पर राज्य करता है। आप सभी मत वालों के अनुसार नाना प्रकार के रूप धारण करके मुझ जैसे भूले हुए जीवों को सत्य स्वरूप दिखाने के लिए सगुण रूप से प्रगट होते हो। आप के उस सत्य एवं नित्य स्वरूप को ब्रह्मा आदि देवता भी नहीं जानते। जिस पर आप कृपा करते हो, वही आप के उस सत्य स्वरूप का दर्शन करता है। यद्यपि आप परम स्वतन्त्र हो, तथापि श्री चरणों में प्रेम करने वाले भक्तों के सदा वश में रह कर उन की इच्छा अनुसार रूप धारण करते हो। चराचर जगत के उत्पन्न, पालन और संहारकर्त्ता आप ही हो। जिस प्रकार मकड़ी जाले को फैला कर अपने अन्तर-में समेट लेती है, वैसे ही आप अपने से स्वयं को प्रगट करके अपने में लीन कर लेते हो। जो लोग छल, कपट को त्याग कर आप की शरण लेते हैं, हे अखिल नियन्ता ! वे ही आप के सत्य स्वरूप का दर्शन पाते हैं। हे स्वामी ! आप के चरणों के सिवा

सम्पूर्ण लोकों में भय ग्रस्त प्राणियों के कल्याण का दूसरा मार्ग है ही नहीं। आज्ञानुसार सेवा में रह कर मैं अपने जगत पति श्री सद्गुरुदेव के चरणों की सेवा का लाभ उठाना चाहता हूँ, जिसके लिए लोकपाल और देवता भी तरसते हैं। साधारण जीवों की तो बात ही क्या है, ब्रह्मा भी आप की लीलाओं को देख कर चकित रह जाता है। आप जो कुछ भी हो, परन्तु मेरे तो सर्वस्व हो। मुझे अब आपके सिवा विश्व में कोई भी आसरा दिखाई नहीं देता। मेरा तो अब इन्हीं चरणों में ठिकाना है।

विनय, श्रद्धा और प्रेम के सन्मुख तर्क काम नहीं करता। परन्तु फिर भी दीवान जी ने कहा अच्छा ! यदि तुम्हारी भावना मेरे से ही गुरू-मंत्र लेने की है, तो तुम्हें पहले यह सिद्ध करके दिखलाना होगा कि तुम मन्त्र लेने योग्य हो, कहो परीक्षा देने के लिये तैयार हो ? एकनाथ ने सिर झुका कर कहा, मुझ में ऐसी क्या योग्यता है, जो मैं परीक्षा दे सकूं। जैसा आप करायेंगे, मैं तो वैसा ही करूँगा। मैं तो एक कठ-पुतली की तरह हूँ, जैसे आप नचायेंगे, मुझे तो वैसे ही नाचना है। एकनाथ ने इतना कहकर गुरू-चरण-धूलि को मत्थे लगाया और हाथ बाँध कर सामने खड़ा हो गया।

यह सारा संसार असार है, परन्तु जीव असार संसार में अज्ञान के कारण सार की खोज करता है। आशा की डोरी में बँधकर भ्रमता फिरता है। आशा के बंधन तो कोई वीर ही तोड़ता है। यद्यपि यह बन्धन कच्चे सूत से भी कमज़ोर है, जीव में इन को तोड़ने का बल भी है, पर जैसे लकड़ी में छेद

करने की ताकत रखने वाला भौंरा कमल की कोमलता और सुगन्ध के प्रेम में बँधकर प्राण गँवा देता है पर उसे छेदता नहीं, वैसे ही यह जीव मोह के कारण आशा के बन्धनो को ढीला नहीं होने देता।

'लाखों मध्य है नहीं, करोड़ों मध्य देख'

लाखों करोड़ों मनुष्यों में से कोई एक ही मोह के बन्धन से मुक्त होने के लिए वास्तव में शिष्य पद को ग्रहण करता है। गुरू धारण करना बड़ी बात नहीं, बड़ी बात तो मरण-पर्यन्त शिष्यता को निभा देना है। शिष्य तो बहुत हैं परन्तु शिष्यता को निभाने वाला कोई-कोई ही होता है। कई लोग दस-बीस या सौ-पचास रुपये की सेवा करके अपने को बड़ा भक्त समझ लेते हैं। यों तो अपने लिए हज़ारों का व्यापार करते हैं, पुत्र और पुत्रियों की शादी में हज़ारों रुपये लगाते हैं। अपने लिए भी कोई कमी नहीं करते। मगर इतना कुछ करने पर भी समझते यही हैं कि सब कुछ गुरूमहाराज जी का है। शरीर के जन्म-दाता माता-पिता हैं। जो माता की सेवा करता है, मानो समस्त पृथ्वी का पूजन ध्यान कर रहा है। जिसने माता की परिक्रमा करके चरणों में सर झुकाया है, उसने समस्त पृथ्वी के देवताओं को ही प्रणाम किया है। जो पिता को प्रणाम करता है, पिता की सेवा-पूजा करता है, वह प्रजापति ब्रह्मा को ही खुश करता है। जिसने अपने व्यवहार से सद्गुरु को प्रसन्न कर लिया है, मानो उसने जगत-नियन्ता श्री नारायण को ही अपना बना लिया है। सद्गुरु की सेवा-पूजा, परमपिता परमात्मा की ही सेवा-पूजा कहलाती है।

इसीलिए गुरु को माता-पिता से बढ़कर बताया है। माता-पिता से शरीर मिलने पर भी जीव को मानसिक वा शारीरिक क्लेश बने ही रहते हैं। माता-पिता पुत्र के कर्म-भोग को नहीं टाल सकते। परन्तु ज्ञान-दाता गुरु का दिया हुआ जन्म दिव्य होता है। गुरु ज्ञान देकर कर्म और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त कर देते हैं। हमारे अनेक जन्मों में अनेक माता-पिता बने होंगे परन्तु वे सभी हम से छूट गये। पर सद्गुरु का साथ कभी नहीं छूट सकता। सच्चे माता-पिता तो एक गुरु ही हैं। जो ऐसा उत्तम जीवन पाकर गुरु की सेवा से मुख मोड़ता है, गुरु से विमुख होता है, उसको कभी भी सुख-शान्ति नहीं मिलती और न उसका कभी कल्याण होता है।

गुरु की सेवा से सभी देवता, पितृ और ऋषि प्रसन्न होते हैं। गुरु के सत्कार को ही देवता स्वीकार करते हैं। गुरु की सेवा करना ही संसार में सबसे उत्तम कर्म तथा धर्म है तथा यही एक कल्याण का साधन है। जो मनुष्य शरीर के जन्म-दाता, माता-पिता से द्रोह करता है, उनकी सेवा नहीं करता, वह नर्क में जाकर महान् कष्ट पाता है। फिर ज्ञान-दाता गुरू से द्रोह करने वाले को तो तीनों लोकों में कहीं भी ठिकाना नहीं। गुरू के किये हुये उपकार का कभी बदला नहीं चुकाया जा सकता।

गुरू का भक्त ही वास्तव में शिष्य कहलाने का अधिकारी होता है। जिस शिष्य में गुरू-भक्ति एवं गुरू-सेवा का भाव नहीं होता, वह शिष्य होते हुए भी शिष्य नहीं है। सवा रुपये की दक्षिणा देने वाले शिष्यों की तो संसार में कमी नहीं होगी

परन्तु गुरू के चरणों में सर्वस्व न्यौछावर करने वाला तो कोई बिरला ही शिष्य होता है। दक्षिणा पर जीवन व्यतीत करने वाले गुरू भी बहुत मिल जायेंगे, किन्तु जीव का सच्चा हित करने वाला गुरू भी कोई ही होता है।

जो लोग विद्या पढ़कर गुरू का आदर सत्कार नहीं करते, सद्गुरू से सद्विद्या की दीक्षा लेकर मन, वाणी और कर्म से गुरू की आत्मा को प्रसन्न नहीं करते उन्हें मिली हुई विद्या और सदुपदेश फलीभूत और सुखदाई नहीं होता। जिस प्रकार सद्गुरू शिष्य को ज्ञानोपदेश देकर शान्ति और आत्मोन्नति के पथ पर आगे बढ़ाते हैं, वैसे शिष्य का भी कर्त्तव्य और धर्म है कि सब से आगे बढ़कर, संसार की सब बातों का मोह त्यागकर, श्रद्धा, प्रेम और सेवा द्वारा गुरू की आत्मा को प्रसन्न करने का प्रयत्न करे। इसी में शिष्य का कल्याण और भलाई है।

मान लो हम बाज़ार से कोई वस्तु लेने के लिए जाते हैं। उस वस्तु की कीमत एक रुपया हो और हम पैसे दो पैसे में या आने दो आने में लेना चाहें, तो नहीं ले सकते। ऐसे ही तन, मन, धन देने पर ही सद्गुरू अपनाये जाते हैं। यदि अपनी कमाई का पैसा दो पैसा देकर यही समझा जावे, कि गुरूमहाराज जी मेरे हो गये हैं, तो इसे भूल ही कहना होगा। कारण यह है कि रुपये की वस्तु तो रुपये में ही मिलेगी, फिर बाज़ार में तो झूठा व्यवहार भी चलता है। परन्तु गुरू का दरबार तो सच्चा दरबार है, वहाँ तो पूर्ण सत्य से काम चलता है। यदि तन, मन, धन देना न होता तो कहलाने की भी आवश्यकता न थी

और शास्त्रों में भी जगह-जगह लिखने की आवश्यकता न होती। जिस कार्य के पूरा होने में सेवा की आवश्यकता होती है, उस में सेवा से ही काम चलता है। बिना सेवा के शिष्य बन जाता तो सेवा के लिये कहने की क्या ज़रूरत थी ?

एकनाथ तो सर्व प्रकार के बन्धनों को तोड़ कर ही आया था। उसकी वृत्ति लौटने वाली नहीं थी। तीन वर्ष व्यतीत हो गये। उसने अपने जीवन को गुरू सेवा में ऐसे लगाया कि तीन वर्ष बात की बात में बीत गये। उसे दिनों की गिनती की खबर ही न रही। सेवा में लगकर दिन-रात एक कर दिया। ऐसी सेवा तो कोई ख़रीदा हुआ दास भी क्या करेगा ? परन्तु एकनाथ तो सचमुच ही गुरू को बिक चुका था। पानी भरना, कपड़े धोना, बर्तन मलना, गुरूमहाराज जी के बच्चों को खिलाना, एकनाथ के नित्य कर्म में शामिल हो गया था। साथ-साथ एक तरह दीवान-खाने के कार्य का सारा भार भी दीवान जी ने एकनाथ के कन्धों पर ही डाल दिया था। दीवान जी एकनाथ की योग्यता को देखकर सारे कार्यों से निश्चिन्त से हो गये थे। सब काम एकनाथ की मर्ज़ी से होता था सभी कर्मचारी प्रत्येक कार्य को करने की आज्ञा एकनाथ से ही लेते थे। उन्हें किसी काम के लिये भी दीवान जी से पूछना नहीं पड़ता था। प्रेम-पूर्वक व्यवहार करने के कारण प्रजा-वासी भी एकनाथ के सभी कामों से बड़े खुश थे। गरीब से गरीब के दुःख की बात को एकनाथ जी बड़े ध्यान-पूर्वक सुनते और उसके दुःख को शीघ्र से शीघ्र दूर करने का उपाय करते थे। इसीलिये प्रजा-वासियों के दिलों में एकनाथ की, दीवान जी

की ही तरह जगह बन गई थी। एकनाथ किसी बात के लिए भी किसी को दीवान जी तक शिकायत करने का मौका नहीं देते थे। वह छोटी से छोटी सेवा करने के लिए हर समय स्वयं तैयार रहते थे और अपने काम को कभी भी कर्मचारियों के ऊपर नहीं छोड़ते थे। यों तो सभी लोग अपनी योग्यतानुसार राज्य कार्य को करते थे परन्तु एकनाथ जी में विशेष बात यही थी कि सब से अधिक सेवा कार्य करने पर भी उन्हें किसी भी कार्य करने का अभिमान न था। प्रत्येक कार्य के करने में एकनाथ अपने में कमी ही महसूस किया करते और सोचा करते कि गुरुमहाराज जी मेरी परीक्षा ले रहे हैं। यदि पास हो गया, तो हमेशा के लिए जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाऊँगा और यदि फेल हो गया तो फिर चौरासी के चक्कर में घूमना पड़ेगा।

परीक्षा से सभी को भय लगता है। जो विद्यार्थी वर्ष के तीन सौ साठ दिनों में बड़े परिश्रम से पढ़ता है, उसे भी परीक्षा का समय आने पर बड़ा भय लगता है। ज्यों-ज्यों परीक्षा निकट आती जाती है, विद्यार्थी का दिल बेचैन होता है। परीक्षा की बात सोचकर एकनाथ का भी दिल बैठ जाता था। परन्तु गुरू की कृपा-दृष्टि को देख कर उनका साहस कभी कम नहीं होता था। उन्हें पूरा विश्वास था कि चाहे कितनी ही कठिन परीक्षा हो परन्तु मैं जरूर पास हो जाऊँगा। जिस बात का भय होता है, वह अवश्य सन्मुख हो जाती है। आखिरकार एकनाथ की परीक्षा का दिन आ ही गया।

प्रातःकाल का समय था। जनार्दन स्वामी एकान्त कमरे

में बैठे हरि चिन्तन कर रहे थे और एकनाथ जी कमरे के बाहर खड़े पहरा दे रहे थे ताकि दीवान जी के कमरे में जाकर या बाहर कोई किसी प्रकार का विघ्न न करे।

संयोग कहिये या गुरूमहाराज की लीला कहिये; एक सवार दूर से घोड़े को दौड़ाता हुआ एकनाथ के पास आ रहा था। घोड़े के टापों की आवाज़ को सुन कर एकनाथ चौकन्ने हो गये। एकनाथ ने घुड़सवार को दूर ही रुकने के लिए संकेत किया, ताकि घोड़ों के टापों की आवाज़ श्री गुरूमहाराज जी तक न पहुँचे। एकनाथ ने सवार को धीरे से कहा, बिना किसी प्रकार का शोर किये, आने का कारण मुझे समझाये ? सवार धीरे-धीरे घोड़े से नीचे उतर आया, एकनाथ को सर झुकाकर प्रणाम किया और जेब से एक शाही लिफाफा निकाल कर एकनाथ के हाथों में दे दिया। लिफाफा दीवान जी के नाम था। पता पढ़कर एकनाथ ने सवार से कहा, जब दीवान जी नित्य-कर्म से निवृत्त होकर बाहर आयेंगे, तो उस समय मैं यह लिफाफा गुरूमहाराज जी की सेवा में दे दूंगा। सवार ने कहा—यह ज़रूरी शाही फर्मान है। आप इसी समय दिवान जी की सेवा में पहुँचाने की कृपा करें। एकनाथ ने कहा, अभी तो गुरू जी भजन में बैठे हुए हैं। जब समाधि से उठेंगे, तभी मैं आपका पत्र उनकी सेवा में पहुँचा सकूँगा। सवार ने कहा, यह राजा का बहुत ही ज़रूरी परवाना है, दीवान जी को समाधि से उठा दीजिये और यह परवाना उन्हें पढ़ने के लिये दे दीजिये। एकनाथ ने कहा, यह तो बहुत असम्भव सी बात है। गुरू जी को समाधि से उठाने की शक्ति तो ब्रह्मा, विष्णु और महादेव

में भी नहीं है फिर मेरी तो बात ही क्या है ? एकनाथ की बातों को सुनकर सवार का रंग पीला पड़ गया । सवार के चेहरे के बदलते हुए रंग को देख कर एकनाथ ने पूछा, क्या पत्र में बहुत ही आवश्यक बात लिखी हुई है ? सवार ने कहा, बहुत आवश्यक कार्य न होता, तो मैं क्या पागल था जो दीवान जी को भजन में से उठाने के लिये आपको इतना मजबूर करता ।

एकनाथ ने लिफाफे को उलट-पलट कर देखा और कहा, आखिर ऐसा कौनसा जरूरी काम है, जो थोड़ा भी इन्तजार नहीं कर सकते । इस बार सवार बहुत बेचैन हो गया और आवेश में आकर एकनाथ से कहने लगा, या तो आप परवाने को दीवान जी के पास पहुँचा दीजिये, वरना मुझे हठ करके उनके पास जाना होगा। एकनाथ ने कहा, ये आप क्या कहते हो ? ये तो राजा साहब का परवाना है, यदि स्वयं राजा साहब भी आ जावें, तो उन्हें भी प्राण रहते गुरू जी के पास नहीं जाने दूँगा क्योंकि गुरूमहाराज जी की ऐसी ही आज्ञा है। मैं शिष्य के नाते गुरू जी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता, चाहे कितनी ही विपत्ति क्यों न आने वाली हो ।

सवार ने जब देखा कि एकनाथ अब किसी प्रकार भी दीवान जी के पास नहीं जाने देगा और न पत्र ही पहुँचायेगा तब सवार ने धीरे से कहा, भैया ! आप पत्र में लिखी हुई बात को न जानने के कारण ही इतनी देर कर रहे हो । राजा की तो यह आज्ञा थी कि सिवाय दिवान जी के और किसी से इस भेद को न कहना । परन्तु अब तो आपसे अवश्य ही कहना

पड़ेगा। देखो! रियासत पर शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया है। उनकी सेनायें राजधानी के निकट भी पहुँच गई हैं। ज़रा सी चूक होने से राज्य शत्रुओं के हाथों में चला जायेगा। यों तो हमारी सेना भी लड़ने के लिये तैयार खड़ी है परन्तु दीवान जी की आज्ञा के बिना वह आगे वढ़ने को तैयार नहीं होती। राजा साहब, दीवान जी को इसलिये शीघ्र बुला रहे हैं। तुमने इतना समय बातों में ही गँवा दिया। न जाने शहर की क्या गति हो गई होगी। अब तुम ही सोच लो! ये पत्र दीवान जी तक पहुँचाना कितना ज़रूरी है। मेरा जो फर्ज़ था, वह मैंने पूरा कर दिया। अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा ही करो। इतना कहकर सवार घोड़े पर चढ़ा और घोड़े को दौड़ाता हुआ चला गया।

सवार तो चला गया, परन्तु उसके शब्द अभी तक एकनाथ के कानों में गूँज रहे थे। राज्य पर शत्रुओं का अधिकार हो जायेगा! शहर बरबाद हो गया होगा! यह मैंने क्या सुना?

एकनाथ ने सवार के लाये हुये पत्र को दीवान जी के कागज़ों में रख दिया और दरवाजे पर बैठ गये। पर दिल में चिन्ता लगी हुई थी। सोच रहे थे, कि गुरू जी को समाधि से उठाऊँ या न उठाऊँ, फिर विचार आया, एकनाथ! तू भी बहुत मूर्ख है जब गुरू जी उसके दरबार में गये हुये हैं, जो सबका महाराज है तो मामूली राज्य की उनके सामने क्या गिनती है। परन्तु इतने से एकनाथ के मन को शान्ति नहीं मिली। विचार आया, अगर मैं गुरू जी को भजन से उठाता हूँ

तो कहीं नाराज़ न हो जायें। उनकी ज़रा सी नाराज़गी से ही सब किया कराया मिट्टी हो जायेगा। मुझे भूले हुए पाठ को फिर नये सिरे से ही पढ़ना पड़ेगा और श्री गुरुमहाराज जी यह भी कहेंगे कि एकनाथ तूने हमारे इस उपदेश को कैसे भुला दिया है। बस यही ठीक ! बैठ गये, पर मन में कई प्रकार के विचार बेचैनी उत्पन्न कर रहे थे। हे गुरुमहाराज ! क्या करूँ ? क्या न करूँ !! हे गुरुदेव ! भूले हुये को ठीक मार्ग दिखाओ। फिर विचार आया, प्रभु सब अच्छा ही करेंगे। किसी की क्या ताकत है जो गुरुमहाराज जी के काम को खराब कर सके ? फिर एकनाथ निश्चिन्त से होकर बैठ गये। पर बैठने से तो छुटकारा नहीं हुआ। विचारों का मन में द्वन्द्व मचा हुआ था। चिन्ता ने आ दबाया। कहीं कुछ अनिष्ट हो गया तो गुरुमहाराज जी यही कहेंगे, एकनाथ ! तू समय को भी नहीं पहचानता। जब ऐसी स्थिति थी तो हमको सूचना देनी चाहिए थी। हम समाधि में बैठे रहे और उधर राज्य बरबाद हो गया। क्या यही तुम्हारी सेवा भक्ति है ? क्या इसी के बदले उस परम पवित्र आत्म-ज्ञान को चाहते हो ?

एकनाथ बड़े व्याकुल हो रहे थे और उधर गुरुमहाराज जी निश्चल समाधि में बैठे हुए थे। एकनाथ को कभी ख्याल आता, गुरुमहाराज जी को उठाने में ही लाभ है, कभी विचार आता था, न उठाने में ही भलाई है। उधर अन्तर्यामी गुरु महाराज सब कुछ जानने पर भी चुप लगाये हुये थे।

गर्ज़ कि एकनाथ को मार्ग नहीं सूझ रहा था। सिर झुकाए ज़मीन कुरेद रहे थे, हृदय में रोशनी नहीं थी, जो दोनों

बातों में से एक बात के करने का रास्ता दिखाये। जब मनुष्य चारों ओर से घिर जाता है, तो सिवाय रोने के विपत्ति को दूर करने का उसे कोई साधन नहीं सूझता। एकनाथ की आँखों से आँसू बह-बह कर पृथ्वी को गीला करने लगे। इतने में कानों में तोपों की आवाज़ आने लगी। एकनाथ हड़बड़ा कर खड़े हो गये। चेहरे का रंग फीका पड़ गया। पर करें क्या ? यह तो सूझ ही नहीं रहा था। समय तो तेज़ी से भागा जा रहा था। समय तो किसी का नौकर नहीं जो आज्ञा मान कर ठहर जावे। एकनाथ ने सर उठा कर फिर एक बार गुरुमहाराज के कमरे की तरफ देखा, मगर उनकी समाधि को पहले की तरह निश्चल पाया।

बेखुदी छा जाय ऐसी, दिल से मिट जाये खुदी।
उनके मिलने का तरीका, अपने खो जाने में है।।

ऐसी अवस्था होने पर ही जीव ईश्वर में समाता है। पर अहं बुद्धि तो तभी दूर होती है, जबकि चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाता है। जिसकी चित्तवृत्ति बहिर्मुखी होती है, उसके स्वार्थ से किए गए कर्म दुःख एवं बन्धन का कारण होते हैं। कई लोग चित्त की वृत्तियों का निरोध न होने पर भी झुठे साधनों के अभिमान में फँस कर अपने को मुक्त एवं भक्त समझ बैठते हैं, पर इनसे जीवन में कोई लाभ नहीं होता।

कई लोग शान्ति की प्रशंसा तो करते हैं, परन्तु शान्ति को नहीं जानते। कई लोग उद्योग के गीत गाते हैं, कई लोग कर्म को प्रधान मान कर आयु-पर्यन्त कर्म का बोझा ढोते हैं, कई यज्ञ को ही श्रेष्ठ मानकर यज्ञ करते हैं, कई राज्य-भक्ति का

ढिढोरा पीट कर प्रजा की भलाई न होने पर भी अपने को प्रजा का सेवक समझते हैं, कई सदा मौन रह कर ही जीवन को सार्थक समझ लेते हैं; परन्तु भगवान् कहते हैं कि जो गुरू का भक्त है, वह ही मेरा परम भक्त है। जैसे पक्षी-शिशु अपनी माता के आश्रित होने से किसी बात के लिए भी चिन्तित नहीं होता, पर निकलने तक उस की माता ही उसके सब भार को संभालती है। वैसे ही जो श्री सद्‌गुरुदेव की शरण है, उस के सभी काम प्रभु स्वयं ही सुचारु रूप से चलाते हैं। भगवान् की शरण होने पर, किसी भी कार्य के बिगड़ने का भय नहीं रहता। स्वार्थी मनुष्यों में अहँकार विशेष होता है। स्वार्थी लोगों की नज़र माया पर और परमार्थ चाहने वालों की नज़र अपने इष्टदेव की ओर रहती है। माया, राग, द्वेष उत्पन्न करती है और इष्टदेव श्री सद्‌गुरु महाराज परम-शाँति के दाता हैं।

एकनाथ मन में विचार कर रहे थे कि गुरुमहाराज जी तो कह रहे थे कि भक्तों का काम भगवान् स्वयं अपने हाथों से करते हैं। समाधि से उठाने पर तो गुरुमहाराज नाराज़ ही होंगे। अचानक ही एकनाथ के दिल में एक ख्याल आया, उठा और शीघ्रता से गुरुमहाराज जी के कमरे में गया। उन्हीं के युद्ध स्थल में पहनने वाले कपड़ों को पहन कर गुरू जी के घोड़े पर चढ़ कर उधर को चल दिया, जिधर से तोपों की आवाज़ आ रही थी।

थोड़ी देर के बाद देवगढ़ की सारी सेना एकनाथ के पीछे-पीछे जय के नारे लगाती हुई शहर में प्रवेश कर रही थी

एकनाथ जैसे शीघ्रता से गये थे, वैसे ही वापस लौट आये। वस्त्रों को खूँटी पर टाँग कर एक किनारे रख दिया, घोड़ा यथा स्थान बांध दिया और दरवाज़े पर बैठ कर पुनः पहरा देने लगे।

थोड़ी देर में दीवान जी समाधी से उठ कर बाहर आए। कानों में चारों ओर से 'दीवान जी की जै' 'दीवान जी की जै' के नारों की आवाज़ आ रही थी। नगर-वासियों की ज़बान पर यही चर्चा थी, धन्य हैं दीवान जी, बूढ़े होते हुए भी कैसे तलवार चलाते हैं। जवानों से भी अधिक वीरता का काम कर दिखाया है। दुश्मन नगर को बरबाद करना चाहता था, परन्तु दीवान जी ने उसके सब इरादों पर पानी फेर दिया। उसकी सेना तो भागते ही बनी। लोगों की बातों को दीवान जी चुपचाप सुन तो रहे थे परन्तु इन सभी बातों को सुन कर बड़ा आश्चर्य हो रहा था। कौन दुश्मन आया, कहाँ लड़ाई हुई ! किसने तलवार चलाई, कौन भाग गया !! आखिर यह क्या माजरा है ?

दीवान जी कुछ आगे बढ़े, तो कई आदमी यही चर्चा कर रहे थे। दीवान जी चुपके से उनके पीछे खड़े होकर उनकी बातों को सुनने लगे। एक आदमी कह रहा था, भाई आज तो दीवान जी ने कमाल की तलवार चलाई। हमें तो स्वप्न में भी ऐसा ख्याल नहीं था कि दीवान जी ऐसी लड़ाई लड़ सकते हैं। दूसरा कहने लगा, युद्ध के समय दीवान जी का रूप ही निराला मालूम होता था। जैसे दीवान जी का भेष बदल कर कोई देवता ही हमारे बीच में आया है। कैसा जादू का काम करके दिखाया है। थोड़ी ही देर में शत्रु मैदान छोड़ कर

भाग गया। पर धर्म के नाते दीवान जी ने भागने वाले किसी सैनिक का पीछा नहीं किया। एक अन्य व्यक्ति कहने लगा अरे ! तुम कैसी बच्चों जैसी बातें करते हो। दीवान जी एक महान् पुरुष हैं, परमात्मा के परम-भक्त हैं। जिस पर भगवान् की महान् कृपा है वह क्या नहीं कर सकता ? आकाश में उड़ना, अग्नि को शीतल करना भी उसके लिए आसान है। हमने तो सुना है, जिस समय समर-भूमि में दीवान जी युद्ध कर रहे थे, ठीक उसी समय अपने मन्दिर में बैठे भगवान् का भजन कर रहे थे।

दीवान जी उन लोगों को छोड़ कर ज्यों ही वहाँ से चले, कि एक आदमी की नज़र दीवान जी पर पड़ी। वह कहने लगा, देखो दीवान जी यहाँ पर भी खड़े हमारी बातों को सुन रहे थे न जाने दीवान जी कितने रूप बनाकर राज्य-कार्य को कर रहे हैं। सचमुच ही योगी जो चाहे वही कर सकता है।

दीवान जी समझ गये कि यह सब काम एकनाथ का ही है। हम समाधि में बैठे थे, पर एकनाथ ने हमको नहीं उठाया, बल्कि हमारे कपड़े पहन कर दुश्मन को जा भगाया। कितना होनहार बालक है ? कोई मूर्ख सेवक तो यही सोचता कि नगर बरबाद होता है तो होने दो ? पर उसने राज्य के सभी कामों को मेरी सेवा समझा हुआ है। सेवक हो तो ऐसा ही हो।

दीवान जी ने महल में जाकर एकनाथ को गले से लगाते हुये कहा, बेटा ! तू धन्य, तेरे माता-पिता भी धन्य हैं, जिसने

ऐसे गुरू भक्त को जन्म दिया। साथ-साथ मैं भी धन्य ही हूँ, जिसे तुम जैसा स्वामी-भक्त सेवक मिला है।

स्वामी के मधुर और प्रिय वचनों को सुन कर एकनाथ के नेत्रों में खुशी का जल भर आया। प्रभु ! यह आप क्या कह रहे हैं। युद्ध करने की मुझमें योग्यता ही कहाँ है, जो मै दुश्मनों को भगा देता। स्वामी ! जो कुछ भी हुआ है, ये सब आपने ही किया है। मुझे तो आपने केवल लक्ष्य बनाया है मैं तो निमित्त-मात्र ही हूँ। बल्कि इस अपराधी ने तो प्रभु के वस्त्रों को भी खराब किया है। अब तो यह वस्त्र भी आप के योग्य नहीं रहे। आपके वस्त्रों को मैंने धारण किया, बस मुझे तो इतना ही याद है। फिर क्या हुआ, मुझे खबर ही नहीं। या जब वस्त्रों को मैंने उतार दिया है, तब मुझे होश आया है। यह बड़ी भारी भूल हुई है, शर्म के मारे अभी तक क्षमा न माँग सका। हे स्वामी ! मेरे इस अपराध को क्षमा करने वाले आप ही हैं।

एकनाथ की स्वामी-भक्ति और अमानता को देखकर श्री गुरूमहाराज जी बड़े ही खुश हुए। एकनाथ से कहने लगे, पुत्र ! मैं अब बूढ़ा हो गया हूँ, यह दीवान-पद तुम संभालो। तुम जवान हो, योग्य भी हो। राज्य कर्मचारी और प्रजा भी तुम्हें दिल से प्रेम करती है। जब मैं राजा से आज की घटना सुनाऊंगा, तो वे खुशी से तुम्हें ये पद देने को तैयार हो जायेंगे। मेरा उन से दो शब्द कहना ही काफ़ी होगा। कहो ! तुम्हारी अनुमति हो तो अभी चला जाऊं ? नित्य-कर्म से तो मैं निवृत हो ही चुका हूँ।

एकनाथ गुरूमहाराज जी के चरणों में गिर कर रोने लगा और बार-बार क्षमा याचना करते हुए कहने लगा। हे देव ! आप यह क्या कह रहे हैं ? मेरे से ऐसा कौनसा अपराध हो गया, जो आपको ऐसा कहना पड़ा और मुझे ऐसा सुनना पड़ा। स्वप्न में भी मेरे हृदय में ऐसी भावना नहीं आई। दीवान-पद की बात ही क्या है, इन चरणों की सेवा छोड़कर तो मैं त्रिलोकी के राज्य को भी नहीं चाहता। मुझे तो इन्हीं चरणों में पड़ा रहने दें। बस यही भिक्षा माँगता हूँ, मेरे अच्छे स्वामी !

दीवान जी ने पुनः एकनाथ को गले से लगाकर प्यार करते हुये कहा, पुत्र ! गुरू-पाठशाला की पहली परीक्षा तो हो गई परन्तु तुम्हें अभी दूसरी परीक्षा देने पर ही गुरू-मन्त्र की प्राप्ति होगी।

हे भोले मनुष्य ! यदि तू भी परमार्थ की सच्ची कमाई करना चाहता है, मनुष्य जीवन को सार्थक करना चाहता है, तो एकनाथ की तरह ही, तू भी गुरू का दामन पकड़ ले। जैसे पुत्र-पिता का सहारा लेकर मेलों और बाज़ारों में घूमकर फिर वापिस घर ही पहुँच जाता है, वैसे तू भी संसार-सागर से बाहर हो जायेगा। जैसे एकनाथ को श्री गुरू महाराज जी के चरणों में प्रेम था, वैसा ही प्रेम तुझे भी होना चाहिये। हे भाई ! सावधान ! सावधान !! सावधान !!! गुरू से कभी भी विमुख होने की नहीं सोचना।

दूसरी परीक्षा की तैयारी में फिर समय बीतने लगा। एकनाथ पहले से भी अधिक सचेत होकर उत्साह पूर्वक कार्य में लगे हुये थे। काम में एकनाथ दिन-रात को देख ही नहीं रहे थे।

एक दिन सवेरे एकनाथ सब जगह झाड़ू लगा चुके थे, बर्त्तन मलकर यथा स्थान रख दिये थे, केवल श्री गुरू महाराज जी के लिये पानी भरना बाकी रह गया था। एकनाथ श्री गुरुमहाराज जी के आने से पहले उस काम को भी पूरा करना चाहते थे परन्तु अचानक ही दीवान जी आकर सामने खड़े हो गये। समय के पहले गुरू महाराज जी के दर्शन पाकर एकनाथ को बड़ी प्रसन्नता हुई। किन्तु साथ साथ यह भी सोच रहे थे कि आज गुरुमहाराज जी स्नान करने के लिये जल्दी क्यों आये हैं ?

दीवान जी ने आते ही कहा, बेटा एकनाथ ! कल से नया वर्ष प्रारम्भ होगा। परन्तु अभी तक हमने हिसाब तैयार नहीं कराया है। कल राजा साहब को हिसाब दिखाना ज़रूरी है। आज के दिन और आज की रात में हिसाब तैयार होना ही चाहिए। तुम्हारे जैसे योग्य सेवक के लिए यह कोई कठिन काम नहीं है। जाओ ! तुम इसको छोड़कर हिसाब तैयार करो। आज हम स्नान स्वयं ही कर लेंगे।

एकनाथ दीवानखाने में जाकर किताबें सामने रखकर हिसाब बनाने लगे। सूर्य नारायण पूर्व से निकलकर अस्त होने के लिए पश्चिम में चले गए। पर एकनाथ ने सर ऊपर उठा कर भी नहीं देखा अंधेरा होने से पहले ही नौकर दीपक जलाकर चला गया। एकनाथ को न भूख थी न आँखों में नींद और आलस्य ही था। वह ऐसे ही काम में लगे हुए थे, मानों निश्चल मूर्ति हों। किताबों के अलावा उनका कहीं दूसरी ओर ध्यान ही न था। उन्हें तो बस एक ही लग्न थी कि

सूर्य के उदय होने से पहिले काम पूरा हो जावे। ठीक आधी रात्रि होने पर उधर तो सिपाही ने घड़ियाल की बारह मात्रायें पूरी की और इधर एकनाथ ने अपना कार्य समाप्त किया। जब जोड़ मिलाया गया तो हिसाब में एक पैसे का फ़र्क निकला। एकनाथ ने फिर शुरू से अन्त तक सभी जोड़ लगाये परन्तु पैसे का फ़र्क ज्यों का त्यों था। एकनाथ पैसे के फ़र्क को देखकर घबरा गए। दोबारा तिबारा के जोड़ करने में रात बहुत अधिक बीत चुकी थी। लोग आराम की नींद पूरी करके जागने वाले थे परन्तु एकनाथ की आँखों में नींद का नामो-निशान भी नहीं था। बराबर किताबों के जोड़ों में लगे हुए थे। जैसे-जैसे रात गुज़र रही थी, वैसे-वैसे एकनाथ की बेचैनी भी बढ़ती जा रही थी, सोच रहे थे कि आख़िर पैसे का फ़र्क कहाँ है ?

पिछले पहर नित्य की भाँति दीवान जी पलंग छोड़कर खड़े हो गये। दीवान जी की नज़र दीवान खाने की ओर गई तो देखा, दीवानखाने में अब भी दीपक जल रहा है। दीवान जी समझ गए कि एकनाथ अपने काम में बराबर लगा हुआ है। दीवान जी धीरे-धीरे कमरे से बाहर आए और धीरे-धीरे ही दीवानखाने के सामने पहुँचे। चौकीदार द्वार पर बैठा ऊंघ रहा था दीवान जी ने अन्दर झाँककर देखा और धीरे से कहा, बेटा एकनाथ ! कोई भी जवाब नहीं मिलने पर दीवान जी कुछ और आगे बढ़े तथा पहले से कुछ ऊँची आवाज़ में बोले, बेटा एकनाथ ! परन्तु अब भी पहले की तरह सन्नाटा था, मानो एकनाथ सोये हुए हों।

दीवान जी दरवाज़े को पार करके अन्दर चले गए और दीपक के आगे जाकर खड़े हो गये, हिसाब की किताबों पर अन्धेरा छा गया । पर एकनाथ को दीवान जी के आने की कुछ भी ख़बर नहीं हुई । उसे तो किताबों के अक्षर पहले की तरह दिखाई दे रहे थे और एकनाथ पहले की तरह ही अपने काम में लगे रहे ।

दीवान जी एक घण्टे तक इसी प्रकार खड़े रहे । पर एकनाथ की तो दीनो-दुनियाँ का कोई पता था ही नहीं । उनकी नज़रों में और बुद्धि में तो केवल किताबों के अक्षर घूम रहे थे। अचानक ही एकनाथ के मुख से ज़ोर से आवाज़ निकली, 'मिल गया' ।

पैसे की गल्ती मिल गयी थी। हिसाब-किताब ठीक किया, किताबें यथा स्थान रख दीं । पर ज्यों ही नज़र ऊपर उठाई, दीवान जी को सन्मुख खड़ा देखकर एकनाथ के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा । उठा और श्री गुरुमहाराज के चरणों में गिर गया । दीवान जी ने पूछा, हिसाब तैयार हो गया ? एकनाथ ने कहा, हो गया गुरुमहाराज जी ! आज का कितना शुभ दिन है, जो इतने सवेरे अपने स्वामी के दर्शन कर रहा हूँ । हमेशा तो देर से ही दर्शन होते थे ।

दीवान जी कहने लगे, हमें तो यहाँ खड़े हुये एक घन्टे से भी अधिक हो गया है । तुम्हें कई आवाज़ भी दी, पर तुमने सुना ही नहीं । मैंने तो कुछ भी नहीं सुना, गुरुमहाराज जी ! हमारी छाया से जब पुस्तकों पर अंधेरा हो गया था, क्या तब भी तुम्हें किताबों के अक्षर दिखाई दे रहे थे ? हैं ! स्वामी, मुझे

तो आप के खड़े होने की बिल्कुल ख़बर ही नहीं। किताबों के अक्षर भी वैसे ही चमक रहे थे।

एकनाथ विस्मित हुए स्वामी के मुख की ओर देख रहे थे। दीवान जी बैठ गये और बोले, क्या प्रातःकाल से इसी प्रकार लगे हो? एकनाथ ने कहा मुझे तो पता नहीं, कब दिन बीता और कब रात आई। क्या तुम्हें भूख, प्यास और आलस्य ने नहीं सताया? ज़रा भी नहीं गुरु महाराज जी। इस समय क्या कर रहे थे? क्या मिल गया है? जिसकी तुम्हें इतनी खुशी हुई। एक पैसे का फर्क रह गया था। उसे ही निकाल रहा था सो वह भी मिल गया है। एक पैसे के लिये इतना परिश्रम क्यों किया बेटा! ये तो मामूली फर्क था? फर्क तो फर्क ही है स्वामी, एक पैसे का हो या एक लाख रुपये का।

दीवान जी का चेहरा एकदम खिल गया, हँस कर कहने लगे, तूने मुझे प्रसन्न कर ही लिया बेटा! परीक्षा कठिन थी संसार जिनको बड़ा साधु, संन्यासी समझता है, वे भी ऐसी परीक्षा में पास नहीं हो सकते। पर तूझे तो सच्चाई के जानने की सच्ची लग्न है इसीलिये तुम परीक्षा में पास हुए हो।

कितनी दूर की यात्रा की, जन्म-भूमि और प्यारे परिवार को छोड़कर यहाँ तक आया। कुटुम्ब का मोह त्याग कर एकाग्र-चित्त से दिन-रात एक करके सर्व प्रकार से सेवा की। तेरे में सच्चा प्रेम और सच्ची श्रद्धा है; तभी तो प्राणों के मोह को त्याग कर युद्ध भूमि में विजय का डंका बजा कर मेरा नाम रोशन किया। दीवान-पद भी को तुच्छ समझकर ठुकरा दिया और सेवा करना ही सबसे उत्तम पद जाना। इतना कुछ

करने पर भी अपने को सदा अयोग्य और नासमझ ही समझता रहा। तुम्हारी दृढ़ और पवित्र भावना, श्रद्धा-भक्ति तथा त्याग-वृत्ति को देखकर भी हमने तुझे गुरु-मन्त्र नहीं दिया। क्योंकि हम देखना चाहते थे, कि बाहर के कामों में तुम्हारी कितनी लग्न है कितनी एकाग्रता है। जो मनुष्य संसारी कामों को लग्न के साथ एकाग्रचित्त से नहीं करता, वह परमार्थ में भी कामयाब नहीं होता।

हम आये, कई आवाज़ें दीं, दीपक का प्रकाश रोक कर पुस्तक पर अन्धकार कर दिया परन्तु तुम्हारा मन और बुद्धि एकाग्रता से कार्य में लगी हुई थी, तुम्हें अंधेरे में भी प्रकाश नज़र आ रहा था। तुम अंधेरे में भी अक्षरों को स्पष्ट पढ़ रहे थे। तुम्हारी सच्ची गुरु-सेवा ने तुम्हारे हृदय में प्रकाश कर दिया, अक्षरों में रोशनी फूट पड़ी। तेरे जैसे शिष्य पाकर मुझे गर्व है। शिष्य ही गुरू की शोभा है! सर्वव्यापक भगवान् सबके हृदय में निवास करते हैं। पर इतने कोरे ज्ञान से तो काम नहीं चलता। उसे प्रकट करने वाला कोई महान् भक्त होता है। गुरू-मन्त्र को लेने के लिए बहुत से मनुष्य हैं और गुरू-मन्त्र देने वाले भी काफ़ी हैं परन्तु जो गुरू के सत्य-ज्ञान का दसों दिशाओं में प्रचार करता है वास्तव में वही शिष्य कहलाने का अधिकारी है, मुझे तुम से ऐसी उम्मीद है, बेटा!

गुरू के खुश होने पर शिष्य की प्रसन्नता का क्या ठिकाना है? आज एकनाथ फूले न समा रहे थे। क्योंकि आज उन्हें उनकी वर्षों की तपस्या का फल मिलने जा रहा था। जिस को प्राप्त करने के लिए वे घर से निकले थे, आज उन्हें वह अभीष्ट फल मिलने वाला था।

दीवान जी कहने लगे, पुत्र ! मुझे आगे भी तुम से यही आशा है कि जैसे आज तुमने एक पैसे की भूल निकाल कर ही चैन लिया है। वैसे ही भक्ति-मार्ग में जीवन की छोटी से छोटी भूल को भी दूर करते रहोगे और छोटी से छोटी बुराई को भी हृदय से दूर करोगे। जाओ स्नान करके आराम करो, तुम्हारी परीक्षा पूरी हुई। अब हम तुम्हें एक महापुरुष की पदवी पर पहुँचने का मार्ग दर्शायेंगे। अब तुम उस मार्ग के पथिक बनोगे, जिस पर ऋषि-महात्मा चलते रहे हैं और जिस पर चल कर जगत के स्वामी को भी अपने आधीन किया जाता है।

खान से निकले हुए हीरे की जो कीमत होती है, वह कीमत मार्ग में पड़ी हुई कंकरी की कभी नहीं होती। सोना कम मिलता है, इसीलिए उसकी कीमत और कदर भी अधिक होती है। लोहे के चारों ओर ढेर पड़े हैं, पर सोने के सदृश लोहे के प्रति लोगों की भावना नहीं होती। यद्यपि लोहा ही मनुष्य के अधिक प्रयोग में आता है, मगर लोग सोने को ही अधिक चाहते हैं क्योंकि लोहे से सोने की अधिक कीमत होती है।

प्रभु प्यारा और गुरू-भक्त भी कोई ही होता है, इसीलिए संसार, गुरू-भक्तों के गीत भी गा रहा है। माया के भक्तों की कोई भी गिनती नहीं करता। संसार माया का लोभी है और माया को पाकर ही रीझता है। मगर सद्गुरु तो भाव के भूखे हैं। गुरू की प्रसन्नता के लिए तो श्रद्धा, प्रेम और विश्वास की ज़रूरत है। जिसे श्री सद्गुरु के प्रति सच्ची लग्न होती है, वही गुरू के प्रेम को पाता है।

बिना लग्न की प्रीत बावरे, ओस नीर ज्यों धोई।
हम तो रहते गुरू भरोसे, होनी होय सो होई ॥

जब सद्गुरुदेव, एकनाथ की सेवा-भक्ति से प्रसन्न हो गये और परीक्षा लेने पर भी एकनाथ को सेवा-भक्ति में दृढ़ पाया, तो जनार्दन स्वामी ने एकनाथ के हृदय को सत्य-ज्ञान से भर दिया। वह सद्विद्या या आत्म-विद्या जिसे जानने के लिए नचिकेता ने यमराज के दिये हुए वरदानों के फलस्वरूप पाए हुए संसार के वैभव का लालच न करके परमात्मा तक पहुँचाने वाली परा-विद्या जानने की ही इच्छा की थी।

इसी परम पवित्र ज्ञान को पाने के लिए लोग अनेकों प्रकार के उपाय करते हैं, मगर सफल नहीं होते। सद्गुरु की कृपा दृष्टि के बिना कोई भी इस ज्ञान को नहीं जान सकता। किन्तु इस परम पवित्र ज्ञान को पाने के बाद भी जो सद्शिष्य श्रद्धाभाव पूर्वक गुरु चरणों की सेवा करता है और पाये हुये ज्ञान का विश्वास पूर्वक अभ्यास करता है उसी की आत्मा में स्थिति होती है। पार-ब्रह्म परमात्मा में एक बार स्थिति होने पर भ्रम, भय और अज्ञान का समूल नाश हो जाता है।

आज एकनाथ के भाग्य का क्या कहना था ? देवताओं को जो बात दुर्लभ है, वही बात आज एकनाथ के लिये सुलभ हो गयी थी। आज एकनाथ का हृदय, परमात्मा की परम-ज्योति से जगमगा रहा था। सभी अंगों में खुशी छाई हुई थी। मन परम-आनन्द में विभोर था। रोम-रोम सद्गुरु की कृपा का गुण-गान गा रहा था। अष्ट सात्त्विक गुण प्रगट होकर शाँति की वर्षा कर रहे थे, मस्ती में आकर एकनाथ कह रहा था।

'हे सद्गुरु देव ! आज तक मैं माया मोह के भ्रमों और कष्टों के झंझटों में फंसा हुआ था। मगर प्रभु ! आपने अपनी ही दया से आशा-तृष्णा रूपी नदी मे डूबने से बचाकर किनारे पर लगा दिया। अनेक जन्मों से बार-बार जन्मता-मरता आ रहा था। मगर हे गुरुदेव ! आप ने नामामृत पिलाकर और सत्य में लगाकर अमर ही कर दिया। हे स्वामी ! मेरी अब यही प्रार्थना है कि सदा मेरी नज़र आप के श्री चरणकमलों में ही लगी रहे।'

प्रत्येक मनुष्य संसार के लोगों को रिझाने के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है। मगर जीवन में किसी को भी पूर्ण रूप से प्रसन्न नहीं कर पाता। मगर भावुक भक्तों ने संसार के अनेक पदार्थ न होने पर भी परमात्मा को खुश कर लिया है। भगवान् राम भिलनी के चन्द झूठे बेरों पर ही रीझ गये। भगवान् श्री कृष्ण विदुरानी के केले के छिलके और सुदामा के दो मुट्ठी सूखे तथा कच्चे चावलों को पाकर ही रीझ गये। संसार को रिझाने के लिये धन, यौवन, सुन्दरता और गुणों का होना ज़रूरी है, मगर श्री गुरुदेव भगवान् के रिझाने में इन बातों में से कोई भी बात सहायक नहीं होती। भगवान् तो भाव के ही भूखे हैं। जिसमें भाव नहीं होता, श्री सद्गुरुदेव उसके निकट भी नहीं जाते।

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुर तरु वर शाखा लेखनी पत्रमुर्बी।
लिखित यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम्,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥

सद्गुरु देव की कृपा, दया और गुणों को कैसे वर्णन करूँ यदि समस्त पृथ्वी के पहाड़ों को जलाकर काजल बनाया जावे और उसे समुद्र के पानी में घोल कर स्याही तैयार करें, समस्त पृथ्वी की लताओं और वृक्षों को लेखनी (कलम) बनायी जावे और माता सरस्वती को गृह में प्रेरित करें। सरस्वती दिन-रात करके कल्पों तक गुरू-गुणों को लिखती रहे, तो भी गुरू के गुणों एवं कृपा को नहीं लिखा जा सकता।

जब श्री गुरुदेव जनार्दन स्वामी एकनाथ की सेवा-भक्ति से प्रसन्न हो गए और जब परीक्षा में भी पूरे उतरे तो जनार्दन स्वामी ने एकनाथ के हृदय को परमात्मा (परम-आत्मा) के सत्य-ज्ञान से परिपूर्ण किया। जिस परम पवित्र आत्म-ज्ञान को जानने के लिए नचिकेता ने यमराज के दिए हुए वरदानों के फलस्वरूप, संसार के वैभव और समस्त पदार्थों का परित्याग करके, आत्म-विद्या अथवा परमात्मा तक पहुँचाने वाले मार्ग साधन या ब्रह्म-ज्ञान को जानने की इच्छा की थी, आज एकनाथ आत्मा का परम हित करने वाली, परम सुखदायक उसी आत्म-विद्या को प्राप्त करके निहाल हो गए।

यों तो आज भी संसार में अनेकों मनुष्यों का समुदाय नाना साधनों से उसी आत्म-विद्या को जानने का पूरा प्रयत्न कर रहा है। कोई पंच-धूनि में देव-दुर्लभ शरीर को तपा रहा है, तो कोई जटा-जूट होकर नग्न ही धूप सेंक रहा है। कोई एक बाँस उठाये फिरता है, तो कोई कानों को फड़ाता है। इसके अलावा और भी बहुत साधन किये जा रहे हैं; मगर ऐसा

करने पर भी परमात्मा से मेल कराने वाली आत्म-विद्या हाथ नहीं आती। सच्चे गुरू के मिले बिना कोई भी इस विद्या को नहीं जान सकता। मगर जब मनुष्य को सद्गुरु की कृपा से आन्तरिक-विद्या का ज्ञान हो जाता है और श्रद्धा भाव, एवं विश्वास पूर्वक गुरू की सेवा में लग कर इस विद्या का अभ्यास भी करता है तो उसकी आत्मा की परमात्मा में स्वाभाविक ही स्थिति हो जाती है तथा वह संसार के समस्त द्वन्द्वों एवं दुःखों से छूट कर अखण्ड परम-शान्ति को पा जाता है। पार-ब्रह्म परमेश्वर में मन की स्थिति होने पर सभी प्रकार के संशय दूर हो जाते हैं। इस स्थिति को पाने वाले श्री सद्गुरु देव जी के साक्षात्-स्वरूप में लीन हो जाते हैं। मगर अन्य प्रकार के अनेक साधन करने वाले पामर मनुष्यों को कभी भी श्री सद्गुरुदेव का साक्षात् दर्शन नहीं होता।

आज एकनाथ के भाग्य की सराहना कौन कर सकता है? देवता भी ऐसे शुभ अवसर को चाहते हैं, मगर उन्हें श्री सद्गुरु-देव की सेवा एवं दर्शन का अवसर नहीं मिलता। एकनाथ की देवता क्यों न बड़ाई करें? जब कि आज एकनाथ का हृदय परमात्मा की परम ज्योति से जगमगा रहा है। सभी अंगों में शान्ति छाई हुई है। रोम-रोम परमात्मा के पवित्र नाम का उच्चारण कर रहा है। वर्षों की तपस्या के बाद एकनाथ को आज सिद्धि मिली है। मन और शरीर आनन्द में विभोर है। सात्त्विक भाव जागृत होने पर एकनाथ जी कहने लगे।

'हे प्रभो! हे जगत पिता सद्गुरुदेव!! आपने अपनी दया से अपने स्वरूप का साक्षात्कार करा के आशा तृष्णा रूपी बेबसी

को दूर कर दिया है। मछली पानी से बाहर होकर तड़फती है मगर मैं मोह सागर में डुबे हुए विषय रूपी अग्नि में जल रहा था। स्वामी ने नामामृत पिला कर हृदय को पूर्ण रूप से शीतल कर दिया। जिनकी महिमा ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी गाते हुये सकुचाते हैं उन श्री सद्गुरुदेव की महिमा मेरी तुच्छ जिह्वा कैसे वर्णन कर सकती है ? मैं तो यही प्रार्थना करता हूँ, आप मुझ में ऐसी बुद्धि प्रदान करें कि मैं सदा इन चरणों का किंकर बना रहूँ। इससे आगे मुझे कुछ नहीं चाहिए।

दुनियाँ के लोग ऐसा समझते हैं कि मोक्ष प्राप्ति के बहुत से साधन हैं किन्तु जैसे अन्धकार को दूर करने के लिये प्रकाश के सिवाय दूसरा कोई साधन नहीं है। सर्दी उष्णता से ही दूर होती है, वैसे ही मोक्ष की प्राप्ति का साधन केवल गुरू-भक्ति ही है। गुरू-भक्त को कभी कष्ट नहीं होता क्योंकि दुःखों का अनुभव करने वाला मन सर्वदा गुरू चरणों में लगा रहता है। फिर कष्ट और दुःख को कौन अनुभव करे ? गुरू के प्रति सात्त्विक श्रद्धा और भाव होने पर सभी बन्धन ऐसे ही टूट जाते हैं जैसे कि गजराज कमल नाल की डंडियों को तोड़ डालता है। प्रसन्न चित्त से सेवा एवं भगवान् के नाम का स्मरण करने वाले सभी शिष्यों की ऐसी ही स्थिति हो सकती है। अगर यत्न करने पर भी मन स्मरण में न लगे तो उसे बराबर सेवा भक्ति में ही लगाये रहना चाहिये। जैसे-जैसे गुरू-सेवा और भक्ति बढ़ेगी, वैसे-वैसे संसार की बातों से वैराग्य उत्पन्न होता जायेगा तथा परमात्मा के दर्शन एवं मिलन की उत्कण्ठा भी बढ़ती जायेगी। परमात्मा से मिलने की तीव्र इच्छा में स्मरण

स्वाभाविक ही होने लगता है। जीवन का प्रत्येक क्षण भजन एवं ध्यान स्वरूप ही हो जाता है।

यों तो श्री सद्गुरुदेव की सभी जीवों पर असीम कृपा है। किन्तु उस परम कृपा के दर्शन तभी होते हैं जबकि लोक और परलोक की सम्पूर्ण इच्छाओं का अभाव हो जाता है। इच्छाओं का अभाव तभी होता है जब कि गुरू-वचनों पर श्रद्धा एवं विश्वास होता है। किन्तु श्रद्धा और विश्वास भी सेवा से ही होता है। जो गुरू-सेवा का आसरा छोड़कर अन्य तर्क-पूर्ण बातों से, पापों और दोषों से छुटकारा पाने का परिश्रम करता है, वह अपने समय को वृथा ही गवाँता है। हम लोग इन्द्रियों का संयम करने की चेष्टा करते हैं, पर कर नहीं पाते। बुरी वासनाओं को अथवा अशुद्ध विचारों को छोड़ना चाहते हैं, किन्तु छोड़ नहीं सकते। अनेक प्रकार के तपों द्वारा तपस्वी लोग मन की चंचलता को दूर करना चाहते हैं, मगर कर नहीं पाते। किन्तु जो गुरू-सेवा रूपी तप करते हैं, गुरू-सेवा का व्रत धारण करते हैं, उनकी चंचलता का अभाव और इन्द्रिय संयम हो ही जाता है। गुरू-भक्त सभी कामनाओं और इच्छाओं को श्री 'हरि' के चरणों में समर्पित करके निश्चिन्त होकर योग निद्रा में सोता है। भगवान् राम ने विभिषण को उपदेश देते समय कहा है।

जो नर होय चराचर द्रोही।
आवे सभय शरण तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना।
करऊँ सद्य तेहि साधु समाना॥

जननी जनक बन्धु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब की ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहिं बाँधि बटि डोरी॥
समदर्शी इच्छा कछु नाहीं।
हरष शोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे।
लोभी हृदय बसहिं धन जैसे॥

सगुण उपासक परम हित, निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्राण समान मोहिं, जिन्ह के द्विज पद प्रेम॥

जो सबकी ममता को दूर करके सगुण मूर्ति श्री सद्गुरु देव के उपासक हैं और श्री चरणों में मन को लगाते हैं, उनके हृदय रूपी कमल में सदा ही श्री हरि विराजमान रहते हैं। सभी ग्रन्थों और सभी मजहबों में गुरू के साथ सम्बन्ध जोड़ने की बात को किसी न किसी रूप में कहा ही गया है। सभी शास्त्रों में गुरु-भक्ति की गाथायें भरी पड़ी हैं। जो कि गुरु भक्त होने के साक्षी हैं और हम सब को गुरु-भक्त, गुरु-सेवक बनने की प्रेरणा करती हैं। जब तक शिष्य सेवा का रूप नहीं बन जाता, तब तक उसे अभिष्ठ फल की प्राप्ति नहीं होती।

एकनाथ तो गुरु सेवा में अपने आपको लीन कर चुके थे। सत्य-ज्ञान प्राप्त होने पर उनका हृदय कमल खिल उठा, सेवा कार्य में पहले से भी अधिक उत्साह और प्रेम-पूर्वक लगे रहे। इसी से दिनों-दिन उनमें प्रभु-प्रेम की स्थिति प्रगाढ़ होती गई। आठ पहर गुरु-मूर्ति हृदय में विराजमान रहने

लगी। संसार की याद और वासनाओं का मैल धुलकर हृदय स्वच्छ हो गया।

पाठकगणों को यह याद होगा, कि जब एकनाथ को श्री जनार्दन स्वामी पहले-पहल नदी किनारे पर मिले थे, तब जनार्दन स्वामी नें एकनाथ से कहा था—लग्न तो अच्छी है, अगर आखिर तक ऐसी रही तो, अब उसी कार्य के करने का समय आ गया था।

जैसी प्रीति प्रथम लगे, वैसी निभावे तोड़।
अपनी तो को कहे, तारे पुरुष करोड़॥

एक दिन जनार्दन स्वामी ने एकनाथ से कहा, पुत्र जो नाम का अमृत तुम्हें पिलाया गया है और जिसकें नशे में तुम संसार को भूलकर हरि-धाम में पहुँच गए हो, इसमें दूसरों का भी भाग है। संसार माया-मोह की घोर निद्रा में सोया हुआ विषय-रूपी अग्नि में जलता जा रहा है। तुम नामामृत को पिलाकर उनकी तपन को शाँत करो। यद्यपि हम तुम्हारी इस सेवा से प्रसन्न हैं, मगर अधिक प्रसन्नता तो तभी होगी जब कि मेरी भक्ति का प्रचार करोगे, भूले हुए जीवों को सत्य मार्ग पर लाओगे। अनेक तीर्थों पर लाखों लोग इसी अमृत को पीने के लिए भटक रहे हैं। तुम तीर्थों पर घूम-घूम कर और भक्ति-रस पिलाकर उनकी भटकना को दूर करो। जो लोग केवल तीर्थ स्थानों में जाकर स्नान करने और देव-दर्शन एवं देव-पूजन को ही भक्ति समझ बैठे हैं तथा अमूल्य देव-दुर्लभ मानव शरीर को कौड़ियों के बदले में गँवा रहे हैं तुम उन्हें अपने सत्य उपदेश से मनुष्य

शरीर की कीमत को समझाओ। सत्संग की गंगा में डुबकी लगवाकर काग-वृत्ति से हंस-वृत्ति बनाओ। सच्चे, चेतन और परम प्रकाशमान देव के दर्शन करा कर उनके मनुष्य जन्म को सफल बनाओ। पुत्र ! अच्छे लोगों का जीवन संसार की भलाई के काम में ही आता है। अपने लिए तो सारा संसार ही लगा हुआ है। मगर दूसरों के हित और कल्याण में तो महापुरुषों का ही जीवन लगता है। इसलिए पुत्र ! शीघ्र तीर्थ यात्रा के लिये प्रस्थान करो। सभी तीर्थों का राजा प्रयागराज कहलाता है। मगर सन्तों की संगत और श्री सद्गुरुदेव के चरणों को ही सबसे बड़ा तीर्थराज बतलाया है।

अड़सठ तीर्थ गुरु चरण में, पर्वी होत अखण्ड।
सहजो ऐसा धाम नहीं, सकल अण्ड ब्रह्माण्ड॥
मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीर्थराजू॥

जहाँ सभी पुण्य-दान, तीर्थों और व्रतों का समावेश होता है वह तो श्री सद्गुरु के चरण ही हैं। एकनाथ तो ऐसे परम पवित्र तीर्थ में पहिले ही गोता लगा चुके थे। उन्हें किसी भी तीर्थ में जाने व नहाने की आवश्यकता नहीं थी और न ही तीर्थों की भावना से एकनाथ को श्री गुरु महाराज जी भेज रहे थे। बल्कि सद्गुरुदेव एकनाथ की महा पवित्र वाणी रूपी तीर्थ में अनेक प्राणियों को स्नान कराना चाहते थे। जो गुरु का आज्ञाकारी शिष्य लोक हित के लिए ऐसी तीर्थ यात्रा करता है उसका जीवन धन्य है।

श्री एकनाथ जी गुरु आज्ञानुसार अनेकों तीर्थों पर घूमते फिरे। द्वारिकापुरी, जगन्नाथपुरी, सेतुबन्ध रामेश्वर, हरिद्वार,

बद्रीधाम और मानसरोवर आदि तीर्थों पर जा-जाकर अनेकों मनुष्यों को सचाई का सन्देश सुनाया। श्रद्धा-भाव युक्त प्राणियों को सत्य उपदेश देकर गुरू-भक्ति में भी लगाया। अन्त में श्री एकनाथ जी भ्रमण करते-करते और भक्ति का सन्देश सुनाते हुए पंढरपुर क्षेत्र में पधारे। आषाढ़ी पूर्णिमा अर्थात् गुरु पूर्णिमा को विट्ठल भगवान् के दर्शनार्थ और चन्द्रभागा नदी में स्नान करने की इच्छा से अपार भीड़ आई थी। स्नान, दान आदि करके एवं विट्ठल भगवान् की मूर्ति का दर्शन तथा कीर्तन करता हुआ भक्तों का समुदाय अपने को आनन्दित और धन्य समझ रहा था। आने वाला समाज केवल इसी कार्य से जीवन को सार्थक मान बैठा था।

ऐसे शुभ अवसर पर भक्त नामदेव जी भी अन्य प्रेमी भक्तों के साथ पधारे थे। जब इन्हें एकनाथ के आने का समाचार मिला तो वे सभी भक्त लोग एकनाथ के दर्शनार्थ पधारे। एकनाथ को प्रभु का अनन्य प्रेमी-भक्त जान कर उन्होंने साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया और आज्ञा पाकर शान्त भाव से बैठ गये। प्रभु के भक्त का दर्शन पाकर आज नामदेव के नेत्रों से खुशी के आँसुओं की अविरल धारा बह रही थी, जिन्हें स्वयं एकनाथ जी ने अपने हाथों से पोंछा। जहाँ प्रभु-भक्तों का और सत्संग-प्रेमियों का योग हो जाता है वहाँ स्वतः ही हरि चर्चा होने लगती है।

श्री एकनाथ जी कहने लगे, प्रभु के प्यारे भक्तों! आज हम लोग इधर-उधर से भटकते हुए तीर्थ-लाभ लेने के लिये विट्ठल भगवान् के द्वार पर आये हुए है। मगर यहाँ आने पर

भी अनेकों अभागे जीव जैसे आए हैं, वैसे ही यहाँ से खाली हाथों चले जायेंगे। वास्तव में जब इन जीवों को चौरासी पार करने पर मनुष्य देह मिलती है तभी यह विट्ठल (आत्मा) भगवान् के दर्शनों का अधिकारी होता है। क्योंकि अन्य शरीरों में आत्मा का बोध नहीं होता। जब यह जीव सत्संग रूपी तीर्थ में स्नान करता है, तभी उसके पाप धुलते हैं। आप लोगों को इस समय यह दोनों शुभ अवसर मिल गए हैं। यदि चाहो तो अपने मन का सभी मैल धो सकते हो। आप लोगों के प्रेम को देख कर मेरा हृदय आनन्द से भर गया है। आप लोग भी श्री सद्गुरुदेव का दर्शन पाकर कृतार्थ हो सकते हो।

श्री सद्गुरुदेव की कृपा से मेरे मन का द्वैतभाव पूर्णतया दूर हो गया। श्री गुरुमहाराज जी ने सकल चराचर में मुझे एक रूप दिखलाया है। वह रूप सब समय मेरे सन्मुख रहता है। मन, वाणी और कर्म में मुझे सिवाय विट्ठल के और कुछ भी दिखाई नहीं देता। ऐसे सर्व-व्यापक स्वरूप के दर्शन पाकर मेरा जीवन सफल हो गया है। अब मैं यही चाहता हूँ कि आप भी मेरे स्वामी की कृपा के पात्र बनें और श्री विट्ठल भगवान् का अपने हृदय में साक्षात् दर्शन पाकर अपने जीवन को सफल बनावें।

जिस समय शंखासुर दैत्य ब्रह्मा के वेदों को चुरा ले गया था, उस समय श्री सद्गुरुदेव ने मत्स्य रूप धारण करके और शंखासुर को मार कर वेदों को लौटाया था और जिस समय देवता असुरों से हार गये थे, उस समय देवताओं की विजय कराने के लिए समुद्र मंथन कराने में कच्छप रूप धारण करके

हरि ने मन्द्राचल को धारण किया। असुरों को मोहित करके वारुणी और देवताओं को अमृत पिलाया था। जब हिरणाक्ष पृथ्वी को पाताल में ले गया था, उस समय श्री जनार्दन स्वामी ने असुर को मार कर पृथ्वी का उद्धार किया था। प्रह्लाद की रक्षा करने के लिए मेरे स्वामी ने ही नरसिंह रूप धारण किया था। भक्त-जनों को भक्ति-रस पिलाने और सत्य-मार्ग-दर्शन के लिए श्री सद्गुरु देव युग-युग में नाना रूप बना कर आते हैं। आगे भी मेरे स्वामी भक्तों को दर्शन देने के लिये प्रकट होते ही रहेंगे।

सद्गुरु देव जनार्दन स्वामी ही विट्ठल भगवान् हैं। श्रद्धा विश्वास और भाव पूर्वक जो उनके वचन एवं सत्संग रूपी तीर्थ में गोता लगाता है, उसके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं और अन्त में सब पापों से छूट कर सायुज्य मुक्ति को पाता है। दया, क्षमा और शान्ति स्वरूप श्री गुरुदेव की शरण में जाने पर ही मनुष्य परम पद एवं भक्ति का अधिकारी बनता है। मैं सभी तीर्थों में भ्रमण करता हुआ आ रहा हूँ। किन्तु श्री सद्गुरुदेव के चरण कमलों के सदृश महान् पवित्र करने वाला कोई भी ऐसा तीर्थ नज़र नही आया, जहां कि स्नान ध्यान करके जीव भवसागर से पार हो जावे। सभी तीर्थों की एक एक महिमा गाई जाती है मगर श्री सद्गुरु-देव के श्री चरणों में तो सभी तीर्थ निवास करते हैं। जहाँ कि अब तक अनेकों मनुष्य गोता लगाकर परम पवित्र हो चुके हैं। आप भी श्री सद्गुरु देव के चरणों में आकर अखण्ड नाम की त्रिवेणी धारा में गोता लगाइये। फिर आप भी इस

अमृत धारा में गोता लगाकर अविनाशी आनन्द का अनुभव करोगे। मेरी यही अभिलाषा और भावना है कि आप ऐसे शुभ अवसर से अवश्य लाभ उठावें। इस शुभ स्थान पर मेरे आने का भी यही कारण है कि आप अपने एवं विट्ठल भगवान् के परम प्रकाश सत्य स्वरूप को पहिचानें।

यों तो अनेकों लोग अनेकों तीर्थों पर जाकर स्नान-ध्यान और पुन्य-दान का अवसर प्राप्त करते हैं। मगर अड़सठ तीर्थों में स्नान करने पर और सर्वस्व दान करने पर भी यह फल प्राप्त नहीं होता, जो कि एक बार हृदय में विट्ठल भगवान् का नाम लेने पर लाभ होता है। जो घर में पारस मणि को भूल कर कंकरों के लिये देश विदेश फिरता है या कल्पवृक्ष को काट कर अपने बाग में मधुर फलों की आशा से बबूल के पेड़ लगाता है एवं कामधेनु को घर से त्यागकर दूध के लिये आक की खोज करने के लिये मारा मारा फिरता है उसे महामूर्ख समझना चाहिये। ऐसे मूर्खों को समझाने से भी क्या लाभ होगा? या ऐसे लोग अपनी हठ धर्मी को त्याग कर क्या महापुरुष के उपदेश को ग्रहण करेंगे? कभी नहीं। देखो ! संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं।

सठ सुधरहिं सत्संगित पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥
फूले फले न बेत, जदपि सुधा वर्षहि जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहि विरंचि सम॥

जो कहने को मान लेते हैं, वह षठता को त्याग कर भक्ति मार्ग को अपना लेते हैं। मगर जो मूर्ख हैं, उन्हें

तो ब्रह्मा के समान भी गुरू मिल जावें, तो भी उनका हृदय नहीं चेतता। अर्थात् वे लोग जड़ पदार्थों की भक्ति त्याग कर चेतन सद्गुरु की भक्ति में नहीं लगते।

भला जिसके घर में कामधेनु (इच्छित पदार्थ देने वाली गऊ) है, क्या वह कभी भिक्षा माँग कर खाना पसन्द करेगा? जिसके आँगन में कल्पवृक्ष की शीतल छाया हो, वह धूप की तेज़ी में क्यों कष्ट पायेगा? पारसमणि के होते हुये कोई क्यों किसी से उधार मांगेगा?

सभी के हृदय में गायत्री रूपी कामधेनु मौजूद है जिसके स्मरण मात्र से सभी कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। राम नाम रूपी पारस मणि के पास होते हुये भी माया के अन्धकार में प्राणी भटकता रहता है। अभागे लोग नाम की खोज न करके और अनेकों नाना प्रकार के व्यर्थ परिश्रम करते रहते हैं। वास्तव में विट्ठल भगवान् का नाम ही पारसमणि, कामधेनु, कल्पवृक्ष या गायत्री है। जिसका गान करके संसार के पदार्थों की बात ही क्या है, मनुष्य मोक्ष-पद तक को भी तुच्छ समझने लगता है। यदि किसी को कुछ प्राप्त करना हो तो उसे श्री सद्गुरु देव की शरण में जाकर प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि सद्गुरु की परम कृपा से ही नाम रूपी मणि हाथ आती है, और तभी मोह रूपी दरिद्रता दूर होती है। यों तो नाम रूपी पारस सभी के हृदय में मौजूद है, मगर अज्ञान रूपी मिट्टी से ढका हुआ है। जैसे अग्नि काष्ठ के ढेर को भस्म कर देती है वैसे ही नाम रूपी अग्नि हृदय में प्रज्वलित होकर सभी विषय और विकार रूपी ईंधन को जला

कर राख कर देती है। किन्तु नाम रूपी अग्नि तभी प्रगट होती है, जब कि सद्गुरु, सत्संग रूपी वायु द्वारा भ्रम रूपी राख को दूर कर देते हैं; फिर यह नाम रूपी मणि सर्व काल में नज़र आने लगती है। विचार-वान और बुद्धिमान मनुष्य तो इस मणि को श्रद्धा रूपी हाथों से तत्काल उठा लेता है। फिर उसका हृदय-मन्दिर भगवान् की परम ज्योति से जगमगा उठता है। किन्तु मूर्ख इस मणि की कदर व कीमत को न जानते हुए ठोकर लगाता है और मन-मुख इस प्रकाश में विषय रूपी कीड़े खाता है; अर्थात् नाम मिलने पर भी विषयों की लालसा संसार के मूढ़-व्यवहार में ही आयु को गँवा देते हैं।

एकनाथ के सार-गर्भित, परम हितकारी, आत्मिक कल्याण करने वाले वचनों को सुनकर अनेक नर-नारियों ने उनके चरणों में अपना सिर रखकर प्रार्थना की, हे महाराज! यदि ऐसा उत्तम नाम रूपी पदार्थ है और जन्म-मरण के कष्टों को दूर करने वाला सुगम साधन है, तो हमें भी बताने की तथा सद्गुरु के चरणों की भक्ति प्रदान करने की कृपा करें। तभी साँसारिक उलझनों में उलझी हुई हमारी नैया भव से पार होगी। हम लोग चन्द्रभागा नदी में ही स्नान करने आए थे किन्तु जब मानसरोवर में गोता लगाने का शुभ अवसर मिल रहा है तो ऐसे समय को खोने से मूर्ख ही कहलायेंगे।

इस कोटि के जीवन-मुक्त महात्मा पहले से ही परोपकार करते आए हैं। उनका जीवन जगत को ज्ञान-धन से धनी बनाना और पवित्र करने के लिए ही होता है। गुरू की

आज्ञानुसार एकनाथ जी के आने का भी यही ध्येय था कि लोग सच्ची भक्ति में लग जावें। भावुक भक्तों को गुरु-भक्ति का उपदेश किया और सत्संग, सेवा और नाम स्मरण करने का आदेश देकर वहाँ से चल पड़े। जब एकनाथ जी वहाँ से प्रस्थान करने लगे, तो पंढरपुर-वासी सभी नर-नारियों की आँखों से आँसू बह रहे थे।

॥ प्रार्थना ॥

गुरु पईंया लागूँ, नाम लखाय दीजो रे।
घट अन्धियारा नैन नहीं सूझै, ज्ञान का दीपक जलाय दीजो रे॥
गुरु पईंया लागूँ.........
जन्म-जन्म का सोया मेरा मनुआँ, शब्दन मारि जगाय दीजो रे।
गुरु पईंया लागूँ.........
विष की लहर उठत घट माहिं, अमृत बूँद चुवाय दीजो रे॥
गुरु पईंया लागूँ.........
गहरी नदिया अगम बहे धरवा, खेई के पार लगाय दीजो रे।
गुरु पईंया लागूँ.........
धर्मदास की अर्ज़ गुसाईं, अब की खेप निभाय दीजो रे॥
गुरु पईंया लागूँ.........

झूठे गुरू से कोई लाभ नहीं

गुरू मिला न शिष्य मिला, लालच खेला दाव।
दोऊ बूड़े धार में, चढ़ि पाथर की नाव॥
जाका गुरू है आन्धरा, चेला निपट निरन्ध।
अन्धा अन्धे ठेलिया, दोऊ कूप परन्त॥
जानता बूझा नहीं, बूझ किया नहीं गौन।
अन्धे को अन्धा मिला, राह बतावे कौन॥
कबीर गुरू पूरे बिना, पूरा शिष्य नहीं होय।
गुरू लोभी शिष्य लालची, दूनी दाझन होय॥
पूरा सत्गुरु ना मिला, सुनी अधूरी सीख।
स्वांग जती का पहर के, घर-घर मांगी भीख॥
गुरू-गुरू में भेद है, गुरू-गुरू में भाव।
सोई गुरू नित बन्दिये, शब्द बतावे दाव॥
गुरू किया है देह का, सत्गुरु चीन्हा नाहिं।
भव-सागर के जाल में, फिर-फिर गोता खाहिं॥
जा गुरू ते भ्रम ना मिटे, भ्रान्ति न जीव की जाय।
सो गुरू शिष्य सहित, बान्धा यमपुर जाय॥
गुरू तो ऐसा चाहिए, देवे शब्द बताय।
शिष्य तो ऐसा चाहिये, रहे हरदम लौ लाय॥
बन्धे को बन्धा मिला, छूटे कौन उपाय।
कर सेवा निरबन्ध की, पल में लै छुड़ाय॥
झूठे गुरू के पक्ष को, तजत न कीजे बार।
नहीं तो बान्धा जायेगा, जा के यम के द्वार॥

कबीर गुरू को गम नहीं, पाहन दिया बताय।
सतुगुरु की सेवा बिना, पार न पहुँचे जाय॥
जाका गुरू है आन्धरा, चेला आन्धरा होय।
कीच-कीच को धोवते, दाग न छूटे कोय॥
गुरू नाम है ज्ञान का, शिष्य सीख ले सोय।
ज्ञान मरजाद जाने बिना, गुरू अरु शिष्य न होय॥
गुरू हो पूरा शिष्य हो सूरा,बाग मोरि रण पैठ।
शब्द सुरत को चीन्ह के, एक तख्त चढ़ि बैठ॥

॥ निगुरा ॥

प्रथम तो वे लोग हैं, जो जीवन में गुरू धारण ही नहीं करते। ऐसे लोगों का जीवन तो निरर्थक ही समझो। उनका सभी किया कराया वृथा ही जाता है नारद जी साक्षात् बैकुण्ठ में जाकर भगवान् विष्णु के दर्शन किया करते थे। मगर नारद जी जिस स्थान पर जाकर खड़े हुआ करते थे, उनके जाने के उपरान्त देवदूत वहाँ की भूमि को अपवित्र समझ कर, वहाँ की मिट्टी को खोदकर बाहर फैंक दिया करते थे। एक समय नारद जी किसी आवश्यक कार्यवश जब वापस लौट कर आये, तो देवदूतों को मिट्टी खोदकर फैंकते देखा और पूछा—आप ऐसा क्यों कर रहे हो ? देवदूतों ने उत्तर दिया—नारद जी ! आप निगुरे हो, आप के खड़े होने से यहाँ की भूमि अपवित्र हो जाती है। तब नारद जी ने भगवान् से पूछा, प्रभो ! साक्षात् आपके दर्शन करने पर भी क्या मुझे गुरू करने की ज़रूरत है ? भगवान् ने कहा—नारद जी ! वास्तव

में गुरू के बिना मेरा दर्शन करने पर भी मनुष्य अपवित्र एवं अज्ञानी ही रहता हैं। तब नारद जी ने धींवर को गुरू धारण किया।

शुकदेव मुनि गर्भ योगेश्वर और परम तपस्वी थे। जब उन्हें कठिन तपस्या करने पर भी आत्मिक शांति नहीं मिली तब उन्होंने अपने पिता श्री व्यासदेव जी की शरण में जा कर पूछा, पिता जी ! अनेक प्रकार के जप, तप, व्रत, तीर्थ एवं साधन करने पर भी मेरे हृदय को शांति क्यों नहीं है ? तब व्यास जी ने कहा, पुत्र ! तुम आत्म-विद्या को नहीं जानते। इसी कारण तुम्हें शांति नहीं मिली है। यों तो भगवान् व्यास देव जी भी उस परम गुह्य साधन का उपदेश कर सकते थे मगर वे इस बात को जानते थे कि पिता-पुत्र का नाता होने के कारण शुकदेव की मेरे प्रति गुरू एवं भगवत् भावना नहीं होगी और इस तरह इसका कल्याण भी नहीं होगा। तब उन्होंने शुकदेव मुनि को राजा जनक की शरण में आत्म-ज्ञान की प्राप्ति करने के लिये भेजा।

गुरु बिन माला फेरता, गुरु बिन करता दान।
गुरु बिन सब निष्फल गया, बूझो वेद पुराण ॥
जो निगुरा सुमिरण करे, दिन में सौ सौ बार।
नगर नाइका सत् करे, जरे कौन की लार ॥
गर्भ योगेश्वर गु बिना, लागा हरि की सेव।
कहै 'कबीर' बैकुण्ठ से, फेर दिया शुकदेव ॥
जनक विदेही गुरू किया, लागा गुरु की सेव।
कहै 'कबीर' बैकुण्ठ में, उलट मिला शुकदेव ॥

जो कामिनी पर्दे रहे, सुने न गुरु मुख बात ।
होय जगत में कूकरी, फिरे उघारे गात ।।
'कबीर' गुरु की भक्ति बिनु, राजा वृषभ होय ।
माटी लादै कुम्हार की, घास न डारे कोय ।।
चौसठ दीवा जोय के, चौदह चन्दा मांहि ।
तेहि घर किसका चान्दना, जेहि घर सद्गुरु नाहिं ।।
निशि अन्धियारी कारने, चौरासी लख चन्द ।
गुरु बिन ऐते उदय हों, तहू सुदृष्टिहिं मन्द ।।
गगन मण्डल के बीच में, तहां झलके नूर ।
निगुरा महल न पाईयां, पहुँचेगा गुरु पूर ।।
बिन गुरु भेद न पावहिं, जतन करो हजार ।
गुरु कृपा मन थिर करे, कहैं 'कबीर' विचार ।।
गुरु बिन ज्ञान न उपजे, गुरु बिन मिले न मोक्ष ।
गुरु बिन लखे न सत्य को, गुरु बिन मिटे न दोष ।।

जो लोग देखा देखी या वास्तव में गुरू धारण करने के महत्व को समझ कर गुरू धारण कर लेते हैं, उनकी सन्तों ने दो श्रेणियां बताई हैं । प्रथम गुरु-मुख—गुरु-मुख वह कहलता है, जो गुरू की आज्ञानुसार अपने जीवन को सत्य-मार्ग में लगाता है । दूसरे मन-मुख—मन-मुख वह कहलाता है, जो गुरू धारण करने पर भी मन का चेला रहता है और जैसा उसका मन कहता है, वैसे ही कर्मों में लगा रहता है ।

गुरु-मुख :—१

गुरु-मुख गुरू चितवत् रहे, जैसे शाह दीवान ।
'कबीर' और नहीं देखता, है वाही को ध्यान ॥
गुरु-मुख गुरू चितवत् रहे, जैसे चन्द चकोर ।
आठ पहर निरखत रहे, गुरु मूरत की ओर ॥
गुरु-मुख गुरू चितवत् रहे, जैसे मणि भुजंग ।
कहै कबीर बिसरे नहीं, यही गुरु-मुख को अंग ॥
उलटे सुलटे वचन का, शिष्य न माने दुःख ।
कहै 'कबीर' संसार में, सो कहिए गुरु-मुख ॥
आठ पहर चौंसठ घड़ी, भरो प्याला प्रेम ।
बुल्ला कहै विचार के, यही हमारो नेम ॥
प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाय ।
भरी सराय 'रहीम' लखि, पथिक आपु फिर जाय ॥

मन-मुख :—२

सेवक-मुखी कहावई, सेवा में दृढ़ नाहिं ।
कहै कबीर सो सेवका, लख चौरासी जाहिं ॥
फल कारण सेवा करे, तजे न मन से काम ।
कहै कबीर सेवक नहीं, चहे चौगुना दाम ॥
सदगुरु शब्द उलंघि के, जो सेवक कहीं जाय ।
जहाँ जाए तहँ काल है कहें 'कबीर' समुझाय ॥
गुरू बिचारा क्या करे, जो शिष्य माहिं चूक ।
भावे ज्यों परमोदिये, बाँस बजाई फूँक ॥

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर ।
तेरा तुझ को सौंपते, क्या लागेगा मोर ॥
तेरा तुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो मोर ।
मेरा मुझ को सौंपते, जी धड़केगा तोर ॥
गुरू से करे कपट चतुराई । सो 'शिष्य' भव भ्रमै जाई ॥
जो शिष्य गुरु की निन्दा करई । सूकर स्वान गर्भ में परई ॥
हरि गुरु निन्दक दादुर होई । जन्म सहस्र पावै तन सोई ॥
शिष्य सखा बहुते किये, सद्गुरु किया न मित्त ।
चाले थे सत्लोक को, बीच ही अटका चित्त ॥
चाहता था भवसागर तरने, मारी मन की दौर ।
गुरू आज्ञा मानी नहीं, पड़ा नरक की ठौर ॥
लोभी गुरु लालची चेला । दोनों नरक में ठेलम ठेला ॥
गुरु शिष्य अन्ध बधिर कर लेखा । एक न सुने एक नहीं देखा ॥
गुरु के वचन प्रतीत न जेही । स्वप्नतेहुं सुलभ न सुख सिद्धि तेही ॥
मोर दास कहाये नर आशा । करइ तो कहहु कहा विश्वासा ॥

सेवक या दास

सेवक सेवा में रहे, सेवक कहिये सोय ।
कहै 'कबीर' सेवा बिना, सेवक कबहूं न होय ॥
सेवक सेवा में रहे, अन्त कहूँ नहिं जाय ।
दुःख-सुख सिर ऊपर सहे, कहै कबीर समुझाय ॥
सेवक स्वामी एक मति, मति में मति मिलि जाय ।
चतुराई रीझे नहीं, रीझे मन के भाय ॥

द्वार धनी के पड़ रहे, धका धनी का खाय ।
कबहुँक धनी निवाजई, जो दर छाँड़ि न जाय ।।

'कबीर' गुरू सब को चहैं, गुरू को चहैं न कोय।
जब लग आस शरीर की, तब लगि दास न होय ।।

निरबंधा बंधा रहे, बंधा निरबंध होय ।
कर्म करे करता नहीं, दास कहावे सोय ।।

गुरू समर्थ सिर पर खड़े, कहा कमी तोहि दास।
ऋद्धि सिद्धि सेवा करैं, मुक्ति न छांड़े पास ।।

दास दुःखी तो हरि दुःखी, आदि अन्त तिहुँ काल।
एक पलक में प्रकट ह्वै, छिन में करे निहाल ।।

दास धनी याचे नहीं, सेवा करे दिन-रात ।
कहै 'कबीर' ता सेवकहिं, काल करे नहिं घात।।

सब कुछ गुरू के पास है, पाइये अपने भाग।
सेवक मन से प्यार है, निशि दिन चरनन लाग ।।

सेवक कुत्ता गुरू का, मोतिया वा का नाँव।
डोरी लागि प्रेम की, जित खींचे तित जाव ।।

दुर-दुर करे तो बाहिरे, तू-तू करे तो जाय।
ज्यों गुरू राखे त्यों रहे, जो देवैं सो खाय ।।

दासापन हिरदे नहीं, नाम धरावे दास ।
पानी के पीये बिना, कैसे मिटे पियास ।।

भुक्ति मुक्ति माँगौं नहीं, भक्ति दान दे मोहि।
और कोई जाचौं नहीं, निश-दिन जाचौं तोहि ।।

धरती अम्बर जायेंगे, विनसेंगे कैलास ।
एकम-एक हो जायेंगे, तब कहाँ रहेंगे दास ।।

एकम-एका होन दे, विनशन दे कैलाश ।
धरती अम्बर जान दे, मो में मेरे दास ॥
यह मन ताको दीजिये, जो साँचो सेवक होय ॥
सिर ऊपर आरा सहै, तऊ न दूजा होय ॥
काजर केरी कोठरी, ऐसा यह संसार ।
बलिहारी वा दास की, पैठि के निकसन हार ॥
काजर केरी कोठरी, काजर ही का कोट ।
बलिहारी वा दासकी, रहै नाम की ओट ॥
अनराते सुख सोवना, राते नींद न आय ।
ज्यों जल छूटे माछरी, तड़फत रैन विहाय ॥
जा घट में साँई बसे, सो क्यों छाना होय ।
जतन-जतन कर देखिये, तो उजियारा होय ॥
कबीर खालिक जागिया, और न जागे कोय ।
कै जागे विषया भरा, कै दास बंदगी जोय ॥
सब घट मेरा साईयाँ, सूनी सेज न कोय ।
बलिहारी वा घट की, जा घट प्रगट होय ॥

भावना

तू ही मेरा देव है, शुभ अवसर में आय ।
अपने शब्द प्रेम से, दीन्हा मुझे जगाय ॥
निज कृपा का तेज दे, प्रीति करन के साथ ।
संग रहे शुभ कर्म में, मंगल मय तव हाथ ॥
रहूँ जागता नाम में, छोड़ूँ जग जंजाल ।
काम करूँ तेरा हरि, तेरा रहूँ दयाल ॥

सेवा-साधन से कभी, लूँ न आँखें मींच ।
सजग रहूँ उपकार में, धर्म-कर्म के बीच ।।
जागूँ जगाऊँ जनन को, निरखूँ तेरी जोत ।
श्रद्धा-प्रेम विश्वास का, बहे हृदय में स्रोत ।।
दान पुण्य उपकार में, दूँ धन कोमन खोल ।
सेवा कर गुरुदेव की, कभी न बोलूँ बोल ।।
भगवन मुझ को भावना, भक्ति भाव दे दान ।
सेवा सज्जन सन्त की, भ्रातृ भाव महान ।।
भक्ति भाव से हीन हूं, ज्ञान ध्यान से हीन ।
कबीर द्वार का भिक्षु हूँ, करो कृपा हूँ दीन ।।

—ः नाम महिमा ः—

'नाम' राम को कल्प तरु, कलि कल्याण निवास ।
जो सुमिरत भये भाग्य ते, तुलसी तुलसी दास ।।
भय नाशन दुर्मति हरण, कलि में हरि को नाम ।
'नानक' जो निशि दिन भजे, सुफल होयें तेहि काम ।।

सभी मजहबों, सभी सम्प्रदायों और सभी ग्रन्थों में नाम को स्मरण करने के लिये कहा गया है । मगर जिस नाम को स्मरण करने से सद्गति होती है अथवा वह महान् शक्ति प्रगट होती है उस नाम को जानना बहुत ही ज़रुरी है । यदि जी चाहे जिस नाम को स्मरण करने से जीवन का कार्य पूरा हो जाता या परमात्मा की प्राप्ति हो जाती तो गुरू धारण करने की भी कोई ज़रूरत नहीं रहती, मगर गुरू

के बिना तो भक्ति-मार्ग में कोई भी आगे नहीं बढ़ सकता। लोग अनेकों देवताओं का पूजन-ध्यान करते हैं। तीर्थ, व्रत आदि को भक्ति ही समझ कर करते हैं, पर कलि-काल में तो नाम के सिवाय दूसरा कोई साधन हो ही नहीं सकता।

कलियुग केवल नाम अधारा। सुमिर सुमिर भव उतरो पारा॥
कलि कर्म न भक्ति विवेकू। राम नाम अवलम्बन एकू॥

कलिकाल के कठिन समय में कर्म-काण्ड, उपासना या भक्ति अथवा ज्ञान प्राप्ति का कठिन साधन नहीं हो सकता। इसलिए सभी को सर्व प्रकार के कर्मों का सहारा छोड़ कर 'नाम' स्मरण करना चाहिये।

जेहि सुमरत सिद्ध होय, गणनायक करिवर वदन।
करहु अनुग्रह सोय, बुद्धि राशि शुभ गुण सदन॥

जिस नाम को स्मरण करके गणेश जी सिद्धि को प्राप्त हो गये, वही 'नाम' मुझ पर भी कृपा करे जो कि बुद्धि, ज्ञान और गुणों का भण्डार है।

मूक होहिं वाचाल, पंगु चढ़हिं गिरिवर गहन।
जासु कृपा सुदयाल, द्रवहु सकल कलि-मल दहन।

नाम के स्मरण करने से गूँगा बोलने लग जाता है और पँगु पहाड़ों पर चढ़ जाता है। नाम की कृपा और दया से कलिकाल के सभी पापों का नाश हो जाता है।

नाम जो रत्ती एक है, पाप जो रत्ती हजार।
रंचक घट में संचरे, जार करे सब छार॥

कथा आती है, सभी देवताओं में एक समय यह विवाद हो गया कि सर्वप्रथम पूजा किसकी की जावे।

तब सब ने मिल कर यह निश्चय किया कि जो समस्त पृथ्वी की परिक्रमा करके सर्वप्रथम भगवान् शिव के निकट आ जाएगा उसकी ही सर्वप्रथम पूजा होगी। सभी देवता अपनी-अपनी सर्वप्रथम पूजा कराने की कामना से, अपने-अपने वाहनों पर बैठ कर पृथ्वी की परिक्रमा करने को चल पड़े। गणेश जी का वाहन मूषक (चूहा) माना जाता है, गणेश जी सब से पीछे रह गए। वह दुःखी और चिन्तित से धीरे-धीरे चले जा रहे थे कि अकस्मात् देव-ऋषि नारद आ गए। नारद जी ने गणेश जी से उनकी चिन्ता का कारण पूछा। गणेश जी ने सर्वप्रथम पूजा और पृथ्वी-परिक्रमा का पूरा विवरण ही अपनी चिन्ता का कारण बताया। सुन कर नारद जी कहने लगे, गणेश जी ! आप चिन्ता को त्याग दीजिए और भगवान् का पवित्र नाम स्मरण करके शिव जी के पास चले जाइए। सर्वप्रथम आपकी ही पूजा होगी। गणेश जी ने ऐसा ही किया और उनकी सर्व-प्रथम पूजा होने लगी।

नाम प्रभाऊ जानि गणराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाउ॥

रामायण में सन्त तुलसीदास जी ने कहा है कि :—

बन्दौं नाम राम रघुवर को। हेतु कृशानु, भानु, हिमकर को।
विधि हरि हर मय वेद प्राण सो। अगुण अनूपम गुण निधान सो॥

मैं श्री रघुनाथ जी के राम 'नाम' की वन्दना करता हूँ। जो कि अग्नि के समान पापों को भष्म करने वाला, सूर्य के सदृश उजाला करने वाला और चन्द्रमा की तरह शीतलता अर्थात् परम-शान्ति देने वाला है। आजकल के विद्वान इस चौपाई का मनमाना अर्थ करके लोगों को समझाते हैं। वे

कहते है। कि कृशानु से रकार (र) भानु से अकार (अ) और हिमकर से मकार (म), यह तीनों मिल कर राम शब्द बनता है। मगर न तो राम कहने से पाप दूर होते हैं क्योंकि राम-राम करते समय भी विषयों की ही याद रहती है। न अन्दर बाहर उजाला होता है और न राम कहने से हृदय में शान्ति होती है। 'नाम' तो वही है, जिस में यह तीनों गुण मौजूद हों। जिस नाम की महिमा सन्तों ने गाई है और जो वास्तव में कल्याण करने वाला है वह ब्रह्मा, विष्णु और महेश स्वरूप और वेदों का प्राण है। नाम के जाने बिना वेदों को पढ़ने का कोई भी लाभ नहीं है, क्योंकि जैसे प्राण निकलने पर मनुष्य का शरीर किसी काम का नहीं वैसे यदि वेदों में से नाम की महिमा निकाल दी जावे तो वेद मुर्दे के समान हैं।

नाम लिया तिन सब लिया, सकल वेद का भेद।
बिना नाम नर्के पड़ा, पढ़ता चारों वेद॥

नाम को तीनों गुणों से परे और अनुपम बताया है। उपमा रहित नाम उसको कहते हैं जिसके मुकाबले में कोई दूसरा नाम न हो। कोई गायत्री-मन्त्र जपता है तो कोई राम-राम कहता है। कोई कृष्ण-कृष्ण कहने को भक्ति समझता है, तो कोई ॐ नमः शिवाय अथवा ॐ नमः भगवते वासुदेवाय की रटन को स्मरण या भजन समझता है। और भी अनेकों मनुष्य अपनी-अपनी रुचि अनुसार अथवा गुरुओं के बताये हुए नामों का स्मरण करते हैं। अगर इन सभी नामों या तन्त्र-मन्त्र को सत्य मान लिया जावे, तो इन नामों में से अनुपम तो कोई भी नाम नहीं हुआ। क्योंकि एक के मुकाबले में दूसरा

नाम मौजूद है। नारद जी ने भगवान् राम से वरदान मांगते हुए कहा है।

राका रजनी भक्ति तव, राम 'नाम' सोई सोम।
अवरु नाम उड्गण विमल, बसहु भक्त उर व्योम॥
राम सकल नामन ते अधिका।
होउ नाथ अघखग गण बधिका॥

हे राम! पूर्णमाशी की रात्रि तुम्हारी भक्ति है जिसमें तुम्हारा राम नाम चन्द्रमा है बाकी सभी नाम तारागण हैं परन्तु जिस नाम से भक्तों के हृदयाकाश में निवास करते हो वह नाम क्या है? जिससे अज्ञान रूपी रात्रि का नाश और पाप रूपी पक्षियों के बध करने वाले हो। हे राम! वह नाम सब नामों से अधिक है।

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्र नाम सः तुल्यं राम नाम वरानने॥

जो नाम सभी में रमा हुआ है, जिसमें योगी लोग रमण करते हैं, वह 'नाम' हज़ारों नामों के बराबर एक ही 'नाम' है।

सहस नाम सम सुनि शिव बानी।
जपि जेई पिय संग भावानी॥

संसार के प्रचलित हज़ारों नाम मिल कर भी उस एक नाम की बराबरी नहीं कर सकते। उसी नाम को पार्वतीजी भगवान् शिव के साथ जपती हैं।

वर्षा ऋतु रघुपति भगति, तुलसी शाल सुदास ।
राम नाम वर वर्ण युग, सावन भादो मास ॥

जिस प्रकार सब ऋतुओं में वर्षा ऋतु श्रेष्ठ है और वर्षा ऋतु में दो महिनों सावन भादों की जोड़ी है ठीक उसी प्रकार सब शुभ कर्मों में भक्ति श्रेष्ठ है और सब वर्णों में राम के नाम के दो अक्षरों की जोड़ी है। श ष स ह ।

तुलसीदास जी ने राम-नाम के दो अक्षरों की महिमा बताते हुए कहा है कि :—

आखर मधुर मनोहर दोऊ ।
वर्ण विलोचन जन जिय जोऊ ॥
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू ।
लोक लाहु परलोक निबाहू ॥
कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके ।
राम लखन सम प्रिय तुलसी के ॥
वर्णत वर्ण प्रीति बिलगाती ।
ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती ॥
नर नारायण सरिस सुभ्राता ।
जग पालक विशेष जन त्राता ॥
भक्ति सुतिय कलकर्ण विभूषण ।
जग हित हेतु विमल विधु पूषण ॥
स्वाद तोष सम सुगति सुधा के ।
कमठ शेष धर वसुधा के ॥
जन-मन मंजु कञ्ज मधुकर से ।
जीह जसोमति हरि हलधर से ॥

नाम के दोनों अक्षर मधुर (मीठे) हैं, मनोहर हैं, अर्थात् भक्तों के मन को हरण करने वाले हैं। सोलह स्वर और छत्तीस व्यञ्जनों की आँख हैं अर्थात् सोलह स्वर तथा छत्तीस व्यञ्जन उन दो अक्षरों की सहायता से ही उच्चारण होते हैं और भक्तों के सदा हृदय में बास करते हैं। कहने सुनने और स्मरण करने में आसान हैं। सन्तों का उपदेश सभी जातियों और संसार भर के लोगों के लिए एक होता है। मगर राम-राम कहने को मुसलमान तथा ईसाई लोग तो अच्छा नहीं समझते। फिर राम-राम करना या कहना सबके लिए आसान कहाँ हुआ? मगर जिन दो अक्षरों की महिमा तुलसीदास जी कह रहे हैं, वे सभी के लिए आसान है। क्योंकि सभी के हृदय में पहले से ही मौजूद हैं। राम सबके हृदय में है, तो उसका 'नाम' भी सभी में होना चाहिए। उस 'नाम' को हनुमान जी ने हृदय फाड़कर दिखाया था। तुलसीदास जी को वे राम 'नाम' के दो अक्षर राम-लक्ष्मण के समान प्यारे हैं। उन दो अक्षरों को मुँह से उच्चारण करने में उन की प्रीति अलग-अलग हो जाती है। वह अक्षर तो सदा ब्रह्म के साथ जीव को सहज में ही मिलाने वाले हैं।

राम नाम के दोनों अक्षर तो नर-नरायण के समान एक साथ रहने वाले और सारे विश्व का पालन-पोषण करने वाले हैं। पर जो भक्त उन दो अक्षरों का स्मरण करता है, उस का विशेष करके कल्याण करते हैं। भक्ति रूपी स्त्री के कानों के दोनों अक्षर दो कर्णफूल हैं। स्त्री दो कर्णफूलों

से और भक्ति 'नाम' के दो अक्षरों से ही शोभा पाती है। जगत के हित करने के लिए दोनों अक्षर सूर्य और चन्द्रमा के समान हैं। चन्द्रमा सब वनस्पतियों को रस प्रदान करता है तो सूर्य उसे पका कर पुष्ट करता है। दोनों अक्षर स्वाद में सन्तोष के समान और फल देने में अमृत के समान हैं। मन्द्राचल पर्वत को धारण करने वाले कच्छप (कछुवे) और पृथ्वी को धारण करने वाले शेषनाग के समान दोनों अक्षर सारे विश्व को धारण किये हुए हैं।

'शब्द के धारे आकाश पाताल'

शब्द या नाम ने ही सारे विश्व को धारण किया हुआ है। दोनों अक्षर भक्तों के मन रूपी कमल के भौंरे हैं और जैसे माता यशोदा को श्रीकृष्ण तथा बलराम प्यारे थे, वैसे ही भक्तों को दोनों अक्षर परम प्यारे हैं।

एक छत्र एक मुकुट मणि, सब वर्णन पर जोउ।
तुलसी रघुवर 'नाम' के, वर्ण विराजत दोउ॥

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि रघुवर के नाम के दो अक्षरों पर एक छत्र (ा) और एक मुकुट मणी (ँ) बिराजमान में।

ऊपर जावे नीचे आवे, स्वांस-स्वांस चल जात।
संसारी नर समझें नहीं, वृथा उमर विहात॥

सारा संसार नाम के उन दोनों अक्षरों को भूला हुआ है। जो लोग राम 'नाम' के उन दोनों अक्षरों का स्मरण नहीं करते, उनकी आयु वृथा ही जा रही है।

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी॥
नाम रूप दोउ ईश उपाधी। 'अकथ' अनादि सुसामुझ साधी॥

को बड़ छोट कहत अपराधू । सुनि गुण भेद समुझहिं साधू ।।
देखिये रूप नाम आधीना । रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना ।।
रूप विशेष नाम बिनु जानें । करतल गत न परै पहिचाने ।।
सुमिरिये नाम रूप बिन देखे । आवत हृदय सनेह विशेषे ।।
नाम रूप गति अकथ कहानी । समुझत सुखद न परत बखानी ।।
अगुण-सगुण बिच नाम सुसाखी । उभय प्रबोधक चतुर द्विभाषी ।।

नाम और नामी में कोई भी भेद नहीं है, नाम एवं नामी में स्वामी और सेवक जैसी प्रीति है । जैसे स्वामी तथा सेवक देखने मात्र में दो रूप होते हैं पर वास्तव में अन्तरात्मा से एक ही होते हैं । ऐसे ही नाम और रूप ईश्वर की दो उपाधियां हैं । वास्तव में नाम एवं नामी एक ही हैं । यद्यपि नाम और रूप तीनों कालों में अनादि हैं मगर श्रेष्ठ बुद्धि वाले साधू ही इस भेद को जानते हैं ।

जिन नामों को दुनियाँ के लोग जपते हैं या जिन रूपों का ध्यान करते हैं यह रूप और नाम अनादि नही हैं । क्योंकि भगवान् राम का अवतार त्रेता युग में और भगवान् कृष्ण का अवतार द्वापर में हुआ है । सतयुग में यह रूप और नाम नहीं थे । तो ध्रुव और प्रह्लाद ने क्या 'नाम' जपा होगा, तथा किस रूप का ध्यान किया होगा ? यह बात सभी को सोचनी और विचारनी चाहिये । नाम और रूप में से किस को छोटा तथा किसको बड़ा बताया जावे ? एक को बड़ा और दूसरे को छोटा कहने में पाप या दोष लगता है । नाम और रूप के भेद को तो सन्त ही समझते हैं । रूप तो नाम के आधीन रहता है । 'नाम' के विना कभी भी नामी या परमात्मा के स्वरूप का

ज्ञान नहीं होता । मूर्ति निर्माण के कार्य में पहले रूप तैयार हो जाता है, तभी नाम रक्खा जाता है । मगर रूप के बिना जाने हुए भी नाम का स्मरण करने से रूप स्वयं ही हृदय में आ जाता है । इसलिए सब भ्रमों को त्याग कर नाम का स्मरण करना चाहिये । यों तो नाम और रूप की कहानी अकथनीय है, अर्थात् कहने में नहीं आती । मगर सद्गुरु के समझाने पर दोनों ही बातें समझने में सुखदाई और आसान हो जाती हैं ।

कुछ लोग पाषाण, धातु, मिट्टी अथवा कागज़ की मूर्तियों को भगवान् का साकार या सगुण रूप मानते हैं और कुछ लोग भगवान् के निर्गुण निराकार स्वरूप को मानने के लिए कहते हैं । मगर दोनों प्रकार के भेद या भ्रम, नाम को जानने में ही दूर होते हैं । निराकार और साकार ब्रह्म के मध्य में नाम ही द्विभाषिये का काम देता है । जैसे अलग-अलग एक-एक भाषा जानने वालों का द्विभाषिया मेल करा देता है वैसे ही नाम निराकार और साकार दोनों का मेल कराने वाला है ।

राम नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहरो, जो चाहसि उजियार ।।

इसलिए तू राम 'नाम' रूपी मणि को हृदय की दहलीज पर रख ले । तेरे भीतर बाहर उजाला हो जायेगा । मणि कहने से यह भाव है कि मणि में दिन-रात उजाला रहता है । नाम भी हर समय प्रकाशित रहता है । राम 'नाम' के उच्चारण से दीया जल जाता है और उच्चारण बन्द करने पर दीया बुझ जाता है ।

माला तो कर में फिरे, जीभ फिरे मुख माहिं ।
मनवा तो दसों दिसि फिरे, यह तो सुमिरण नाहिं ॥
माला फेरत युग गया, पाया न मन का फेर ।
कर का मणका डारि दे, मन का मणका फेर ॥
माला फेरत मन-मुखी, ताते कछु न होय ।
मन माला के फेरते, गुरू से मेला होय ॥
माला मन से लड़ पड़ी, क्या फेरत है मोय ।
मन माला के फेरते, घट उजियारा होय ॥
माला जपूँ न कर जपूँ, मुख से कहूँ न राम ।
राम मेरा स्मरण करे, मैं पाऊँ विश्राम ॥
माला कर में सुरत न हरि में, यह स्मरण कहो कैसा ।
बाहर भेष धार कर बैठे, अन्दर पैसा-पैसा ॥

भगवान् राम अयोध्या वासियों को उपदेश देते समय कहते हैं ।

औरउ एक सुगुप्त मत, सबहिं कहूँ कर जोरि ।
शंकर भजन बिना नर, भक्ति न पावे मोरि ॥
शंकर विमुख भक्ति चहे मोरि । सो नर मूढ़ मन्द मति थोरी ॥
शिव द्रोही मम दास कहावे । सो नर स्वप्नहु मोहि नहिं भावे ॥
शिव सेवक मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कल्प भर, घोर नर्क में वास ॥

भगवान् राम सबसे हाथ जोड़ कर यही कहते हैं कि एक बहुत ही गुप्त बात है और वह यह कि शंकर जी के भजन के बिना कोई भी मनुष्य मेरी भक्ति नहीं पा सकता । जो शंकर जी से विमुख होकर मेरी भक्ति चाहता है वह मनुष्य मन्द-बुद्धि

वाला अज्ञानी ही है। जो शिव का पूजन ध्यान करता है, मुझे त्याग देता है अथवा मेरी पूजा आदि करता हुआ शिव का त्याग करता है वह मूर्ख कल्पों तक घोर नर्क में ही वास करता है। शिव का पूजन-ध्यान करेंगे तो राम का ध्यान छूट जाता है और जब राम का ध्यान-पूजन किया जायेगा तो उस समय शिवजी का ध्यान नहीं हो सकेगा। इसलिए देवताओं के पूजन-ध्यान को भक्ति समझना अज्ञानता है। वास्तव में शिव भजन वह है, जो भजन स्वयं शिव जी ने किया।

महा-मन्त्र जो जपत महेशू। काशी मुक्ति हेतु उपदेशू॥
नाम प्रभाव जानि शिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को॥
नाम प्रभाव शम्भु अविनाशी। साज अमंगल मंगल राशी॥

जितने भी नाम दुनियां में प्रचलित हैं। इन सब का उच्चारण करने पर शुरू और उच्चारण बन्द करने पर अन्त हो जाता है। इन नामों में से कोई भी 'नाम' महा-मंत्र नहीं है। महा-मंत्र तो उसे कहते हैं, जिसका आदि, अन्त और मध्य नहीं है। नाम के प्रभाव को तो भगवान् शिव ही अच्छी प्रकार जानते हैं। नाम के प्रभाव से ज़हर भी अमृत बन गया। नाम के प्रभाव से शिव जी का अमंगल भेष भी मंगल दायक हो गया। अमंगल भेष की भी शिव आरती में महिमा ही गाई जाती है।

चहुँ युग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि विशेष नहिं आन उपाऊ॥
''आदि सच जुगादि सच, है भी सच, नानक होसी भी सच''

चारों युगों और चारों वेदों में नाम का ही प्रभाव प्रगट है। क्या सतयुग के भक्तों ने राम राम ही स्मरण किया होगा? जब कि कहा है :—

नारद जानेउ नाम प्रतापू । जग प्रिय हरि हर, हरि प्रिय आपू ।।
ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नामू । पाएउ अचल अनूपम ठामू ।।
नाम जपत प्रभु कीन्ही प्रशादू । भक्त शिरोमणि भए प्रह्लादू ।।
जपत अजामिल गज गणिकाऊ । भए मुक्त सब नाम प्रभाऊ ।।

नाम तो निराकार और साकार भगवान् से भी बड़ा है । जैसे अग्नि सर्वव्यापक होने पर किसी भी काम का नहीं, न तो निराकार अग्नि से शीत निवारण होता है और न ही निराकार अग्नि से भोजन ही बना सकते हैं । मगर जब यत्न पूर्वक लकड़ियों की सहायता से अग्नि प्रगट कर ली जाती है, तो उस से हमारे सब कार्य चलते हैं । ऐसे ही निराकार भगवान् की प्राप्ति नाम से होती है । जिस नाम की महिमा स्वयं भगवान् राम भी न गा सके क्या वह कोई साधारण नाम हो सकता है ?

राम एक तापस तिय तारी । नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।।
राम भालु कपि कटक बटोरा । सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा ।।
नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं । करो विचार सज्जन मन माहीं ।।
कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई । राम न सकहिं 'नाम' गुण गाई ।।

कबीर दास जी कहते हैं :

राम-राम सब कोई कहे, नाम न चीन्हें कोय ।
नाम चीन्हें सद्गुरु मिले, नाम कहावे सोय ।।
कोटि नाम संसार में, ताते मुक्ति न होय ।
आदि नाम जो गुप्त जप, बूझे बिरला कोय ।।
तन्त्र-मन्त्र सब झूठ हैं, मत भ्रमो कोई संसार ।
सार शब्द जाने बिना, कोई न उतरसी पार ।।

तन्त्र मन्त्रों को झूठा कहने से सम्भव है किसी को बुरा लगे। इसलिए आगे कहते हैं, कि तुम अपने ही मन में यह विचार करो कि जब आप लोग कोई भी तन्त्र-मन्त्र या नाम जपते हो तो तुम्हारा मन या तुम्हारी चित्तवृति कहाँ रहती है ?

शब्द विना सुरती आन्धरी, कहो कहाँ को जाय।
द्वार न पावे शब्द का, फिर फिर भटका खाय॥
स्मरण सुरति लगाय के, मुख ते कछु न बोल।
बाहर के पट देय के, अन्तर के पट खोल॥
आँख, कान, मुख, मूंद कर, नाम निरंजन लेय।
भीतर के पट तब खुलें, जब बाहर के पट देय॥
अजपा स्मरण घट विषै, दीना सृजन हार।
ताहि से मन लग रहा, कहत कबीर विचार॥
'गोश बन्द, चशम बन्द, लब बन्द'

कान बन्द करो, आंख बन्द करो और होंठ बन्द करो, पर अन्दर क्या करना होगा ईस भेद को तो सद्गुरु ही बतायेंगे। मन्सूर फकीर कहते हैं :—

अगर है शौक मिलने का तो, हर दम लौ लगाता जा॥
पकड़ कर इश्क की झाड़ू, सफा कर दिल के हुजरे को।
दुई की धूल रख सर से, मुसल्ले पर उड़ाता जा॥१॥
न रख रोज़ा न मर भूखा, न जा मस्जिद, न कर सिजदा।
वजू का तोड़ दे कूजा, शराबे शौक पीता जा॥२॥
यह धागा तोड़ दे तसबीह, किताबें डाल पानी में।
मशायक बन के क्या करना, मशीकत को जलाता जा॥३॥
प्याला मयखुदी का छोड़, प्याला बेखुदी का पी।

नशे में सैर कर प्यारे, तू ही तू गीत गाता जा ॥४॥
खुदा तुम दूर मत समझो, यही रास्ता है मस्तों का।
खुदी को दूर कर दिल से, इसी के बीच आता जा ॥५॥
न हो मुल्ला न हो ब्राह्मण, दूई की छोड़ दे पूजा।
हुक्म है शाह कलन्दर का, तकब्बुर को मिटाता जा ॥६॥
कहे मन्सूर काज़ी से, निवाला कुफ्र का मत खा।
अनलहक्क नाम बरहक्क है, यही कलमा सुनाता जा ॥७॥

गुरू नानक देव जी कहते हैं:—

एको सुमरो नानका, जल थल रह्यो समाय।
दूजा काहे सुमरिये, जम्मे ते मर जाय॥
मन मन्दिर तन भेष कलन्दर, घट ही तीर्थ नावाँ।
एक शब्द मेरे प्राण बसे, बहुर जन्म नहिं आवाँ॥
नौ निधि अमृत प्रभु का नाम। देहि में वाका विश्राम॥
जैसे जल में कमल निरालं, मुर्गाबी नैशाने।
शब्द सुरत भवसागर तरिये, नानक नाम बखाने॥

उठत, बैठत, सोवत, जागत नाम।
कहे नानक सद् भये तिन्ह के काम॥

जिस नाम को जानने व जपने के लिए गुरू धारण किया जाता है, उस नाम को जाने बिना मन-मर्ज़ी से जपे हुये नामों से कोई लाभ नहीं होता। केवल परिश्रम ही करना पड़ता है यदि चाहे जिस नाम को स्मरण करना होता तो किसी को भी गुरू धारण करने की ज़रूरत नहीं थी, और न ही सन्तों की महिमा का कोई अर्थ ही था। वेद मन्त्र में आया है:—

समाहितात्मनो ब्रह्मन्ब्रह्मणः परमेष्ठिनः ।
हृद्याकाशादिभून्नादो वृत्तिरोधाद् विभाव्यते ॥

संसार के रचयिता भगवान् ब्रह्मा के एकाग्रचित्त होने पर उनके हृदय आकाश में एक शब्द की ध्वनि हुई । जिसका अनुभव श्रवण इन्द्रिय की वृत्ति एकाग्र हो जाने पर हम लोग भी कर सकते हैं । उसी को वेदों का ज्ञाता ॐकार बिन्दु कहते हैं मगर वह नाद बिन्दु इन बाह्य कानों से सुनने या लिखने एवं बोलने का नहीं है । न ही कोई उसकी उत्पत्ति को जानता है । यही शब्द स्वयं प्रकाशमान होने से, आदि अन्त रहित लिंग कहलाता है । यही शब्द सभी वेद शास्त्रों का सनातन बीज, परमात्मा कहलाता है । जब मनुष्य इस अन्दर के शब्द को अन्तर में ही सुनने लगता है, तभी वह भक्त कहलाता है । इसी शब्द को सन्तों ने नाम, सत्य-नाम, अखण्ड-नाम, पावन-नाम, अमृत-नाम, ॐ-नाम,, हक्क-नाम, सत्-नाम, गैवी-आवाज़ *Secret, Golden or Holy-name* या महा-मन्त्र करके गाया है । इसी को सुरति से स्मरण करना कीर्तन-भजन बताया है ।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । पदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येत् ॥

वैवस्वत ने कहा है—हे नचिकेता ! सारे वेद जिस पद की व्याख्या करते हैं, ऋषि, मुनि और तपस्वी जिसका वर्णन करते हैं, यति लोग जिस पद की चाहना से ब्रह्मचर्य को धारण

करते हैं वही पद तेरे लिए संक्षेप से कहता हूँ, वह केवल एक हरि का नाम है। (कठो० अ० १-२-१५)।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

निश्चय ही हरि नाम के दो अक्षर ब्रह्म हैं। इन्हीं दो अक्षरों को शब्द-ब्रह्म कहा गया है। जो जन हरि नाम के इन दो अक्षरों को जानकर जो कुछ भी चाहता है, उसे वही मिल जाता है। इसी से हरि भक्तों की सब कामनायें पूरी हो जाती हैं। (कठो० २-१६)

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

इस नाम का सहारा ही सबसे उत्तम है। इस नाम का अवलम्बन ही सबसे महान् है। हरि नाम के आश्रित हो जाना ही परमात्मा की प्राप्ति का अमोघ साधन है। इस रहस्य को समझ कर जो साधक श्रद्धा और प्रेम पूर्वक इस नाम पर निर्भर रहता है। वही मनुष्य इस लोक और ब्रह्म-लोक में महिमा पाता है।

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा-ह्येषः। तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवत्येतमु एवान्ततोऽविदित्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति॥ (छा० १-२-६)

मनुष्य इस प्राण से अथवा मुख्यस्थ प्राण-शक्ति से सुगन्ध और दुर्गन्ध को नहीं जानता। वह प्राण निर्विषय है। इसी

कारण यह प्राण निश्चय ही पाप रहित है। मनुष्य इस प्राण की सहायता से जो कुछ खाता-पीता है, वह खान-पान से यह प्राण दूसरे प्राणों को तथा इन्द्रियों को रक्षित करता है और दूसरे प्राणों को चलाता है। मगर मनुष्य अन्तकाल तक इस प्राण को न जानकर, न समझकर, नाना प्रकार के कष्ट भोगता है। जब यह प्राण देह से बाहर निकलता है, अर्थात् जब अन्तकाल में मरने लगता है, तो मुख फाड़ कर लम्बे-लम्बे स्वांस लेता है। मुख्य प्राण से नाम की उपासना न जानने वाला, प्राणों से अजपा जप का पाठ न करने वाला ही मुख फाड़ता है। पश्चाताप के लम्बे-लम्बे स्वांस लेता है।

तं हाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचक्रे ।
एतमु एवांगिरसं मन्यन्तेऽङ्गाना यद्रसः । (छा० १-२-१०)

अङ्गिरा नाम महर्षि उसी मुख्यस्थ प्राण से सूर्य उदय की उपासना किया करता था। इसीसे उसका कल्याण हो गया। इसी कारण तभी से ब्रह्म-ज्ञानी लोग इस प्राण को अङ्गिरा कहते हैं। क्योंकि यह प्राण अङ्गों का रस है, सब इन्द्रियों का सार रस है और अधिपति है।

अथर्ववेद के प्राण सूक्त में लिखा है (अथर्व० ११-४-२१)

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् । यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्यन श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेदत्कदाचन ॥ (अ० वे० ११-४-२१)

'हंस' नाम का प्राण है। स्वांस अन्दर जाता है तो स्वांस के साथ स्वतः ही 'स' की ध्वनी होती है और स्वांस के बाहर

आने में 'हं' की ध्वनी होती है। हं और स मिला कर 'हंस' शब्द बनता है उलटा होने से यही 'हंस' शब्द सोहं बनता है।

उलटा नाम जपा जग जाना। बाल्मीक भये ब्रह्म समाना॥
जानि आदि कवि नाम प्रतापू। भए सिद्ध उलटा कर जापू॥
सोहंऽस्मि इति वृत्ति अखण्डा। दीप सिखा सोई परम प्रचण्डा॥
आत्म अनुभव सुख सु प्रकाशा। तब भव मूल भेद भ्रम नाशा॥
प्रबल अविद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
तब सोइ बुद्धि पाइ उजियारा। उर गृह बैठि ग्रन्थ निरुवारा॥
खल कामादि निकट नहिं जाहि। बसै भक्ति जा के उर माहिं॥

सोहं शब्द की ध्वनी सभी प्राणियों के प्रति स्वांस में होती रहती है। इसी को अजपा कहते हैं। इसका मानसिक ध्यान करने में मन शीघ्र ही शांत एवं एकाग्र हो जाता है और सहजसमाधि लग जाती है। इसीको प्रणव योग या ॐकार मन्त्र कहते हैं। ॐकार अर्थ है, सर्वव्यापक, सर्वाधार, सर्वनियन्ता और सर्व पालन पोषण करने वाला। 'हंस' नाम ही सब में व्यापक है इसी से सब प्राणी जिन्दगी को प्राप्त हो रहे हैं। इसीलिए यही सब का आधार है। इसीके अन्दर होने से हम लोग मिल कर बैठते हैं। सबका नियन्त्रण करने वाला भी यही है। स्वांस के साथ 'स' कार और 'हं' कार का श्रवण करने से प्राण उपासना होने लगती है। इसी को आत्म-चिन्तन कहते हैं। यही 'हंस' सबका मूल कारण है। प्राणी के मरने पर यही कहने में आता है कि 'हंस' उड़ गया। मानस-रामचरित्र—मानस का अर्थ मानसरोवर, में 'हंस' निवास करते हैं। हमारे मानस (हृदय) में भी 'हंस' निवास करता है।

सारी रामायण 'हंस' की ही गाथा है।

राम करूँ केहि भाँति प्रशंसा। जे महेश मन मानस हंसा॥

परशुराम जी कहते हैं, हे राम! मैं तुम्हारी किस प्रकार प्रशंसा कर सकता हूँ? तुम शिव के हृदय रूपी मानसरोवर के हंस हो। तुम्हारी सदा जय हो।

जो स्वरूप बस शिव मन माहीं। जेहि लागि मुनि यतन कराहिं॥
सो भुशुण्डि मन मानस 'हंसा'। अगम निगम पुराण प्रशंसा॥

जो स्वरूप शिवजी के हृदय में निवास करता है और जिसको पाने के लिए मुनि लोग अनेक प्रकार का यत्न करते हैं। वही काकभुशुण्डि जी के हृदय में 'हंस' रूप से निवास करता है। वेद-शास्त्र और पुराण इसी 'हंस' नाम की महिमा गा रहे हैं।

स्वाँसों की कर स्मरणी, अजपा को कर जाप।
ब्रह्म तत्त्व को सार है, सोहं आप ही आप॥ कबीर

नानक सोहं सारा। सन्तन का आधारा॥

सोहं जाप जपो रे भाई। मिट जाये मन दर्पन की काई॥
स्वाँस स्वाँस स्मरो गोविन्द। मन मन्त्र की उतरे चन्द॥
'सहजो' सहज ही स्वाँसा तीर्थ, जो कोई जाने नहाय।
पाप पुण्य दोनों छूटें, हरि पद पहुँचे जाय॥

सोहं शब्द विचारो साधो, सोहं शब्द विचारो रे।
माला कर से फिरत नहीं है, जीभ न वर्ण उचारो रे॥
अजपा जाप होत घट मांहीं, ताकी ओर निहारो रे॥ १॥
'हं' अक्षर से स्वाँस उठाओ, 'सो' से जाय बिठारो रे।
'हंसो' उलट होत है सोहं, योगी जन निरधारो रे॥ २॥

सब इकीस हज़ार मिला कर, छः सौ होत सुमारो रे ।
ऊठत-बैठत, सोवत-जागत, मन में जपो सुखारो रे ॥ ३॥
जो जन चिन्तन करे निरन्तर, छोड़ जगत व्यवहारो रे ।
ब्रह्मानन्द परम पद पावे, मिटे जन्म संसारो रे ॥ ४ ॥

निरंजन माला घट में फिरे दिन रात ।
ऊपर जावे, नीचे आवे स्वाँस स्वाँस चल जात ॥
संसारी नर समझे नाहीं, वृथा उमर विहात ॥
सोहं मन्त्र जपे नित प्राणी, बिन जिह्वा बिन दाँत ।
अष्ट पहर में सोवत जागत, कबहूँ न पलक रुकात ॥
हंसा-सोहं, सोहं-हंसा, बार बार उलटात ।
सद्गुरु पूरा भेद बतावै, निश्चल मन ठैरात ॥
जो योगी जन ध्यान लगावे, बैठ सदा प्रभात ।
ब्रह्मानन्द मोक्ष पद पावे, फेर जन्म नहिं आत ॥

तेन तं ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासँचक्र । एतमु एव बृहस्पतिर्मन्यते, वाग् हि बृहती, तस्या एष पतिः ॥ (छा० १-२-१२)

उसी साधन से, उस मुख्य प्राण द्वारा बृहस्पति महर्षि, नाम की उपासना करता था । तभी से इस प्राण को ही ब्रह्मज्ञानी, बृहस्पति मानते हैं । क्योंकि परा वाणी ही बड़ी है और उस मुख्यस्थ वाणी का यह प्राण, पति है । यह मुख्यस्थ प्राण द्वारा जपा और बोला जाता है ।

तेन तं हायास्य उद्गीथमुपासाँचक्रे । एतमु एवायास्यं मन्यन्ते. आस्याद्यदयते । (छा० १-२-१२)

उसी साधन से, उस मुख्य प्राण द्वारा, आयास्य मुनि ने नाम की उपासना की। तब से इस प्राण को ही, उपासक जन, आयास्य मानते हैं, क्योंकि यह प्राण मुख्य माना जाता है।

तेन तं ह बको दालभ्यो विदाँचकार। स ह नैमिषीयानामुद्गाता वभूव। सहस्मैभ्यः कामानागायति।।

उसी साधन से जप, पाठ तथा स्मरण से, उस नामोपासना को दालभ्य मुनि के पुत्र बक महात्मा ने जाना, उसने नाम आराधना की, उसके प्रताप से वह नेमिषारण्य निवासी जनों का उद्गाता हो गया। साम-गीतों द्वारा, यह नाम को उनके मनोरथों के लिए गाया करता था। (छा० १–१३)

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।

But by unparallel devotion to me alone, I am in this way viewed and known and even entered into O! Parantapa.

हे श्रेष्ठ तप वाले अर्जुन! अनन्य भक्ति करके तो, इस प्रकार चतुर्भुज रूप वाला मैं प्रत्यक्ष देखने के लिए और तत्त्व से जानने के लिए तथा प्रवेश करने के लिए अर्थात् एक ही भाव से प्राप्त होने के लिए भी शक्य हूँ। (गी० ११–५४)

शतं सहेस्रमतुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन्निविष्टम्।
यदस्यद्दनन्त्यामपश्यत एष तस्मातेद्वे वो रोचते एष एतत्।।

परमात्मा की शक्ति की गणना कौन कर सकता है। वह सबसे महान् शक्तिमान है। उसकी ज्योति से यह सारा जगत जगमगा रहा है। जो प्रभु का साक्षात् कर लेता है उसमें भी विलक्षण शक्तियों का उदय होने लगता। (अ० १०–८-२४)

पवित्र ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्य्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥

आनन्दमय परमात्मा रोम-रोम में व्याप रहा है उसका दर्शन करने से अलौकिक आनन्द मिलता है। किन्तु सच्चे प्रेम और तपस्या के बिना उसके दर्शन अशक्य हैं। जो तपस्या के द्वारा अपने शरीर तथा इन्द्रियवर्ग को वश में कर लेते हैं, वे उस आनन्द में खूब निमग्न होते हैं। (ऋ० ६–६३-१)

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन ।
चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णं संकल्पः ॥ (केन० ४–५)

अध्यात्म यही है कि चंचल मन को भगवान् के नाम में ठहराना, एकाग्र भाव से चिन्तन तथा ध्यान करना है। आत्म-ज्ञान का मार्ग, ब्रह्म-ज्ञान का पथ, स्मरण और बार-बार ध्यान करना है।

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ।
ब्राह्मी वाव त उपनिषदमब्रू मेति ॥

उपनिषद् का अर्थ है—आत्मा की समीपता, अथवा उपासना ब्रह्म-विद्या का रहस्य और आत्मा-परमात्मा के भेद को जानना। शिष्य के पूछने पर गुरू ने उत्तर दिया, कि तुझे उपनिषद् बता दिया है। ब्रह्म-सत्ता और ज्ञान का भेद तुझे बता दिया है। प्रिय स्वरूप परमात्मा की उपासना, नाम-स्मरण और ध्यान से ही होनी चाहिए, यह तुझे बता दिया है। यही उपनिषद् है। (केन० ४–७)

यो वा एतामेवं वेद, अपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे
लोके। ज्येये प्रतितिष्ठनि प्रतितिष्ठनि ॥ (केन० ४–९)

ब्रह्म-उपासना का फल वर्णन करता हुआ गुरु शिष्य से कहता है कि जो उपासक इस प्रकार ब्रह्म की उपासना करता है वह पाप से पार हो जाता है और मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥

जो मनुष्य बुद्धिमान् नहीं होता, जिसका मन वश में नहीं और जो सदा अपवित्र रहता है, वह उस पद—परम धाम को नहीं पाता। किन्तु संसार में ही रहता है, जन्म-मरन के चक्र में ही घूमा करता है। (कठो॰ ३-७)।

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुतो समनयतीति स समानो मनो ह वावयजमानः। इष्टफलमेवोदानः, स एनं यजमान-महरहब्रह्म गमयति॥

जो यह श्वास और प्रश्वास है (श्वास का भीतर आना जाना है) ये दो आहुतियां हैं। श्वास का गमनागमन देह को सम करता है, अन्न को पचाता है, इस कारण वह समान है और प्राणायाम में मन यजमान है। प्राण की स्थिरता से यह यज्ञ सिद्ध होता है। प्राणायाम का तथा ध्यान का इष्टफल समाधि ही उदान है। यह समाधि इस यजमान को प्रतिदिन ब्रह्म में ले जाती है। समाधि में मन ब्राह्मी अवस्था को प्राप्त हो जाया करता है। मन यहाँ आत्मा ही को कहा गया है (प्रश्नो॰ ४-४)

तिस्त्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता

अनविप्रयुक्ता क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः।

अध्यात्मवाद में नाम की तीन मात्राएँ वाचिक मानस और भावमय जाप है। भावमय जाप का नाम ही एकाग्रता है। नाम में वृत्ति का एकाकार हो जाना ही एकाग्रता है। ध्याता, ध्येय और ध्यान की समता भावमय जाप है। इस जाप में आत्मा स्थिर हो जाती है और अपर ब्रह्म, (नाम) से परब्रह्म (नामी) को प्राप्त कर लेता है। (प्रश्नो० ५-६)

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्ववेद:, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ (मुण्ड० १-५)

अलौकिक विद्या, ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम और अथर्ववेद तथा शिक्षा, शिल्प, व्याकरण, निरुकत, छन्द तथा ज्योतिष ग्रंथ भी अपरा विद्या हैं, और परा वह विद्या है जिससे वह अविनाशी आत्मा अथवा ब्रह्म जाना जाता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमे वैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तन्वाम्
(दूसरा मुण्ड० २-३)

भगवान् ग्रन्थों के पाठ से नहीं मिलता, न बुद्धि से और न बहुत कहने, सुनने अथवा पढ़ने से ही मिलता है। जिस पर भगवान् अनुग्रह करता है, वही भक्त उसे पाता है। ऐसे कृपा पात्र पुरुष पर यह परमात्मा अपने आप को प्रकट करता है तथा भक्त को भगवान् अपना तेजोमय स्वरूप दिखाता है।

सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि । आप्नोति स्वाराज्यम् । आप्नोति मनसस्पतिम् । वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपति-विज्ञानपतिः । एतत्ततोभवति । आकाशशरीरं ब्रह्म ।
सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम् । शांतिसमृद्धममृतम् । इति प्राचीन योग्योपास्स्व ।

ऊपर के पाठ में आत्मा के तीन स्थान वर्णन किये हैं—हृदय, कण्ठ तथा शीर्ष । जब उपासना द्वारा सुषुम्णा नाड़ी खुल जाती है, तब हृदय से आत्म-शक्ति जागकर मस्तक में जा विराजती है । इस प्रकार आत्म-शक्ति को जगाने का उपाय, उपासना है । महर्षि चवन महान्-तेजोमय-भगवान् की उपासना से आत्म-शक्ति को जगाया करते थे । उनके शिष्य-समुदाय में महा-वाक्य से उपासना की जाती थी । इससे वह महः ब्रह्म माने जाते हैं । (तैत्त० १-६-२)

एष आदेशः । एष उपदेशः । एषां वेदोपनिषत्ः एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमुचैतदुपाव्यम् ।

यह जो तुझे मैंने शिक्षा दी है, यही मेरी आज्ञा है, यही मेरा उपदेश है । यही वेद का सार तथा रहस्य है । यही वेद शास्त्रों की आज्ञा है, ऐसा ही तुझे करना चाहिए और इसी प्रकार यह उपदेश तुझे आचरण में बसाना चाहिए ।
(तैत्त० ११-६)

ओमित्येदक्षर मुद्गीथमुपासीतोमिति ह्यु्द्गायति, तस्योपव्याख्यानम् ॥

उपासना में नाम-जप, नाम-चिन्तन तथा नाम-ध्यान का बड़ा महात्म्य है प्राचीन काल के सन्त नाम को गाया करते थे। इस कारण भगवान् का नाम ऊँचे स्वर से गाया जाये, तो उसको उद्गीथ कहा जाता है। ओम् का अर्थ है, रक्षा करने वाला परमेश्वर। यही उद्गीथ है। (छा० १-१-१)

स एष रसनां रसतमः परमः परीर्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः॥

मनुष्य जन्म का सार भगवान् की स्तुति है। स्तुति का सार उसे संगीत में गाना है और साम संगीत का सार भगवान् के नाम को जपना तथा गाना है। भगवान् का नाम परम-सार है। परमेश्वर की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन होने से यह परमानन्द है और परम स्थान है। उपासना में नामोपासना परम उपासना है। (छा० १-१-३)

क्षरं प्रधानममृतारं हरः क्षरात्मनावीश्ते देव एकः तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावद् भूश्यचान्ते विस्वमायानिवृत्तिः॥

ईश्वर तीन हैं, परिणाम धर्म वाला अक्षर अर्थात् दृश्य जगत का उपादान कारण, अमृत, अविनाशी आत्म-तत्त्व और तीसरा पापों का हरण करने वाला हरि। इनमें एक देव ही, परमेश्वर की प्रकृति, जीवन और अध्यात्म-तत्त्व पर शासन करता है। बाकी दोनों का कारण ईश्वर है। उस एक भगवान् के चिन्तन से, योग से, उसमें चित्त-वृत्ति जोड़ने से अथवा बार-बार स्मरण वा जप से अन्त में सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति हो जाती है। अविद्या की निवृत्ति, भगवान् के

स्वरूप का चिन्तन, अथवा आराधना अथवा स्मरण रूप परा भक्ति से ही होती है।

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यांसद्देवँ पश्यन्निगूढ़वत् ।।

परम कल्याण का अभिलाषी उपासक अपने शरीर को नीचे की अरणि कल्पना करे और प्रणव को ऊपर की अरणि कल्पना करके ध्यान रूप निर्मथन अभ्यास के काष्ठ में प्रच्छन्न अग्निवत् परमेश्वर को देखे। मन लगा कर नाम-स्मरण से और ध्यान से भगवान् का दर्शन करे। (श्वेता० १-१४)

युक्तैन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्तया।

हम उपासक जन स्वर्ग के लिए—परमानन्द की प्राप्ति के लिए, परमेश्वर सविता के यज्ञ के ध्यान में पूरी शक्ति से और युक्त एकाग्र-मन से स्थित होवें। हमें सबके उत्पन्न कर्त्ता परमेश्वर की उपासना पूरे प्रयत्न और एकाग्र मन से करनी चाहिए। (श्वे०२-२)

हकारेण बहिर्यति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंस हंसेत्यमु मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ।।
षट् शतानि त्वहोरात्रे सहस्राण्ये कविंशति ।
एतत्संख्यान्वितं मत्रं जीवो जपति सर्वदा ।।

प्राणवायु सारूप को प्राप्त हो रहा है। चिदाभास जीव हकार करके स्वाधिष्ठान चक्र से उत्पन्न होता है और सकार करके मूलाधारादि चक्र में प्रवेश करता है, इस प्रकार 'हंस' मन्त्र (अजपा-गायत्री) का जाप जीव नित्य करता ही रहता है

अर्थात् श्वास बाहर निकालने में हकार और भीतर प्रवेश होने में सकार उच्चारण होता है। सूर्य के निकलने से छिपने तक ६० घड़ी में इस मन्त्र की जप-संख्या २१६०० होती है। इतना जप जीव स्वतः ही करता है।

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
यस्य संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति॥

हम योगियों को मोक्ष देने वाली अजपा नाम गायत्री है। इसके संकल्प मात्र से योगी लोग सब पापों से छूट जाते हैं। इस अजपा के समान जीव-ब्रह्म का अभेद कराने वाला और कोई भी मन्त्र नहीं है। यह अल्प श्रम में उत्तम फल देने वाला है। इसके समान और कोई भी जप नहीं है क्योंकि प्रातःकाल केवल संकल्प मात्र करना है तदुपरान्त खाते, पीते, चलते, बैठते, सोते सर्वदा सब अवस्थाओं में उक्त जाप आप से आप होता है और अद्वैतानुभव कराने वाला इसके समान अन्य कोई ज्ञान, शास्त्रों में पहले से भी नहीं था और आगे होने वाला भी नहीं है।

कुन्डलिन्यां सामुद्भूता गायत्री प्राण धारिणी।
प्राणविद्या महा विद्या यस्यां वेत्ति स वेदवित्॥

यह कुन्डलिनी महाशक्ति से उत्पन्न हो रही है तथा प्राण-वायु को धारण करने वाली यही अजपा गायत्री है। जीवात्मा की शक्ति प्राण-विद्या स्वरूप भी यही है। इसी कारण महा-विद्या या अध्यात्म-विद्या भी इसी को कहते हैं। इसे जो योगी पहचानता है वही योगाभ्यास तत्त्व को जानने वाला है।

हंकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
शट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकं विंशति ।।
अजपा नाम गायत्रीं जीवो जपति सर्वदा ।

श्वास पवन जब भीतर से बाहर आती है तब हं वर्ण बोला जाता है और जब श्वास भीतर को जाता है तब सः वर्ण बोला जाता है। ये दोनों वर्ण समूह इक्कीस हजार छः सौ दिन-रात में बोले (श्वांस लिए) जाते हैं। इन दोनों वर्णों का निदान वेद शास्त्रों ने इस तरह किया है, कि (हं) शिव (आनन्द) है और (सः) शक्ति है। इसी से इसको अजपा नाम की गायत्री कहते हैं और सभी जीव इसे सर्व काल में जपते हैं।

(घेरन्ड सं० श्लोक ८४)

साक्षी पूरण एकरस, सच्चिदानन्द स्वरूप ।
सोऽहं ब्रह्म परमात्मा, गुरू-ईश्वर श्रुति रूप ।।
जाकी महिमा नित भजे, वेद शारदा शेष ।
सोऽहं ब्रह्म परमात्मा, भेद भ्रम नहिं लेश ।। (शंकर्य त० ब०)
जो शब्द ब्रह्म को सुरत लगाय टटोले। ओ सोऽहं सोहं सोहं बोले ।।
धड़ पवन पै तीनों लोक में हंसा डोले ।
छवों चक्रवेधे दशमद्वार को खोले ।।
इस देश में हंसा, परमहंस बन जावे ।
फिर उसको पूर्ण ब्रह्म साफ दिखलावे ।।

अभ्यासानन्तरं कुर्याद्गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्नपि ।
चिन्तनं हंसमन्त्रस्य योगसिद्धिकरं परम् ।।

योगाभ्यासकाल में चलते फिरते, सोते, जागते सब समय में योगी को 'हंस' मन्त्र का जाप करना चाहिये। इससे योग

सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है । मनुष्य और पशु-पक्षियों के शरीरों में श्वास-प्रश्वास की गति है, उसी से प्राण चलते हैं । वह हं करके बाहर निकलता है और सः करके अन्दर प्रवेश करता है ।

हंसोहंसोहमित्येवं पुनरावर्त्तनक्रमात् ।
सोहंसोहं भवेन्नूनमिति योगविदो विदुः ।

इस तरह हंसो-हंसो शब्द के बार-बार फेरते रहने से उलट कर सोहं-सोहं हो जाता है । इस योग को जानने वाले, योगी लोग ही इसे जानते हैं । यही अजपा नाम की गायत्री है । इसका बिना जप किये ही अपने आप ही जप होता रहता है पहिले-पहल महादेव जी ने पार्वती के प्रति सब सिद्धियों के देने वाली इस अजपा नाम गायत्री का उपदेश किया था ।

अस्याश्चिन्तनतो नित्यं सर्वदुष्कृतराषयः ।
योगिनां नाशमायांति तृणभारा यथाग्निना ॥

इस अजपा गायत्री का रोज़ चिन्तन करने से योगो के जन्म जन्मान्तरों के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं । जैसे अग्नि लगने से घास के बोझ जल कर राख बन जाते हैं, वैसे नाम जप से सभी पाप भस्म हो जाते हैं । जब अजपा का बहुत अभ्यास बढ़ जाता है, तो मन अन्दर ही लीन हो जाता है । मन के लीन होने पर प्राण की गति भी क्षीण हो जाती है । तभी योग निद्रा पैदा होती है ।

नित्यमंतर्मुखत्वेन परमानन्दमात्मनः ।
अनुभूयचिरं योगी कैवल्यपदमश्नुते ॥

इसके अभ्यास करने से सदा अन्तर्मुख वृत्ति हो जाती है और योगी आत्मा के परम-आनन्द का अनुभव करने के पीछे अन्तकाल में परम पद 'कैवल्य' मोक्ष पाता है।

हे सोमे ! पुराने अनादि काल से चले आये प्राण जीवन रूप में रहता हुआ तू पवित्र करने हारे प्राण और अपान या परम पावन ज्ञान के द्वारा ही पवित्र किया जाता है। 'सोहं' शब्द का नाद करता हुआ इन्द्रिय-गण को प्रकट करता है।

(ऋ० ६-३-६-६-४२-२-६-४२-२०)

श्वासनिष्कासकालेहि हकारं परीकीर्त्यते।
पुनः प्रवेश काले च सकारः प्रोच्यते बुधैः ॥

जब श्वास बाहर निकले तब हकार शब्द उच्चारण करे और जब श्वास भीतर को जावे तब सकार उच्चरण करे।

प्रातरुत्थाय मेधावी संकल्पविधिपूर्वकम्।
गुरुपदेशतो योगी मंत्रयोगं समाचरेत् ॥

बुद्धिमान प्रातःकाल उठ कर के अपने गुरू के उपदेश अनुसार विधि पूर्वक संकल्प कर के जो मंत्र योग है, उसका सम्यक् प्रकार से आचरण करे। इसी प्रकार रात-दिन जप करे, अर्थात् स्मरण करता हुआ अभ्यास नहीं छोड़े। ये जप खेचरी पलट के कथन किया जाता है।

गणेशं च विधिविष्णु शिवं जीवं तथैवच ।
स्वामिनं सच्चिदानन्दं क्रमाचक्रेषु चिंतयेत् ॥

गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, जीव गुरु और सच्चिदानन्द ब्रह्मा का क्रम से चक्रों में ध्यान करना चाहिये। मूलाधार में

गणेश का वास है, सो ६०० जप गणेश जी के, दूसरा स्वाधिष्ठान नाम का चक्र है, उसमें ब्रह्मा विराजमान है, सो ६००० जप ब्रह्मा के, तीसरे मणिपूरक नामक चक्र में साक्षात् विष्णु विराजमान हैं, सो ६००० जप विष्णु के, चौथा चक्र अनाहत है उस में शिव विराजमान हैं, सो ६००० जप शिव के, पाँचवां विशुद्ध नामक चक्र है, उस में जीव विराजमान है, सो १००० जप जीव आत्मा के अर्थ, छठवां आज्ञाचक्र है, उस में गुरु विराजमान हैं, अथवा सबसे परे जो आकाश है, उस में गुरु विराजमान हैं, उसके अन्दर सच्चिदानन्द साक्षात् बसते हैं, सो १००० जप गुरुजी के नाम और १००० परमात्मा जो ब्रह्म है, तिन के नाम नित्य-प्रति समर्पण करना चाहिये। ये संख्या २१६०० जाप नित्य होते हैं। सोई संख्या मोक्ष करने वाली है। जिस काल में साधक मनुष्य के स्वभाव से ही सोहं शब्द सुषुम्ना (ब्रह्म-नाड़ी) से उत्पन्न हो जायेगा, उस काल में योगी सब कर्मों से छुटकारा पाकर जीवन-मुक्त हो जायेगा। तब उसे कोई इच्छा न रहेगी और अपने में ही ब्रह्म का दर्शन हो जायेगा।

पहिले चक्र का नाम मूलाधार पद्म है। यह पद्म गुदा के ऊपर लिंग मूल के नीचे सुषुम्ना के मुख में संलग्न है अर्थात् कन्द और सुषुम्ना के सन्धिस्थल में इसकी स्थिति है। इसमें रक्तवर्ण चतुर्दल है, इस पद्म की कर्णिका अधोमुख है।

उज्जवल सुवर्ण की तरह इसकी दीप्ति है। उसमें वं, शं, सं, षं, ये चार वेद-वर्ण हैं। इस पद्म की कर्णिका में चतुष्कोण पृथ्वी-मंडल है, जो दीप्त वर्ण विद्युतांग कोमल और अष्ट मूल के द्वारा आवृत है। इस पृथ्वी मंडल के बीच में लं बीज

विद्यमान है। मूलाधार पद्म की डाकिनी नाम की देवी का स्थान है, जो उज्जवल चतुर्हस्त सम्पन्ना रक्त नेत्रा एक लीन उदित अनेक सूर्य तुल्य प्रकाशमान तत्त्व-ज्ञान को प्रकाशित करने वाली है। द्वितीय स्वाधिष्ठान चक्र लिंग मूल में व्यवस्थित है। बं, भं, मं, यं, रं और लं ये छः वर्ण उसके छः दल प्रतिष्ठित हैं। इसका वर्ण रक्त है, उसमें बालाख्य सिद्धि को स्थिति है। इस चक्र की अधिष्ठात्री देवी का नाम राकिणी है जो साधक इसका ध्यान करता है, वह ऐसे शास्त्रों की पूर्ण व्याख्या करने में समर्थ हो जाता है, जिनको उसने कभी भी श्रवण नहीं किया था। तृतीय मणिपूरक चक्र नाभि मूल में है—डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, और फं, ये दश सुवर्णमय वर्ण जिस के दलों पर शोभायमान हैं। जहाँ पर रुद्राक्ष सिद्ध लिंग सब प्रकार के मंगलों को दान कर रहे हैं। जहाँ पर धार्मिक लाकिनी देवी विराजमान है। चतुर्थ अनाहत चक्र हृदय में स्थित है। कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, और ठं, ये द्वादश वर्णयुक्त अति रक्तवर्ण दल हैं। यह हृदय का अति प्रसन्न स्थान है। वहाँ यं वायु-बीज स्थित है।

इस अनाहत पद्म में अति तेजस्वी रक्त वर्ण वाण-लिंग का अधिष्ठान है और पिनाकी नामक सिद्ध-लिंग और काकानी नामक अधिष्ठात्री देवी यहाँ स्थित है। हृत्पपद्म के बीच में जो इस चक्र का ध्यान करता है, देवाङ्गनायें सदा उसकी सेवा करने में तत्पर रहती हैं।

पंचम विशुद्ध चक्र कण्ठ में स्थित है। उसका वर्ण सुन्दर सुवर्ण की तरह है। उसमें अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं,

लृं, लॄं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, और अः ये षोड़श वर्ण सुशोभित है इस पद्म में छगलाण्ड नामक सिद्धि और शाकिनी नाम की देवी स्थित है। जो मनुष्य इस चक्र का नित्य ध्यान करता है, वह इस संसार में पंडित और योगेश्वर कहलाता है।

छठवाँ आज्ञा चक्र दोनों भवों के मध्य में स्थित है, वह शुभ्र वर्ण है। हं, क्षं, युक्त ये उसके दो दल हैं। शुक्ल नामक महाकाल इस पद्म के सिद्ध लिंग और हाकिनी नाम्नी महाशक्ति इस चक्र की अधिष्ठात्री देवी हैं। इस पद्म में शरद्-काल के चन्द्रमा की तरह निर्मल अक्षर ठं. बीज प्रकाशित है। जिसके साधन से परमहंस पुरुष कभी बेचैनी को प्राप्त नहीं होता। आज्ञा-चक्र का माहात्म्य तत्त्व-दर्शी ऋषियों ने शास्त्रों में बहुत प्रकार से वर्णन किया है। जो मनुष्य आज्ञा चक्र में धारणा पूर्वक मन स्थापन का अभ्यास करते हैं, वे अपने सब वासना-बन्धनों को छिन्न-भिन्न करके परमानन्द को प्राप्त होते हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध चक्रों के ध्यान में जो पृथक-पृथक फल शास्त्रों में वर्णित हैं, वे सब केवल आज्ञाचक्र के ध्यान से प्राप्त होते हैं, अतएव यही चक्र सर्वश्रेष्ठ है। भगवान् श्री कृष्ण जी कहते हैं :

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥

(गी० १०-२५)

Amongst the great rishis I am Bhrigu amongst speach I am the one imperishable syllable, of sacrifices I am the recollection of

Name and amongst immovable objects I am the Himalaya (Gita 10-25)

हे अर्जुन ! मैं महर्षियों में भृगु और वचनों में एक अक्षर हूँ तथा सब प्रकार के यज्ञों में जप-यज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय पहाड़ हूँ ।

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थित: ।
सावित्रीमप्यधीयति गत्वारण्यं समाहित: ॥
(मनु० अध्याय २-१०४)

एकान्त जंगल में सावधान होके जल के समीप बैठकर नित्य कर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री मन्त्र का उच्चारण करे और उसके अर्थ ज्ञान अनुसार अपना चाल चलन बनावे परन्तु यह जप सर्वदा मन से ही करना चाहिए ।

एकाक्षरं परंब्रह्म प्राणायाम परंतप: ।
सावित्र्यास्तु पर नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥
(मनु० २-८३)

क्षरन्तिसर्वा वैदिक्यो जुहोतियजति क्रिया: ।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापति: ॥
(मनु० २-८४)

यही एक अक्षर परब्रह्म का वाचक है और प्रणायाम ही सबसे बड़ा तप है । गायत्री से श्रेष्ठ कोई मन्त्र नहीं । मौन से सत्य भाषण ही श्रेष्ठ है ॥२-८३॥ सम्पूर्ण वेद विहित क्रिया अर्थात् यज्ञ-यज्ञादि नाशवान हैं परन्तु कठिनता से जानने योग्य प्रजापति ब्रह्म का प्रतिपादक एक अक्षर अविनाशी है ॥२-८४॥

विधियज्ञाजपयज्ञोविशिष्टोदशभिर्गुणैः ।
उपांशुःस्याच्छतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः ॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम ॥

विधि-यज्ञ से जप-यज्ञ दश गुना अधिक फलदायक है। यदि दूसरों के सुनने में न आवे सो ऐसा जप सौ गुना अधिक फल वाला है और केवल मन से जो जप किया जावे वह सहस्र गुना अधिक फलदायक कहा है। चार प्रकार के यज्ञ और भी हैं (वैश्य वेद १, बलिकर्म २, नित्यश्राद्ध ३, अतिथि भोजन ४)। पर यह सभी यज्ञ जप-यज्ञ के षोडष भाग को नहीं पाते अर्थात् जप-यज्ञ सब यज्ञों से श्रेष्ठ है। (मनु० अ० २-८५,८६)

जप्येनैव तु संसिद्धयेद् ब्रह्माणे नात्रसंशयः ।
कुर्यदन्यन्नवा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥

ब्राह्मण जप-यज्ञ करने से ही सिद्धि को प्राप्त होता है (अर्थात् मोक्ष प्राप्त होने के योग्य है) और अन्य कुछ यज्ञादि कर्म करे या न करे, यही मन्त्र सर्व प्रिय कहा है। इसमें संशय नहीं है। (मनु० अ० २-८७)

अथ स्वरंप्रवक्ष्यामिशरीरस्थस्वरोदयम् ।
हंसचारस्वरूपेणभवेज्ज्ञानं त्रिकालजम् ॥

अब शरीर के विषय स्थित आकार आदि जो उत्पति है, उन को कहता हूँ। जिनके ज्ञान में हमें भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों का ज्ञान होता है।

हकारोनिर्गमेप्रोक्तः सकारेणप्रवेशनम् ।
हकारःशिवरूपेण सकारः सक्तिरुच्यते ॥

श्वास के निकलने में हकार और प्रवेश करने में सकार कहा है। हकार शिव रूप और सकार शक्ति-रूप है।

हकारस्य सकारस्य बिनाभेदंस्वरःकथम् ।
सोहं हंसपदेनैव जीवो जपति सर्वदा ॥

हकार और सकार के भेद बिना स्वर-ज्ञान नहीं हो सकता; जीव (सोहं, हंस) इन दो पदों से ही सर्वदा जय को प्राप्त होता है। (शिव-स्वरोदय)

—: नाम आराधना :—

उत्तम नाम अनाम का, सोहं है सुख सार।
जिस सुमरे बहुजन तरे, भव-सागर से पार ॥१॥

प्रति-दिन नाम आराधिये, वृत्ति मन वच लाय ।
रसना में सब रस बसें, जिस पै नाम जपाय ॥२॥

महति महिमा नाम की, मुनि-जन पायें न पार।
ज्ञानी ध्यानी संयमी, वर्णन कर गए हार ॥३॥

सहजे उपजे जो धुनि, जपते-जपते नाम।
वही अनहद नाद है, हो क्रमशः अभिराम ॥४॥

सबसे ऊँचा नाद जो, उसमें गूंजे राम।
स्वयम्भू सोहं स्वयं है, परम-शान्त वह धाम ॥५॥

सत्य-नाम ही नाम है, वह सन्तन मन भाव ।
अनुभव-गम्य की वारता, सकल संशयाभाव ॥६॥

आकुल तरल तरंग से, संसृति सिन्धु अगाध ।
नाम जहाज में रूढ़ हो, पावे पार अगाध ॥७॥
शान्त भाव मे सुमरिए, चाहे नाम इक बार ।
घास पात सब पाप के, होवें भस्म अंबार ॥८॥
बड़े पाप के पुञ्ज में, हो चाहे मेरो मान ।
एक चिंगारी नाम की, कर दे राख समान ॥९॥
अन्त-काल जो जन जपे, जन्म जीत वह जाय ।
वेद-गम का मर्म है, जो समझे मन लाय ॥१०॥
यह तन चाम की मसक है, भरे नाम की फूँक ।
पाप नदी इस से तरे किंचित जाये न चूक ॥११॥
नाम-धाम दो एक हैं, नामी-नाम भी एक ।
वाचक-वाच्य अभेद है, यही नाम की टेक ॥१२॥
साधु सिमरो नाम को, यही पते की बात ।
सुगम आराधना योग यह, नहीं विघ्न उत्पात ॥१३॥
नाम भजन बिना योग जो, यह निरा है रोग ।
खप-खप मरना दुःख है, समझो कर्म का भोग ॥१४॥
सन्तों ने समझा मर्म, नाम को माना धाम ।
अलख निरंजन को कहा, नारायण वह राम ॥१५॥
ढूँढ कर पकड़ा नाम को, जीभ होंठ के बीच ।
अजपा-जप होवे स्वयं, धोवे मानस कीच ॥१६॥
आप ही रसना जप करे, मन में माने मोद ।
वृत्ति वश होवे तभी, हो संकल्प निरोध ॥१७॥
दीन-दयालु देव जी, तू भक्तों का मान ।
अपने जन को दीजिए, अपना नाम सुदान ॥१८॥

अपने जन का है तू ही, आन बान धन ज्ञान ।
अपने नाम के ज्ञान से, पत रखिए भगवान् ॥१९॥
अपने को अपनाय कर, अपनी गोद में लेउ ।
नाम-अनामी नाथ जी, अपने आप ही होउ ॥२०॥
आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह ।
परसत ही कंचन भया, छूटा बन्धन मोह ॥२१॥
आदि नाम निज मूल है, और मन्त्र सब डार ।
कहे कबीर निज नाम बिन, बूढ़ मुआ संसार ॥२२॥
कोटि नाम संसार में, ताते मुक्ति न होय ।
आदि नाम जो गुप्त जप, बूझै बिरला कोय ॥२३॥
राम-राम सब कोई कहे, नाम न चीन्हे कोय ।
नाम चीन्हे सद्गुरु मिले, नाम कहावे सोय ॥२४॥
ओंकार निश्चय भया, सो करता मत जान ।
साँचा 'शब्द' गुरुदेव का, परदे में पहिचान ॥२५॥
जो जन होइ हैं जौहरी, रतन लेहि बिलगाय ।
सोहं-सोहं जप मुआ, मिथ्या जनम गँवाय ॥२६॥
सभी रसायन हम करे, नहीं नाम सम कोय ।
रंचक घट में सँचरे, सब तन कंचन होय ॥२७॥
जबहि नाम हिरदे धरा, भयो पाप का नाश ।
मानो चिंगी आग को, परी पुरानी घास ॥२८॥
कोई न यम से बचिया, नाम बिना धरि खाय ।
जो जन बिरही नाम के, ता को देखि डराय ॥२९॥
पूँजी मेरी नाम है जाते सदा निहाल ।
कबीर गरजे पुरुष बल, चोरी करे न काल ॥३०॥

ज्ञान-दीप प्रकाश करि, भीतर भवन जगाय।
सुमिर तहां सत् नाम को, सहज समाधि लगाय ॥३१॥
एक नाम को जान कर, दूजा देय बहाय।
तीर्थ व्रत जप तप नहीं, सद्गुरु चरण समाय ॥३२॥
जैसे फनपति मन्त्र सुनि, राखे फनहि सिकोरि।
तैसे बीरा नाम ते, काल रहे मुख मोरि ॥३३॥
सब को नाम सुनाव हूँ, जो आवेगा पास।
शब्द हमारो सत्य है, दृढ़ राखो विश्वास ॥३४॥
सुरति समावे नाम में, जग से रहे उदास।
कहैं कबीर गुरू चरण में, दृढ़ राखो विश्वास ॥३५॥
आशा तो इक नाम की, दूजी आस निराश।
पानी माँहि घर करे, तौहू मरे प्यास ॥३६॥
नाम जो रत्ती एक है, पाप जो रत्ती हजार।
आध रत्ती घट सँचरे, जारि करे सब छार ॥३७॥
कोटि कर्म कटें पलक में, जो रंचक आवे नाम।
जुग अनेक जो पुण्य करे, नहीं नाम बिन ठाँव ॥३८॥
सत्तनाम निज औषधी, सद्गुरु दई बताय।
औषधि खाय अरु पथ रहे, ताकी वेदना जाय ॥३९॥
कबीर सद्गुरु नाम में, बात चलावे और।
तिस अपराधी जीव को, तीन लोक कित ठौर ॥४०॥
सुपने हूँ बर्राय के, धोखेहू निकसे नाम।
वा के पग की पाँवरी, मोरे तन को चाम ॥४१॥
नाम जपत कुष्टी भला, चुइ-चुइ परे जो चाम।
कंचन देह केहि काम की, जा मुख नाहीं नाम ॥४२॥

नाम लिया तिन सब लिया, सकल वेद का भेद ।
बिना नाम नरके पड़ा, पढ़ता चारों वेद ॥४३॥
पारस रूपी नाम है, लोहा रूपी जीव ।
जब जिव पारस भेंटि है, तब जिव होसी सीव ॥४४॥
सुख के माथे सिल परे, जो नाम हृदय से जाय ।
बलिहारी वा दुःख को, पल-पल नाम रटाय ॥ ४५ ॥
लेने को सत्नाम है, देने को अन्न दान ।
तरने को आधीनता, डूबन को अभिमान ॥४६॥
जैसे माया मन रम्यो, तैसे नाम रमाय ।
तारा मंडल छाँड़ि के, तब अमरा पुर जाय ॥४७॥
नाम पीव का छाँडि के, करे आन का जाप ।
वेश्या केरा पूत ज्यों, कहे कौन को बाप ॥४८॥
लूटि सके तो लूट ले, सत्नाम की लूट ।
पीछे फिर पछताओगे, प्राण जाहिं जब छूट ॥४९॥
स्वाँस सुफल सो जानिये, हरि सुमिरन में जाय ।
और स्वाँस यों ही गये, करि करि बहुत उपाय ॥५०॥
कहा भरोसा देह का, विनशि जाये छिन माहिं ।
स्वाँस स्वाँस सुमिरन करो, और जतन कछु नाहिं ॥५१॥
अजपा सुमिरन घट विषे, दीन्हा सृजन हार ।
ताहि से मन लग रहा, कहै कबीर विचार ॥५२॥
माला स्वाँसो-स्वाँस की, फेरे कोई निज दास ।
चौरासी भ्रमे नहीं, कटे कर्म की फाँस ॥५३॥
स्वाँस-स्वाँस हरि-नाम सुमर, वृथा स्वाँस मत खोय ।
क्या जाने इस स्वाँस का, आवन होय ना होय ॥५४॥

ऐसा सुमिरन कीजिये, सहज रहे लौ लाय।
बिनु जिह्वा बिनु तालुवे, अन्तर सुरत लगाय ।।५५।।
हंसा-सोहं तार कर, सुरति मकरिया पोय।
उतरि-उतरि फिर-फिर चढ़े, सहजे सुमिरन होय ।। कबीर

नाम मन्त्र सब से अधिकाई, या की महिमा कही न जाई ।।
नाम मन्त्र दीक्षित जो होई, ताको और मंत्र नहिं कोई ।।
नाम की उपमा नाम सयानी, गुप्त भेद तोहि कहों बखानी ।।
राम नाम आशंश ते, तीन सिद्धि प्रगटाय।
'सोहं' बीज सुहावनो, ओंकार सुखदाय ।।

राम नाम को कीन्हे ध्याना, सृष्टि ध्यान हुइ जात सुजाना ।।
राम नाम तजि अन्ते धावै, स्वपनेहु सो सुख सुगति न पावै ।।
अष्ट पहर नाम जो उचारै, शुभ और अशुभ काम सब जारै ।।
याही को चेतन कहत, आनन्द कृत आनन्द।
नाम सच्चिदानन्द है, ताहि ते सुख-कन्द ।।

सप्त कोटि जे मन्त्र कहाये, राम नाम समता नहिं पाये ।।
राम नाम जो जपे निरन्तर, चार पदार्थ नित तिन के कर ।।
गगन मौली में बसत रकारा, त्रिकुटि माहिं अकार विचारा ।।
जिह्वा वास मकार सुहायो, निज-निज थल उच्चार कहायो ।।
योगी अर्थ रकारहिं ध्याना, अरु अकार ज्ञानिन मन माना ।।
पूरण नाम जपै हरि दासा, भुक्ति-मुक्ति की धरत न आशा ।।
ते सब सिद्धि शीघ्र हो जाहीं, राम नाम सुमरे मन माहिं ।।
संयम-नियम विचार कर, जपे निरन्तर नाम।
ध्यान धरत हो जाय सो, हरि को रूप ललाम ।।

भाव-कुभाव सहित जपु प्राणी, अवश्य होय भव बंधन हाणी ।
प्रेम सहित जो जपे सुहावन, का आश्चर्य होत ते पावन ।।

मन्त्र जाप सद्गुरू से, जपे सहित विश्वास ।
काम क्रोध लोभादि सब, त्यागे भोग विलास ।।

ताते निगमा-गम अस गावा, कलि भव सिन्धु नाम दृढ़ नावा ।
नाम प्रताप सबहिं युग व्यापा, नाम जपे नहीं कोऊ संतापा ।।

जे नास्तिक अहमिति भरे, निन्दहिं वेद पुरान ।
तिन को मत उपदेशिये, यह रहस्य सुखदान ।।

अजपा–जप की संख्या इक्कीस सहस्त्र छः सौ नियत की गई है । विचार करने से यह सब कुछ सहज है । मुख और नासिका में प्राण रहकर अखण्ड रूप से आता जाता रहता है । इसका विचार सूक्ष्म दृष्टि से करना चाहिए । पहले तो देखने से यही मालूम होता है कि स्वर एक है । पर वास्तव में उस स्वर के तीन भेद हैं, (१) तीव्र—निषाद (२) मन्द—मध्यम (३) घोर–खर्ज । अब इस घोर से भी सूक्ष्म विचार इस अजपा का है । सा–रे–गा–मा–पा–धा–नि, इन सारे अक्षरों को कह कर देखो–इन सप्त स्वरों में से किसी एक को मूल मान कर क्रमशः ऊपर को चलो । परा वाचा के ऊपर और पश्यन्ती के नीचे अर्थात् नाभी और हृदय के बीच में—स्वर का जन्म स्थान है । वहीं से इसका 'उल्लेख' या (स्फुरण) होता है । एकान्त में स्वस्थ होकर बैठना चाहिए और वहाँ यह सब समझ कर प्रयोग करना चाहिए । एकान्त में मौन साध कर बैठना चाहिए, सावधान या स्वस्थ होकर देखने से यह जान पड़ता है, कि ऊपर को स्वाँस खींचते समय 'सो' और बाहर

छोड़ते समय 'हं' शब्द, इस प्रकार निरन्तर सोऽहं-सोऽहं शब्द होता रहता है। उच्चारण के बिना जो शब्द होते हैं, उन्हें नैसर्गिक शब्द समझना चाहिए। वे अनुभव में तो आते हैं पर उनका वर्णन नहीं होता। अभ्यास काल में ये शब्द लीन हो जाते हैं ऐसा प्रतीत होता है उस समय (मौन अवस्था में) यदि विचार किया जाय' कि कौन शब्द होता है तब अन्दर में सोऽहं शब्द जैसा भास होता है; योग अभ्यास में इस प्रकार प्राणों की समानता होती है।

श्वांस लेते समय 'सो' और छोड़ते समय 'हं' इस प्रकार अखण्ड रीति से 'सोऽहं सोऽहं' होता रहता है। इसका विचार बहुत विस्तृत है। सभी देह धारी स्वेदज और उद्भिज आदि योनियों में जितने भी प्राणी हैं, बिना श्वासोच्छ्वास के कैसे जीवित रह सकते हैं? इस प्रकार की यह अजपा गायत्री सबके पास है, पर अधिकारी को गुरू से मिलती है। अज्ञानी इसे नहीं जान सकता। सहज नैसर्गिक को छोड़कर बनावटी बातों में कभी भी नहीं पड़ना चाहिए। कुदरती (नैसर्गिक) देव तो बना ही रहता है, क्योंकि वह अविनाशी है। बनावटी देव (मूर्ति इत्यादि) फूटता है, नष्ट होता है। इसलिये ऐसा कौन है, जो नाशवान देव पर विश्वास करेगा? जगदन्तर (जगत का अन्तरात्मा राम) के दर्शन से स्वयं सहज ही अखण्ड ध्यान लग जाता है। सारे लोग उसी आत्मा-राम की इच्छा से वर्तते हैं। आत्मा-राम का जिस तरह समाधान होता है, वैसा ही उसको भोजन मिलता है। छोड़ा हुआ, नष्ट हुआ आदि सब उसी को समर्पण हो जाता है। अग्नि देवता उदर

में बसते हैं उन्हें भी प्राणी अन्न दान देते हैं। इस प्रकार सारे प्राणी आत्माराम की आज्ञा में चलते हैं। इस तरह परमात्मा का जप, ध्यान, स्तुति, स्तवन आदि स्वाभाविक ही हो रहा है और वह उन्हें स्वीकार भी कर रहा है। पर यह बात समझ लेनी चाहिए। इसी नैसर्गिक बात को समझने के लिये नाना प्रकार के हठ-योग किये जाते हैं। पर तो भी यह बात एकाएक समझ नहीं पड़ती है। गड़ा हुआ द्रव्य भूल जाने पर ही दरिद्रता आती है। कभी-कभी तो ऐसा होता है, कि नीचे लक्ष्मी दबी रहती है और पुरुष ऊपर बसता है पर बिचारा प्राणी क्या करे? उसे मालूम ही नहीं है तहखाने में अनन्त द्रव्य रहता है, दीवाल में द्रव्य रखा रहता है और खम्बों में द्रव्य रखा रहता है, मगर आप दरिद्र बन कर इसी के बीच में निवास करता है। इस प्रकार लक्ष्मी के बीच में अभागा दुःख उठाता रहता है तथा उसकी दरिद्रता और भी बढ़ जाती है। उस परमानन्द, परम पुरुष का यह अचरज तो देखिये! कई बैठे ही देखते हैं और कई मौज उड़ाते हैं। यही विवेक की गति है और यही हाल प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का भी है।

जब अन्तःकरण में नारायण बसते हैं, तब लक्ष्मी के लिये क्या कमी है? जिसकी लक्ष्मी है, उसको, उस लक्ष्मीश्वर परमात्मा को खूब मजबूती के साथ हृदय में पकड़ना चाहिये। (दासबोध)

कुण्डलिनी महाशक्ति से उत्पन्न हुई प्राणों को धारण करने वाली जो अजपा गायत्री है, वही महाविद्या-रूपणी प्राण-विद्या या गुप्त-विद्या है। उस के भेदों को जान लेने

से योगी सर्वज्ञ होता है । सोऽहं-मन्त्र का जप करते हुए निरन्तर अजपा गायत्री की ही उपासना करे, मन्त्र में मन को लय करे। तब प्राण और मन दोनों ही लय हो जाते हैं। गायत्री की त्रिकाल उपासना के समान इसके भी तीन भेद हैं। प्रथम मन्त्र और प्राण की स्थिति, दूसरा प्राण और मन्त्रार्थ की स्थिति, तीसरा भाव और मन की स्थिति, तदन्तर आत्मा-साक्षात्कार होता है। (योग सूत्र)

शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा ।
स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः ॥
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः ।
स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोग भागी ॥

मन को प्राणों में स्थति किये हुए प्रणव की सिद्ध साधना सोते, बैठते, उठते, चलते, फिरते, करता हुआ, संसार बीजों को अर्थात् संसार कर्म चक्र को नाश करके साधक अमृत भोगता है। (योग० पा० २ सू० ३२)

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढ़वत् ॥

स्वदेह को नीचे की लकड़ी बना कर, प्रणव मंत्र को देहवत दूसरी लकड़ी बनावे, ऊपर नीचे रगड़ लगाने से जैसे अग्नि पैदा होती है ऐसे ही नाभि-देह में जब प्रणव-मंत्र का श्वासो द्वारा घर्षण होता है, तब ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। (श्वेत० १-१४)

मन्त्र परम लघु जासु वश, विधि हरि हर सुर सर्व ।
महामत्त गज-राज को, वश कर अंकुश खर्व ॥

श्वपच शवर खल यमन जड़, पामर कोल किरात ।
नाम कहत पवन परम, होत भवन विख्यात ।।
रामचन्द्र के भजन बिन, जो चाहे पद निर्वाण ।
ज्ञानवन्त अपि सो नर, पशु बिन पुच्छ विषाण ।।
राम नाम मणि दीप धर, जीह देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहिरो, जो चाहसि उजियार ।।
राम नाम जपते रहो, जब लगि घट में प्रान ।
कबहुँ तो दीन दयाल के, भनक पड़ेगी कान ।।
हाथी घोड़े धन घना, चन्द्र-मुखी बहु नार ।
नाम बिना यम लोक में, पावत दुःख अपार ।।
जबहि नाम हृदय धरा, भयो पाप का नाश ।
जैसे चिन्गी आग की, परी पुरानी घास ।।
जब लग घट में प्राण हैं, तब लग प्रभु न बिसार ।
नारायण को नाम धर, पल पल नाम विचार ।।
साथ न चले बिन भजन, विषिया सकली छार ।
हर-हर नाम कहो मना, नानक यह धन सार ।।
भय नाशन दुर्मति हरण, कलि में हरि को नाम ।
निशि-दिन नानक जो भजे, सुफल होहिं तेहि काम ।।
ऊठत बैठत सोवत जागत नाम ।
कहे नानक सद् भये तिन्ह के काम ।।

मन्त्र महा मणि विषय व्याल के । मेटत कठिन कुअंक भाल के ।।
देखिये रूप नाम आधीना । रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना ।।
रूप विशेष नाम बिन जाने । करतल गत न परहिं पहिचाने ।।
नाम काम-तरु काल-कराला । सुमिरत समन-सकल जग जाला ।।

नहीं कलि कर्म न भक्ति विवेकू । राम नाम अवलम्बन एकू ।।
भाव कुभाव अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिशि-दशहूँ ।।
नाम निरूपण नाम यतन ते । सो प्रगटत जिमि मोल रतन ते ।।

हरिहरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहयेव हि पावकः ।।
यद्दिव्यनाम स्मरतां संसारो गोष्पदायते ।
स्वानन्यभक्तिर्भवति तद्रामपदमाश्रये ।।

नाम के स्मरण करने से दुष्ट भावनाओं और पापों का इस प्रकार नाश हो जाता है, जिस प्रकार कि अग्नि सब पदार्थों को भस्म कर देती है। नाम के स्मरण से गो-पद के समान ही संसार सागर को पार कर सकता है। परमात्मा की अनन्य भक्ति से ही परम गति की प्राप्ति होती है।

ऐसा सुमिरन कीजिये, सहज रहे लौ लाय ।
बिन जिव्ह्या बिन तालवे, अन्तर सुरत लगाय ।।
लगे सुन्न में टक-टकी, आसन पदम लगाय ।
नाभि नासिका मांहि करे, सहजो रहै समाय ।।
हकारे उठ नाम सूं, सकारे होय लीन ।
सहजो अजपा जाप है, चरणदास कहि दीन ।।
सब घट अजपा जाप है, हंसा सोऽहं पुरुष ।
सुरत हिये ठैराय के, सहजो या विधि निरख ।।
सब घट व्यापक राम है, देहि नाना भेष ।
राव रंक चण्डाल घर, सहजौ दीपक एक ।।

सुमिरन

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(गी० ८-५)

जो पुरुष अन्तकाल में मेरे को ही स्मरण करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूप को प्राप्त होता है, इस में कुछ भी संशय नहीं है ।

And he, Who relinquishes this mortal body at the time of death, keeping his consciousness united in me (Recollecting me alone) becomes one with me. There is no doubt about it.

पाँचवें श्लोक में, मरण-समय में परमेश्वर के स्मरण करने की आवश्यकता और उसका फल बतलाया है । सम्भव है, इस से कोई मनुष्य यह न समझ ले, कि केवल मरण-काल में यह स्मरण करने से ही काम चल जाता है । इस हेतु से छठे श्लोक में यह बतलाया गया है कि जो बात जन्म भर मन में रहती है, वह मरण काल में भी नहीं छूटती । अतएव न केवल मरण-काल में, बल्कि जन्म भर परमेश्वर का स्मरण और उपासना करने की आवश्यकता है । इस सिद्धान्त को मान लेने से आप ही आप सिद्ध हो जाता है कि अन्तकाल में परमेश्वर को भजने वाले परमेश्वर को पाते हैं "यथा क्रतुर्स्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" (छा० ३-१४-१) मनुष्य का जैसा क्रतु अर्थात् संकल्प होता है, मरने पर उसे वैसी ही गति मिलती है । छान्दोग्य के समान और उपनिषदों

में भी ऐसे ही वाक्य हैं (प्र० ३-१०) (मैत्र्यु ०४-६)। परन्तु गीता यह कहती है कि जन्म भर एक ही भावना से मन को रंगे बिना अन्तकाल की यातना के समय वही भावना स्थिर नहीं रह सकती। अतएव आमरण (जिन्दगी भर) परमेश्वर का ध्यान करना आवश्यक है—(वे० सू० ४-१-१२)

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(गी० ८-६)

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! जिस-जिस भाव को स्मरण करता हुआ अन्त काल में शरीर त्यागता है उसी को प्राप्त होता है। आजीवन जिस भाव का स्मरण करता है, अन्त-काल में मरण समय पर केवल वही भाव याद आता है। इसलिए, सभी समय केवल भगवान का ही स्मरण करना चाहिए जिससे मरते समय भी केवल उन्हीं का ध्यान रहे और शरीर छूटने पर उनमें समा जाय।

O! son of Kunti! This Jiva after death enters into that being in which his inner consciousness remains united at the time of relinquishing this mortal body. And the inner consciousness at the time of death gets struck to that object only which has been the object of his thinking and recollection throughout his life. As such one should keep his consciousness attached to Lord's Name only throughout his life so that his consciousness might remain united to Him alone at the time of death in order that may become one with Him after death.

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामिवैष्यस्य संशयम् ॥
(गी० ८-७)

इसलिए हे अर्जुन ! तू हर समय में मेरा निरन्तर स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मेरे में अर्पण किये हुए मन-बुद्धि से युक्त हुआ, निःसन्देह मेरे को ही प्राप्त होगा ।

Therefore, at all times recollect me alone and fight (Keep your consciousness united with me). With mind and reason dedicated to me without doubt thou shalt attain me.

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(गी० २-५८)

जैसे कछुआ अपने अङ्गों को समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष सब ओर से अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ।

When a man withdraws his outer consciousness completely from the objects of senses and opens his inner consciousness to Lord, just as a tortoise withdraws all its limbs and keeps them within, then alone he attains equanimity of mind and thought.

संकल्पप्रभावान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि संकल्प से उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण कामनाओं को निःशेषता से अर्थात् वासना और

आसक्ति सहित त्याग कर मन के द्वारा इन्द्रियों के समुदाय को सब ओर से अच्छी प्रकार वश में करे (गी० ६-२०)

Therefore a man should completely abandon all his desires arising from imaginations and having withdrawn all sense organs from their respective sense objects keep them under complete control (and keep his mind united with the Lord).

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥

उनमें भी नित्य मेरे में एक ही भाव से स्थिर हुआ अनन्य प्रेम-भक्ति वाला ज्ञानी-भक्त अति उत्तम है। क्योंकि मेरे को तत्त्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मेरे को अत्यन्त प्रिय है। (गी० ७-१७)

Of all kinds of devotees, the Gyanee, whose consciousness is constantly and unreservedly united in me alone and who knows no others, is the best of all because I am extremely dear to such Gyanee and he is extremely dear to me.

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(गी० ६-४७)

हे प्यारे ! सम्पूर्ण योगियों में भी जो श्रद्धावान योगी मेरे में लगे हुये अन्तर-आत्मा से मेरे को ही निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

And among all yogis, he who full of faith with the inner self abiding in me, adoreth me, he is considered by me to be the most completely harmonised.

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशाश्चानवलोकयन् ॥ गी० ६-१३
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमाँ मत्संस्थामधिगच्छति ॥ गी० ६-१५

मेरे ध्यान करने की विधि इस प्रकार है, कि काया, शिर और ग्रीवा को समान और अचल धारण किये हुये दृढ़ हो कर नासिका के अग्रभाग को देखकर, अन्य दिशाओं को न देखता हुआ और आत्मा को निरन्तर परमेश्वर के चिन्तन में लगाता हुआ स्वाधीन मन वाला योगी मेरे में स्थिति रूप परमानन्द पराकाष्ठा वाली शान्ति को प्राप्त होता है ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ गी० ९-२२

जो अनन्य भाव से मेरे स्थित हुये भक्त-जन मुझ परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करते हुये निष्काम भाव से भजते हैं नित्य एक ही भाव से मेरे में स्थिति वाले उन पुरुषों को योग-क्षेम मैं स्वयं प्राप्त करा देता हूँ । (गी० ९-२२)

To those men who keep their inner consciousness united in me alone, thinking of no other, I personally bear the 'yoga' and 'Chhema' of such harmonious devotee (I help hasten the complete union of his consciousness with me and remove all the obstacles of the way).

सुमिरन से सुख होत है, सुमिरन से दुःख जाय ।
कहै कबीर, सुमिरन किये, साईं माँहि समाय ॥

दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करे, दुःख काहे को होय ॥

सुमिरन की सुधि यों करो, ज्यों गागर पनिहार ।
हाले डोले सुरति में, कहे कबीर विचार ॥
सुमिरन की सुधि यों करो, ज्यों सुरभि सुत माहिं ।
कहे कबीर चारा चरत, बिसरत कबहूँ नाहिं ॥
सुमिरन की सुधि यों करो, जैसे दाम कंगाल ।
कहे कबीर बिसरे नहीं, पल-पल लेहि सम्भाल ॥
सुमिरन से मन लाइये, जैसे कीट भृंग ।
कबीर बिसरे आप को, होय जाये तेहि रंग ॥
सुमिरन सुरति लगाय के, मुख ते कछु न बोल ।
बाहर के पट देय के, अन्तर के पट खोल ॥
कबीर माला काठ की, बहुत जतन का फेर ।
माला स्वाँसों-स्वाँस की, जा में गाँठ न मेर ॥
तन थिर, मन थिर, वचन थिर, सुरत निरत थिर होय ।
कहे कबीर वा पलक को, कल्प न पावे कोय ॥
कहता हूँ कहे जात हूँ, कहऊं बजाये ढोल ।
स्वाँसा खाली जात है, तीन लोक का मोल ॥
ऐसे मँहगे मोल का, एक स्वाँस जो जाय ।
चौदह लोक न पट तरे, काहे धूरि मिलाय ॥
चिन्ता तो सत् नाम की, और न चितवै दास ।
जो कुछ चितवै नाम बिनु, सोई काल की फांस ॥
सत्-नाम को सुमिरते, उधरे पतित अनेक ।
कहे कबीर नहीं छांड़िए, सत्-नाम की टेक ॥
नाम जपत कन्या भली, साकट भला न पूत ।
छेरी के गल गलथना, जा में दूध न मूत ॥

सुमिरण मार्ग सहज का, सद्गुरु दिया बताय ।
स्वाँस-स्वाँस जो सुमिरता, इक दिन मिलसी आय ॥
कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल ।
आदि अन्त मध्य सोधिया, दूजा देखा ख्याल ॥
निज-सुख सुमिरण नाम का, दूजा दुःख अपार ।
मन्सा वाचा कर्मणा, कबीर सुमिरण सार ॥
साँई यों मत जानियो, प्रीति घटै मम चित्त ।
मरूँ तो तुम सुमिरत मरूँ, जीवित सुमिरूँ नित्त ॥
जप, तप, संयम, साधना, सब सुमिरण के माहिं ।
कबीर जाने भक्त जन, सुमिरण सम कछु नाहिं ॥
सकामी सुमिरण करे, पावे उत्तम धाम ।
निःकामी सुमिरण करे, पावे अविचल नाम ॥
हम तुम्हरो सुमिरण करें, तुम मोहि चितवत् नाहिं ।
सुमिरन मन की प्रीति है, सो मन तुम ही माहिं ॥
कबीरा हरि-हरि सुमिरले प्राण जायेंगे छूटि ।
घर के प्यारे आदमी, चलते लैंगे लूटि ॥
कबीर निर्भय नाम जपु, जब लगि दीवा बाती ।
तेल घटे बाती बुझे, तब सोवो दिन-राती ॥
स्वाँस सुफल सो जानिये, जो सुमिरन में जाय ।
और स्वाँस यों ही गए, करि-करि बहुत उपाय ॥
जीवन थोरा ही भला, जो सत् सुमिरन होय ।
लाख वर्ष का जीवना, लेखे धरै न कोय ॥
सुमिरन का हल जोतिया, बीजा नाम जमाय ।
खण्ड-ब्रह्माण्ड सूखा पड़े, तहूँ न निष्फल जाय ॥

प्राण आधार मीत साजन, प्रभु एकै ॐकार ।
सब ते ऊँचा ठाकुर नानका, बार-बार नमस्कार ।।

भाई रे भगति हीन, काहे जग आया ।
नानक बिन भगति जग बउराना, सांचै शब्द मिलाया ।।
बिन सुमिरन कूकर हर्षाया, साकत लोभी बन्धन पाया ।।

एक ओंकार सत्नाम, कर्ता पुरुष, निर्भउ, निरवैर,
अकाल मूरति, अजूनी सैभंग, गुरू प्रसादि, जपु ।।

आदि सच, जुगादि सच, है भी सच' ।
नानक होसी भी सच ।।

स्वाँस-स्वाँस हरिनाम सुमिर, वृथा स्वाँस मत खोय ।
क्या जाने इस स्वाँस का, आवन होय न होय ।।

श्री हरि अरु भक्ति में, जेहि नाहीं अनुराग ।
सो अति पामर पाप मय, पुन्य-हीन हत्-भाग ।।

मैं नाहिं कछु हौं नाहिं, कछु आहि न मोरा ।
औसर लज्जा राखि लेहु, सधना जन तोरा ।। —सधना

यह दरिया की विनती, तुम सेती महाराज ।
तुम भृंगी मैं कीट हूँ, मेरी तुम को लाज ।। दरिया साहिब

सत् समर्थ तें राखि मन, करिये जगत का काम ।
'जग-जीवन' यह मंत्र है, सदासुखद विश्राम ।। जग-जीवन साहिब

मन्सा वाचा कर्मणा, जिन के है विश्वास ।
पलटू हरि-पद रहत हैं, तिन के पलटू दास ।।

पलटू संशय छूटगे, मिलया पूरा यार ।
मगन हैं अपने ख्याल में, भाड़ पड़े संसार ।। पलटू साहिब

बुल्ला आशक होया रबदा, 'मुलामत' होवे लाख ।
लोग 'काफर-काफर' आखदे, तू 'आहो-आहो' आख ।। बुल्लेशाह

एक घड़ी का मोल ना दिन का कहा बखान ।
सहजो ताहि न खोइये, बिना भजन भगवान् ।।
बैठे लेटे चालते, खान पान व्यौहार ।
निशि दिन जो सुमिरण करे, सहजो हिये निहार ।।
सहजो भज हरिनाम को, छांड़ि जगत का नेह ।
अपना तो कोई है नहीं, अपनी सगी न देह ।। सहजोबाई

जग आये जग जागिये, लगिये हरि के नाम ।
बुल्ला कहे विचार के, छाँड़ि देह धन, धाम ।। बुल्लेशाह

तुलसी जग में आय के, कर लीजै दो काम ।
देवे को टुकड़ो भलो, लेवे को हरि नाम ।।
नर संसारी लगन में, दुःख-सुख सहें करोर ।
'नारायण' हरि लगन में, जो कछु होय सो थोर ।।
जैसी प्रीत हराम में, ऐसी हरि ते होय ।
चला जाये बैकुन्ठ में, पल्ला न पकड़े कोय ।।

गुरु-भक्ति

कबीर गुरु की भक्ति कर, तजि विषया रस चौज ।
बार-बार नहिं पाइये, मानुष जन्म की मौज ।।

भक्ति बीज विनशै नहीं, आय पड़े जो चोल ।
कंचन जो विष्ठा पड़े, घटे न ताको मोल ।।

गुरु भक्ति अति कठिन है, ज्यों खांडे की धार ।
बिना सांच पहुँचे नहीं, महा कठिन व्यौहार ।।

भक्ति दुहेली गुरु की, नहिं कायर का काम ।
शीश उतारे हाथ से, सो लेसी सत् नाम ।।
भक्ति दुहेली गुरु की, जस खांडे की धार ।
जो डोले तो कटि मरे, निश्चल उतरे पार ।।
'कबीर' गुरु की भक्ति का, मन में बहुत हुलास ।
मन मन्सा मांजे नहीं, होन चहत है दास ।।
भक्ति निसैनी मुक्ति की, सन्त चढ़े सब धाय ।
जिन-जिन मन ग्रालस किया, जन्म-जन्म पछिताय ।।
जब लगि नाता जगत का, तब लगि भक्ति न होय ।
नाता तोड़े हरि भजे, भक्त कहावे सोय ।।
भक्ति बिना नहिं निस्तरे, लाख करे जो कोय ।
शब्द सनेही हो रहे, घर को पहुंचे सोय ।।
भक्ति पदार्थ तब मिले, जब गुरु होय सहाय ।
प्रेम-प्रीति की भक्ति जो, पूरन भाग मिलाय ।।
देखा-देखी भक्ति का, कबहुँ न चढ़सी रंग ।
विपत्ति पड़े यों छांड़सी, ज्यों केंचुली भुजंग ।।
देखा-देखी पकड़सी, गई छिन्क में छूट ।
कोई बिरला जन बाहवरे, सतगुरु स्वामी मूठ ।।
ज्ञान सम्पूर्ण ना बदा, हृदय नाहिं जुड़ाय ।
देखा-देखी भक्ति का, रंग नहीं ठैराय ।।
जान भक्त का नित मरण, ग्रनजाने का राज ।
सर ग्रौसर समझे नहीं, पेट भरन के काज ।।
तिमर गया रवि देखते, कुबुद्धि गई गुरु-ज्ञान ।
सुमति गई इक लोभ ते, भक्ति गई ग्रभिमान ।।

भक्ति भाव भादों नदी, सबै चले भराय ।
सरिता सोई जानिये, जो जेठ मास ठैराय ॥
कामी क्रोधी लालची, इन ते भक्ति न होय ।
भक्ति करे कोई सूरमा, जाति वर्ण कुल खोय ॥
'कबीर' गुरु की भक्ति बिनु, धिक जीवन संसार ।
धुंआ कैसा धौलहर, जात न लागै बार ॥
निःपक्षी को भक्ति है, निरमोही को ज्ञान ।
निरद्वन्दी को मुक्ति है, निरलोभी निर्वान ॥
भक्ति सोई जो भाव से, इक सम चित् को राखि ।
साँच शील से खेलिये, मैं-तैं दोऊ नाखि ॥
सत्-नाम हल जोतिया, सुमिरन बीज जमाय ।
खण्ड ब्रह्मण्ड सूखा पड़े, भक्ति बीज नहिं जाय ॥
जल ज्यों प्यारा माछरी, लोभी प्यारा दाम ।
माता प्यारा बालका, भक्त प्यारा नाम ॥
कबीर गुरु की भक्ति से, संशय डारा धोय ।
भक्ति बिना जो दिन गया, सो दिन शाले मोहि ॥
जब लगि भक्ति सकाम है, तब लगि निष्फल सेव ।
कहे कबीर वह क्यों मिले, निःकामी निज देव ॥
भक्ति बीज पलटे नहीं, जो जुग जायें अनन्त ।
ऊंच- नीच घर जन्म ले, तऊ सन्त का सन्त ॥
जाति वर्ण कुल खोय के, भक्ति करे चित्त लाय ।
कहे 'कबीर' सद्गुरु मिले, आवा-गमन नसाय ॥
भक्ति गेंद चौगान की, भावे कोई लै जाय ।
कहे कबीर कुछ भेद नहीं, कहा रंक कहा राय ॥

भक्ति प्यारी नाम की, जैसे कामी काम ।
कामी चिन्तत काम को, भक्त चिन्तत नाम ।।

परम-तत्व का ज्ञान कराने वाले ब्रह्म-वेत्ता गुरु की भक्ति के बिना कोई भी मनुष्य उस परम-पुरुष परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता । क्योंकि गुरु की भक्ति करने से ही परम-तत्व का ज्ञान होता है । गुरु-भक्ति की यही वार्ता वेदोपनिषद में भी कथन की गई है ।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैतेकथिताह्यर्था प्रकाशं ते महात्मनः ।।

जिस की परमात्मा में परम-भक्ति होती है और वैसी ही सद्गुरु में होती है, तभी उस महात्मा के हृदय में प्रकाश होता है ।

।। संत-महिमा ।।

साधु बड़े परमार्थी, घन ज्यों वर्षे आय ।
तपन बुझावें और की, अपनो पारस लाय ।।

राम सिन्धु घन सज्जन धीरा । चन्दन तरु हरि सन्त समीरा ।।
सब कर फल हरि भक्ति सुहाई । सो बिनु सन्त न काहुहि पाई ।।
अस विचार जो कर सत्संगा । राम भक्ति तेहि सुलभ विहङ्गा ।।

ब्रह्म पयोनिधि मन्दर, ज्ञान संत सुर आहिं ।
कथा सुधा मथि काढ़हिं, भक्ति मधुरता जाहिं ।।

नहिं दरिद्र सम दुःख जग माहीं । संत मिलन सम सुख कछु नाहीं ।।
पर उपकार वचन मन काया । सन्त सुभाव सहज खगराया ।।
सन्त सहहिं दुःख परहित लागी । परदुःख हेतु असंत अभागी ।।

भू-रज तरु सम सन्त कृपाला । परहित नित सह विपत्ति विशाला ।।
सन्त उदय सन्तत सुखकारी । विश्व सुखद जिमि इन्दु तमारी ।।
सदा रहे सन्तोष में, धर्म आप दृढ़ धार ।
आस एक गुरुदेव की, और न चित्त विचार ।।
मान-अपमान न चित्तधरे, औरन को सनमान ।
जो कोई आशा करे, उपदेशे तेहि ज्ञान ।।
ऐसा साधू खोज के, रहिए चरणन लाग ।
मिटे जन्म की कल्पना, ताके पूरण भाग ।।
सिंहों के लैहंडे नहीं, हंसो की नहीं पाँत ।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चले जमात ।।
सब वन तो चन्दन नहीं, सूरा का दल नाहिं ।
सब समुद्र मोती नहीं, यों साधु जग माहिं ।।
सिंह साधु की एक मति, जीवित ही को खाय ।
भाव-हीन मृतक दशा, ता के निकट न जाय ।।
रवि को तेज घटे नहीं, जो घन जुड़े घमण्ड ।
साधु वचन पलटे नहीं, पलट जाय ब्रह्मण्ड ।।
आवत साधु न हर्षिया, जात न दिया रोय ।
कहे कबीर वा दास की, मुक्ति कहाँ से होय ।।
छाजन भोजन प्रीति से, दीजे साधु बुलाय ।
जीवत यश है जगत में, अन्त परम-पद पाय ।।
वृक्ष कबहुँ न फल भखै, नदी न संचै नीर ।
परमार्थ के कारने, साधु धरा शरीर ।।
साधु-साधु सब बड़े, अपनी अपनी ठौर ।
शब्द विवेकी पारखी, ते माथे की मौर ।।

साधु-साधु सब एक हैं, जस पोसता का खेत।
कोई विवेकी लाल है, और श्वेत के श्वेत ॥
निराकार की आरसी, सन्तन ही की देह।
लखा जो चाहे अलख को, इन में ही लखि लेह ॥
कबीर दर्शन साधु का, साहिब आवें याद।
लेखे में सोई घड़ी, बाकी दिन के बाद ॥
खाली हाथ न भेंटिये, सुन लीजे सब कोय।
कहे कबीर भेंट धरे, जो तेरे घर होय ॥
मन मेरा पंछी भया, उड़ि कर चढ़ा आकाश।
गगन मंडल खाली पड़ा, साहिब संतों पास ॥
साधुन के मैं संग रहौं, अन्त कहूं नहिं जाऊं।
जो मोहि अर्पे प्रीति से, साधुन मुख होय खाऊं ॥
साधु मिले साहिब मिले, अन्तर रही न रेख।
मन्सा वाचा कर्मना, साधू साहिब एक ॥
जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥
साधु चलत रो दीजिये, कीजे अति सनमान।
कहै कबीर भेंट धरु, अपने वित्त अनुमान ॥
दर्शन कीजे साधु का, दिन में कई-कई बार।
असौज केसा मेंह ज्यों, बहुत करे उपकार ॥
कई बार नहीं करि सके, तो दोय बार करि लेय।
कबीर साधू दर्श ते, काल दगा नहीं देय ॥
साकट बाह्मन मत मिलो, साध मिले चंडाल।
जाहि मिले सुख ऊपजे, मानो मिले दयाल ॥

साधू भूखा भाव का, धन का भूखा नाहिं।
धन का भूखा जो फिरे, सो तो साधू नाहिं ।।

भली भई जो गुरू मिला, टूटी कुल की लाज।
बे-परवाही ह्वै रहा, बैठा नाम जहाज ।।

साधुन की कुतिया भली, बुरी साकट की माँय।
वह बैठी हरि यश सुने, वह निन्दा करने जाय ।।

हरि-दरबारी साधु हैं, इन सम और न होय।
बेगि मिलावें नाम से, इन्हें मिले जो कोय ।।

धन्य सो माता सुन्दरी, जिन जाया साधू पूत।
वह नाम सुमिर निर्भय भया, और गये ऊत के ऊत ।।

तीर्थ नहाये एक फल, सन्त मिले फल चार।
सतगुरु मिले अनेक फल, कहत कबीर विचार ।।

साधु सीप साहिब समुद्र, निपजत मोती माहिं।
वस्तु ठिकाने पाइये, नाल खाल में नाहिं ।।

हरि सेति हरिजन बड़े, समुझि देखि मन माहिं।
कहै कबीर जो हरि मिले, सो हरि हरिजन माहिं ।।

हरि सेती हरिजन बड़े, गावें वेद पुराण।
सेतु बाँध रघुवर गये, कूद गये हनुमान ।।

साधु बड़े संसार में, हरि ते अधिका सोय।
बिन इच्छा पूरण करें, साहिब-हरि नहीं दोय ।।

साधु आवत देखि के, चरणन लागूँ धाय।
ना जानूँ केहि भेष में, हरि ही जो मिल जाय ।।

कबीर दर्शन साधु के, बड़े भाग दर्शाय।
जो होवे सूली सजा, काँटे ही टरि जाय ।।

साधु वृक्ष सत्-नाम फल, शीतल शब्द विचार ।
जग में होते सन्त नहीं, जरि मरता संसार ।।
साधु सेवा जा घर नहीं, सत्गुरु पूजा नाहिं ।
सोई घर मरघट भया, भूत बसहिं तेहि माहिं ।।
कोटि-कोटि तीर्थ करे, कोटि-कोटि कर धाम ।
जब लगि सन्त न सेवई, तब लगि सरे न काम ।।
तन को योगी सब करें, मन को बिरला कोय ।
सहजै सब विधि पाइये, जो मन जोगी होय ।।
हम तो जोगी मन ही के, तन के हैं ते ग्रौर ।
मन को जोग लगावते, दशा भई कछु ग्रौर ।।
घर जारे घर ऊबरे, घर राखे घर जाय ।
एक ग्रचंभा देखिया, मुग्रा काल को खाय ।।
रोड़ा होय बाट का, तजि ग्रापा ग्रभिमान ।
लोभ, मोह, तृष्णा, तजे, ताहि मिले निज नाम ।।
रोड़ा भया तो क्या भया, पन्थी को दुःख देय ।
साधू ऐसा चाहिए, ज्यों पेंडे की खेह ।।
खेह भया तो क्या भया, उड़ उड़ लागे ग्रङ्ग ।
साधू ऐसा चाहिए, जैसे नीर निपंग ।।
नीर भया तो क्या भया, ताता-सीरा होय ।
साधू ऐसा चाहिए, जो हरि ही जैसा होय ।।
हरि भया तो क्या भया, जो कर्त्ता हरता होय ।
साधू ऐसा चाहिए, जो हरि भज निर्मल होय ।।
निर्मल भया तो क्या भया, निर्मल मांगे ठौर ।
मल-निर्मल ते रहित है, ते साधू कोई ग्रौर ।।

कबीर द्वैत-अद्वैत में, फँसा पड़ा संसार।
साधू ऐसा चाहिए, सिर लेवे ना भार॥
अद्वैत भया तो क्या भया, अद्वैत माँगे ठौर।
द्वैत-अद्वैत से न्यारा रहे, ते साधू कोई और॥
द्वैत-अद्वैत से न्यारा रहे, तजे वाद-विवाद।
जो माने गुरु वचन को, ताका मता अगाध॥
साधु चरित शुभ सरिस कपासू। निरस विशद गुणमय फल जासू॥
जो सहि दुःख पर छिद्र दुरावा। वन्दनीय जेहि जग यश पावा॥
मुद मंगल मय सन्त समाजू। जो जग जङ्गम तीरथ राजू॥
राम भक्ति जहँ सुरसरि धारा। सरस्वती ब्रह्म विचार प्रचारा॥
विधि निषेध मय कलि-मल हरणी। करम कथा रवि नंदनि वरणी।
हरि हर कथा विराजत बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी॥
वट विश्वास अचल निज धर्मा। तीर्थ राज समाज सुकर्मा॥
सबहिं सुलभ सब दिन सब देशा। सेवत सादर शमन कलेशा॥
अकथ अलौकिक तीरथ राऊ। देय सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥
सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु समाज प्रयाग॥
वन्दउँ सन्त समान चित्त, हित अनहित नहीं कोय।
अञ्जलि गत् शुभ सुमन जिमि, सम सुगन्ध कर दोय॥
सन्त सरल चित् जगत हित, जानि स्वभाव सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा, राम चरण रति देहु॥
पावन पर्वत वेद पुराणा। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान विराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजई जो प्रानी। पाव भक्ति-मणि सब सुख खानी॥
मोरे मन प्रभु अस विश्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

—: सत्-संग :—

संगत से सुख ऊपजै, संगति से दुःख जाय।
बांस फांस मिश्री, एक ही भाव बिकाय॥
संगत कीजे साधु की, जिनका पूरा मन।
अनतोले ही देते हैं, नाम सरीखा धन॥
कबीरा संगति साधु की, ज्यों गन्धी को बास।
जो गन्धी कुछ देय नहीं, तो भी वास सुवास॥
ऋद्धि सिद्धि मागौं नहीं, मागौं तुम पै येह।
निशि दिन दर्शन साधु का, कह 'कबीर' मोहि देह॥
'कबीर' संगति साधु की, निष्फल कभी न होय।
होसी चन्दन बासना, नाम न कहसी कोय॥
सत्-नाम हृदय बसे, लीजे जन्म सुधारि।
जा पल दर्शन साधु का, ता पल की बलिहार॥
राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधु संग में, सो बैकुण्ठ न होय॥
ते दिन गये अकार्थी, संगत भई न सन्त।
प्रेम बिना पशु जीवना, भक्ति बिना भगवन्त॥
'कबीर' चन्दन के निकट, नीम भी चन्दन होय।
बूढ़े बाँस न बेधई, योंजनि बूढ़ो कोय॥
भुवंगम बाँस न बेधई, चन्दन दोष न लाय।
सब अंग तो विष से भरा, अमृत कहाँ समाय॥
मन दिया कहूं और ही, तन साधुन के संग।
कहे कबीर कोरी गजी, कैसे लागे रंग॥

साखी शब्द बहुत सुना, मिटा न मन का दाग ।
संगति से सुधरा नहीं, ता का बड़ा अभाग ।।
चन्दन परसा बावना, विष ना तजे भुजंग ।
यह चाहे गुन आपना, कहा करे सत्संग ।।
तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग ।
तुले न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग ।।

मज्जन फल पेखिये तत्काला । काक होइ पिक बकउ मराला ।।
सुनि आश्चर्य करे जनि कोई । सत्संगति महिमा नहिं गोई ।।
बिनु सत्संग विवेक न होई । राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ।।
सत्संगति मुद मंगल मूला । सोइ सिद्धि सब साधन फूला ।।
शठ सुधरहिं सत्संगति पाई । पारस परस कुधातु सुहाई ।।
विधि हरि-हर कवि कोविद वानी । कहत साधु महिमा सकुचानी ।।
सो मोसन कहि जात न कैसे । शाक वणिक मणि गुण गण जैसे ।।

नदी वृक्ष और सन्त-जन, चौथे वर्षे मेह ।
परमारथ के कारणे, चारों धारें देह ।।
जैसा जा को संग मिले, तैसो ही फल दीन ।
कदली सीप भुजंग मुख, स्वाँति एक गुण तीन ।।
सन्त-संग अपवर्ग कर, कामी भव कर पन्थ ।
कहहिं सन्त कवि कोविद, श्रुति पुरान सद्ग्रन्थ ।।

बड़े भाग्य पाईये सतसंगा । बिनहिं प्रयास होय भव भंगा ।।

—:※:—

॥ कुसंग ॥

हानि कुसंग सुसंगति लाहु । लोकहु वेद विदित सब काहु ॥
गगन चढ़ई रज पवन प्रसंगा । कीचहिं मिलहिं नीच जल संगा ॥
धूम्र कुसंगत कारख होई । लिखिये पुराण मंजु मसि सोई ॥
साधु असाधु सदन सुक सारी । सुमरहिं राम देहिं गनि गारी ॥
सन्त असन्तन की अस करनी । जिमि कुठार चन्दन आचरनी ॥
काटै परसु मलय सुनि भाई । निज गुण देत सुगन्ध बसाई ॥

ताते सुर शीसन्ह चढ़त, जग वल्लभ श्री खण्ड ।
अनल दाह पीटत धनहिं, परसु वदन यह दण्ड ॥

सुनहु असन्तन केर सुभाऊ । भूलेहु संगत करिय न काऊ ॥
तिन्ह कर संग सदा दुःख-दाई । जिमि कपिलहिं घालै हरहाई ॥
खलन हृदय अति ताप विशेखी । जरहिं सदा पर सम्पति देखी ॥
जहं कहुँ निन्दा सुनहिं पराई । हर्षहिं मनहु परी निधि पाई ॥
काम क्रोध मद लोभ परायन । निर्दय कपटी कुटिल मलायन ॥
बैर अकारण सब काहू सों । जो कर हित अनहित ताहू सों ॥

झूठै लेना झूठै देना । झूठै भोजन झूठ चबेना ॥

बोलहिं मधुर वचन जिमि मोरा । खाहिं महा अहि हृदय कठोरा ॥

पर द्रोही पर दार रत, पर धन पर अपवाद ॥
ते नर पामर पाप मय, देह धरे मनुजाद ॥

लोभै ओढ़न लोभै डासन । सिस्नोदर पर जमपुर त्रासन ॥
काहु कै जो सुनहिं बड़ाई । श्वास लेहिं जनु जूड़ी आई ॥
जब काहू की देखहिं विपति । सुखी भये मानहुँ जग नृपति ॥
स्वारथ रत परिवार विरोधी । लम्पट काम क्रोध अति लोभी ॥
मात पिता गुरु विप्र न मानहिं । आप गये अरु घालहिं आनहिं ॥

करहिं मोह वश द्रोह परावा । सत्संग कथा हरि नहीं भावा ॥
अवगुण सिन्धु मन्द मति कामी । वेद विदूषक पर धन स्वामी ॥
विप्र द्रोह पर द्रोह विशेषा । दंभ कपट जिमि धरे सुवेषा ॥
ऐसे अधम मनुज खल, कृतयुग त्रेता नाहिं ।
द्वापर कछुक वृन्द बहु, होइहिं कलियुग माहिं ॥
करहिं मोह वश नर अघ-नाना । स्वारथ रत परलोक नसाना ॥
काल रूप तिन्ह को मैं भ्राता । शुभ अरु अशुभ कर्म फल दाता ॥
सुनहु तात माया कृत, गुण अरु दोष अनेक ।
गुण यह उभय न देखिये, देखिये सो अविवेक ॥

—: भजन :—

त्याग मन हरि विमुखन को संग ।
जिन के संग कुबुद्धि उपजत है, परत भजन में भंग ॥१॥
कहा होत पयपान कराये, विष नहीं तजत भुजंग ।
कागहिं कहा कपूर चुगाए, स्वान नहाए गंग ॥२॥
खर को कहा अरगजा लेपन, मकटर भूषन अंग ।
गज को कहा नहाये सरिता, बहुर धरै खेह अंग ॥३॥
पाहन पतित बान नहीं बेधत, रीतो करो निषंग ।
सूरदास खल कारी-कामरि, चढ़त न दूजो रंग ॥४॥

गुरू बशिष्ठ जी का राम के प्रति उपदेश

जप तप नियम योग निज धर्मा । श्रुति सम्भव नाना शुभ कर्मा ।।
ज्ञान दया दम तीर्थ मज्जन । जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन ।।
आगम निगम पुराण अनेका । पढ़े लिखे कर फल प्रभु एका ।।
तव पद पंकज प्रीति निरन्तर । सब साधन कर फल यह सुन्दर ।।
छूटहिं मल कि मलहिं के धोये । घृत कि पाव कोई वारि बिलोये ।।
प्रेम-भक्ति जल बिनु रघुराई । अभियन्त्र मल कबहुँ कि जाई ।।

हे राम जी ! दान, पुण्य, तीर्थ, व्रत आदि जितने भी साधन हैं इन से आत्म-पद की प्राप्ति नहीं होती । साधु-संग करके ही आत्म-पद की प्राप्ति होती है । साधु-संग रूपी एक वृक्ष है, जिस का फूल आत्म-ज्ञान है । जिस पुरुष ने फूल की इच्छा की है, सोई अनुभव रूपी फल को पाता है । हे राम जी ! जो पुरुष आत्मानन्द से रहित है, सो साधु-संग पाकर आत्मानन्द से पूर्ण होता है । जीव जो अज्ञान करके मृत्यु को प्राप्त होता है, सो साधु संग से ज्ञान पाकर अमर-पद को पाता है । जो लोग नाना प्रकार की आपदाओं से दुखी हैं, सो सन्त का संग पाकर सम्पदा को पाते हैं । आपदा रूपी कमल को नाश करने हारा सत्संग रूपी तुषार (पाला) है । सन्तों की संगत

से ही आत्म-बुद्धि उत्पन्न होती है। तभी मनुष्य दुःख और मृत्यु से रहित होकर परमानन्द को प्राप्त होता है।

विचारो परमो दीपो जायते साधु संगमात्

हे राम जी ! सन्त की संगत करने से ज्ञान रूपी दीपक जलता है और अज्ञान रूपी तम नष्ट हो जाता है। संत-सगत से बड़े ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है और फिर किसी भी भोग-पदार्थ की इच्छा नहीं रहती। जैसे कल्प वृक्ष के निकट जाने से वांछित फलों की प्राप्ति होती है, वैसे सन्तों के निकट जाने से सभी कामनायें पूरी हो जाती हैं, जैसे केवट नौका द्वारा मुसाफ़िरों को इस पार से उस पार लगा देता है, वैसे संसार समुद्र से पार करने हारे सन्त जन ही हैं। सन्तों के संग से ज्ञानवान होता है और सब से उत्तम पद में विराजता है। सन्त का संग पवन के समान मोह रूपी मेघ का नाश करने हारा है। जिन को देहादिक अनात्म सों स्नेह नष्ट भया है, शुद्ध-आत्मा में जिन की स्थिति है और तिस से तृप्त भये हैं, संसार के इस अनिष्ट से जिनकी बुद्धि चलायमान नहीं होती, सदा समता-भाव में स्थिर रहते हैं सो ऐसे संसार रूपी सागर से फूल के समान पार उतारने वाले और आपदा रूपी बेल को जड़ समेत नाश करने हारा सन्त जन ही हैं।

हे राम जी ! सन्तजन प्रकाश-रूप हैं। तिन के संग से उत्तम पदार्थ की प्राप्ति होती है। जो अपने पुरुषार्थ रूपी नेत्रों से हीन हुए हैं, उन्हें पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती। जिन पुरुषों ने सत्संग का त्याग किया है, सो नर्क रूपी अग्नि में लकड़ी की नाईं जरेंगे और जिन्होंने सत्संग किया है, तिन को नर्क रूपी अग्नि

का नाश करने हारा सत्संग ही मेघ है। हे राम जी ! जिस ने सत्संग रूपी गंगा में स्नान किया है, उसे फिर तप, दान आदि साधन से कोई प्रयोजन नहीं रहता। वह सत्संग करके परम-गति को प्राप्त होता है। इसीलिए और सब उपायों को त्याग कर सत्संग को खोजना चाहिये। जैसे निर्धन चिन्तामणि आदिक धन को खोजता है वैसे मुमुक्ष (जिज्ञासु) सत्संग को खोजता है। जो दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों तापों से जल रहा है, तिस को शीतल करने हारा सत्संग है। जैसे तपी हुई पृथ्वी वर्षा करके शीतल होती है, वैसे ही सत्संग करके हृदय शीतल होता है।

हे राम जी ! सत्संग रूपी कुल्हाड़ा मोह और अज्ञान रूपी वृक्ष का नाश करने हारा है। सत्संग करके ही यह मनुष्य अविनाशी पद को प्राप्त होता है। तिस पद को पाने से फिर और किसी भी पद के पाने की इच्छा नहीं रहती। सत्संग ही सबसे उत्तम है। जैसे सभी अप्सराओं में लक्ष्मी उत्तम है, वैसे सत्संग को प्राप्त करने हारा सबसे उत्तम है। ताते अपने कल्याण के निमित्त सत्संग करना ही तुम को योग्य है।

हे राम जी ! समता, सन्तोष, विचार और सत्संग यह चारों मोक्ष के द्वारपाल हैं जो कि तुम से कहे हैं। जिन पुरुषों ने इन के साथ प्रीति की है, सो वे शीघ्र ही आत्म-पद को प्राप्त होवेंगे और जो इन को धारन नहीं करते, सो मोक्ष को प्राप्त नहीं होते। हे राम जी ! जहाँ इन चारों में से एक भी आ जाता है, तहाँ तीनों और भी आ जाते हैं। जहाँ समुद्र है, तहाँ सभी नदियाँ आप ही पहुँच जाती हैं। जहाँ समता-भाव होता

है, तहाँ सन्तोष, विचार और सत्संग यह तीनों आ जाते हैं। जहाँ साधु संगम होता है तहाँ समता, सन्तोष और विचार आ उपस्थित होते हैं। जहाँ कल्प-वृक्ष होता है वहाँ सभी पदार्थ स्थिर रहते हैं। जहाँ सन्तोष आता है, वहाँ समता, विचार और सत्संग तीनों आ जाते हैं। जैसे पूर्णमाशी के चन्द्रमा में गुण और सभी कला इकट्ठी हो जाती हैं, तैसे जहाँ सन्तोष आता है, वहां और भी तीनों आ जाते हैं। जहाँ विचार आता है, वहां सत्संग, समता और सन्तोष आ जाते हैं। जैसे श्रेष्ठ पुरुष के पास राज्य लक्ष्मी स्वय आती है, वैसे विचार आने से सभी गुण आ जाते हैं। ताते हे राम जी! जिसके पास यह चारों आते हैं, तिसको परम श्रेष्ठ जानना चाहिये। हे राम जी! चारों न हों तो एक का अवश्य आश्रय लेना चाहिये। क्योंकि जब इन चारों में से एक भी आ जायेगा तो बाकी तीनों भी आ जायेंगे। मोक्ष पाने के यही चारों परम-साधन हैं। और किसी भी उपाय से मुक्ति नहीं होती।

सन्तोषः परमो लाभः, सत्संगः परमं धनम् ।
विचारः परमं ज्ञानं, शमश्च परमं सुखम् ।।

सन्तोष ही परम-लाभ, सत्संग ही परम-धन, विचार ही परम-ज्ञान और समता-भाव ही परम-सुख है। हे राम जी! यही चारों परम कल्याण कर्त्ता हैं। जो इन चारों से सम्पन्न है तिसकी ब्रह्मादिक भी स्तुति करते हैं। ताते दन्त को दन्त लगाय के और इनका आश्रय लेकर मन को वश कर लो। हे राम जी! मन रूपी हाथी विचार रूपी अंकुश से वश में होता

है । मन ही मन में वासना रूपी गहरी नदी बहती है । तिस के शुभ और अशुभ दो किनारे हैं । मनुष्य का इस में पुरुषार्थ यही है, मन को अशुभ की ओर से हटा कर शुभ की ओर ले जावे । जब अन्तर्मुख आत्मा के सन्मुख वृत्ति का प्रवाह बहने लगेगा । तभी आत्म-पद को प्राप्त होवेगा । हे राम जी ! पुरुषार्थ करना यही है, कि अविचार रूपी ऊँचाई को दूर करना । जब अविचार रूपी रेत दूर हो जायेगा तो प्रवाह आप ही बहने लगेगा । हे राम जी ! दृश्य-जगत की ओर जो मन का प्रवाह चलता है, सो बन्धन का कारण है जब अन्तर्मुख आत्मा की ओर मन का प्रवाह होवे, तभी मोक्ष का कारण समझना चाहिये । हे राम जी ! अब विचार का निरुपण सुनो । जब हृदय शुद्ध होता है, तभी विचार उत्पन्न होता है और तभी शास्त्र-अर्थ विचार द्वारा बुद्धि तीक्ष्ण होती है ।

हे राम जी ! अज्ञान रूपी बन में ही आपदा रूपी बेली की उत्पत्ति होती है । तिसको विचार रूपी खड्ग के द्वारा काटना है, तभी आत्मा शांत होवेगी । मोह रूपी हस्ती जीव के हृदय रूपी कमल को खण्ड-खण्ड कर डालती है । अभिप्राय यह है कि इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष करने से मन छेदा जाता है । जब विचार रूपी सिंह प्रगट होकर, मोह रूपी हस्ती का नाश करता है, तब आत्मा शांत होती है । जिसको भी सिद्धता प्राप्त हुई है, सो विचार और पुरुषार्थ करके ही हुई है । जो राजा होता है, सो प्रथम विचार करके ही पुरुषार्थ करता है । तिस करके ही उसे राज्य प्राप्त होता है । बल, बुद्धि, तेज, चतुर्थ-पदार्थ का आगमन, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, तेज-पदार्थ

और पंचम-पुरुषार्थ की प्राप्ति सो विचार से ही होती है । इन्द्रियों के जीतने की शक्ति आत्म-व्यापी बुद्धि और तेज की प्राप्ति विचार से ही होती है ।

हे राम जी ! जिन पुरुषों ने विचार का आश्रय लिया है, सो विचार की दृढ़ता करके वे जिस वस्तु की वांछा करते हैं, उसी को प्राप्त कर लेते हैं । इसलिए विचार ही सबका परम मित्र और सहायक है । विचारवान पुरुष आपदा आने पर भी विचलित नहीं होते । जैसे तूम्बी जल में नही डूबती, तैसे ही वह पुरुष आपदा में नहीं डूबते । हे राम जी ! जो विचार संयुक्त होकर कर्म करता है उसके लिए की हुई सभी क्रियायें सिद्धता का कारण रूप हो जाती हैं । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष भी वृक्ष है, जिसमें जिसका अभ्यास होता है, अर्थात् जैसा कोई विचार करता है, सोई पदार्थ की सिद्धि को पाता है । इसलिए हे राम जी ? शुद्ध-ब्रह्म का विचार करके आत्म-ज्ञान को प्राप्त करो । जैसे दीपक से पदार्थ का ज्ञान होता है, तैसे पुरुष को विचार से ही सत्य-असत्य का ज्ञान होता है । जिसने असत्य को त्याग कर सत्य का प्रयत्न किया है, तिसको ही विचारवान कहते हैं । हे राम जी ! संसार रूपी सागर में आपदा रूपी तरंगें चलती हैं । जो विचारवान पुरुष है, सो संसार के भाव अभाव में कष्ट को प्राप्त नहीं होता । जो कुछ विचार-संयुक्त क्रिया होती है तिसका परिणाम सुख-दायक होता है । विचारहीन चेष्टा से ही दुःख की प्राप्ति होती है ।

हे राम जी ! अविचार रूपी कन्टक वृक्ष है, तिससे दुःख रूपी काँटे उत्पन्न होते हैं । अविचार रूपी रात्रि में तृष्णा रूपी

पिशाचनी आकर निवास करती है परन्तु विचार रूपी सूर्य के उदय होने पर अविचार रूपी रात्रि और तृष्णा रूपी पिशाचनी नष्ट हो जाती हैं। हे राम जी ! मेरा यही आशीर्वाद है, कि तुम्हारे हृदय में अविचार रूपी रात्रि का अभाव हो जावे। क्योंकि विचार से अविचार रूपी संसार एवं सब दुःखों की निवृत्ति होती है। बालक, अविचार से अपनी परछाई को बेताल (भूत या प्रेत) समझ कर भय को प्राप्त होता है। पर विचार करने से भय नष्ट हो जाता है। अविचार से संसार दुःख देता है और सत्-शास्त्रों का युक्ति से विचार करने पर संसार भय नष्ट हो जाता है। जहाँ विचार है, तहाँ दुःख नहीं है और जहाँ विचार नहीं, तहाँ दुःख रहता है। जैसे जहाँ प्रकाश नहीं होता, तहाँ अन्धकार रहता है। तैसे जहाँ विचार है, वहाँ सांसारिक भय नहीं और जहाँ विचार नहीं, तहाँ संसार का भय बना रहता है। जहाँ आत्म-विचार होता है, तहाँ सुख को देने हारे शुभ-गुण आय स्थित होते हैं। जैसे मानसरोवर में कमल उत्पन्न होते हैं, तैसे ही विचार से शुभ गुणों की उत्पत्ति होती है और जहाँ विचार नहीं होता, तहाँ अनेक दुःखों का आगमन होता है।

हे राम जी ! अविचार से जो कुछ क्रिया की जाती है, सो दुःख का कारण होती है। जैसे चूहा रहने के लिए बिल खोद के मिट्टी निकालता है सो जहाँ मिट्टी इकट्ठी होती है तहाँ बेली की उत्पत्ति होती है, तैसे अविचार से यह पुरुष मिट्टी रूपी पाप-क्रिया को इकट्ठी करता है; तिससे आपदा रूपी बेली उत्पन्न होती है। अविचार रूपी घुन के खाये हुए वृक्ष में

सुख रूपी फल नहीं लग सकते । जिस करके शुभ क्रिया न होवे और जिस करके शास्त्र अनुसार क्रिया न होवे, तिसका नाम ही अविचार है ।

हे राम जी ! विवेक रूपी राजा है और अविचार रूपी उस की प्रजा है । जहाँ विवेक रूपी राजा आता है तहाँ विचार रूपी प्रजा साथ फिरती है और जहाँ विचार रूपी प्रजा आती है, तहाँ विवेक रूपी राजा भी आता है । जो पुरुष विचार से सम्पन्न है, सो पूजने योग्य है । जैसे द्वितीया के चन्द्रमा को नमस्कार करते हैं; वैसे ही विचारवान पुरूष को सब नमस्कार करते हैं । हे राम जी ! हमारे देखते-देखते शुद्ध-बुद्धि वाले कितने ही पुरुष विचार की दृढ़ता से मोक्ष-पद को प्राप्त हो चुके हैं । ताते विचार ही सब का परम मित्र है । जैसे हिमालय, अन्दर बाहर से शीतल रहता है, तैसे विचारवान पुरुष अन्दर बाहर से शीतल रहता है । देखो ! विचार करने से यह पुरुष ऐसे पद को प्राप्त होता है, जो कि नित्य, अचल, अनन्त स्वच्छ और परमानन्द-स्वरूप है तिस पद को पाकर किसी वस्तु के त्याग और ग्रहण की इच्छा नहीं होती है । उस पद को प्राप्त करने पर इष्ट तथा अनिष्ट विषय समान ही रहते हैं । जैसे तरंग के उत्पन्न होने और लीन होने में समुद्र समान रहता है तैसे विवेकी पुरुष इष्ट-अनिष्ट विषय में समान भाव रखता है । ऐसे विवेकी पुरूष का संसार-भ्रम मिट जाता है और आधार रहित केवल अद्वैत-तत्व उस को प्राप्त होता है ।

हे राम जी ! यह जगत अपने मन के मोह में उपजता है और अविचार करके दुःखदायी दीखता है । जैसे अविचार से

बालक को बैताल भासता है, तैसे ही इसे जगत भासता है। पर ब्रह्म विचार की प्राप्ति से यह भ्रम नष्ट हो जाता है। हे राम जी ! विचार के आने से ही समता की उत्पत्ति होती है। जैसे बीज से अंकुर निकलता है, तैसे ही विचार से समता आती है। विचारवान पुरुष जिस ओर देखता, तिस ओर आनन्द ही दृष्टि में आता है, दुःख उसे कहीं भी नहीं भासता। जैसे सूर्य से अन्धकार दृष्टि में नहीं आता, तैसे विच.र करने से दुःख दृष्टि में नहीं आता। जहां विचार है, तहाँ सुख है और जहाँ विचार नहीं है, वहां दुख है जैसे अन्धकार के अभाव से बैताल के भय का अभाव होता है तैसे विचार किये से संसार-दुःख का अभाव हो जाता है। हे राम जी ! संसार (आवागमन) एक दीर्घ रोग है. तिस के नाश करने का विचार ही औषधि है। जिसको विचार की प्राप्ति हुई, तिसके मुख की कान्ति उज्ज्वल हो जाती है। जैसे पूर्णमाशी के चन्द्रमा की उज्ज्वल कांति होती है, तैसी कांति, विचारवान पुरुष के मुख की होती है।

हे राम जी ! जिसको करके परम-पद की या परम-अर्थ की सिद्धि होती है, तिसका नाम विचार है। जिसे करके अनर्थ की सिद्धि होवे, तिसका नाम अविचार है। अविचार रूपी मदिरा का जो पान करता है, सो उन्मत्त हो जाता है। फिर उसे कोई भी शुभ विचार नहीं होता और शास्त्र के अनुसार जो क्रिया है, सो भी उससे नहीं होती। अविचार से परम-पद की अर्थ-सिद्धि नहीं होती। हे राम जी ! इच्छा रूपी रोग विचार रूपी औषधि से निवृत्त होता है। जिन पुरुषों ने विचार द्वारा परमार्थ का आश्रय लिया है, सो परम-शान्त हो जाते हैं। फिर उसकी

संसार के प्रति नीच बुद्धि नहीं रहती । वह संसार को साक्षीभूत होकर देखता है। संसार के भाव-अभाव विषय, उदय अस्त से रहित निःसंग रूप से वह ज्यों का त्यों रहता है । जैसे समुद्र जल से परिपूर्ण है, तैसे विचारवान, आत्म-तत्त्व से पूर्ण रहता है । जैसे कूप में पड़ा हुआ अन्धा हाथों के बल से बाहर निकलता है, तैसे संसार रूपी अन्ध-कूप में गिरा हुआ विचार के बल से विचारवान पुरुष निकलने में समर्थ होता है।

हे राम जी ! राजाओं को जब कोई कष्ट आय प्राप्त होता है, तब वे विचार करके यतन करते हैं, तब उनका कष्ट निवृत्त हो जाता है । ताते तू विचार करके देख ! जिस किसी को कष्ट प्राप्त होता है, सो विचार से ही उसका कष्ट दूर होता है । ताते आप भी विचार का आश्रय करके, सिद्धि को प्राप्त करो । विचार की प्राप्ति के लिए, वेद और वेदान्त के सिद्धान्तों का श्रवण करो । जब श्रवण या पाठ करके भली प्रकार विचारोगे, तब विचार की दृढता से आत्म-तत्त्व को प्राप्त हो जावोगे । जैसे प्रकाश के पदार्थ का ज्ञान होता है । तैसे शास्त्र और गुरू के वचन से तत्त्व का ज्ञान होता है, अन्धे को प्रकाश के होने पर भी पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती, तैसे गुरू और शास्त्र के वचन से शून्य पुरुष को, आत्म पद की प्राप्ति नहीं होती । जो विचार रूपी नेत्र से सम्पन्न हैं, सोई आत्मा को यथार्थ रूप में देखते हैं परन्तु जो विचार रूपी नेत्र से रहित हैं, सो अन्धे हैं ।

हे राम जी ! जिनको विचार दृष्टि प्राप्त हुई है, उन को ही सब पदार्थ का ज्ञान होता हैं । विचार से आत्म-पद की प्राप्ति होती है और तिसके पाए से परिपूर्ण होता है तथा

फिर शुभ-अशुभ संसार में उस की बुद्धि चलायमान नहीं होती है। जब तक प्रारब्ध कर्मों का वेग होता है, तभी तक शरीर की चेष्टायें होती हैं। जब तक अपनी इच्छा होती है तभी तक अविचारवान, आत्म-ज्ञानी पुरुष शरीर की चेष्टायें करता है। बहुर शरीर को त्याग कर केवल शुद्ध ब्रह्म-रूप में समा जाता है। ताते हे राम जी! ब्रह्म-विचार के आश्रय से तू भी संसार समुद्र से पार हो जा। जो रोगी होता है, सो इतना रुदन नहीं करता, जितना रुदन विचारहीन पुरुष करता है। जिसको कष्ट होता है, सो भी इतना रुदन नहीं करता, जितना रुदन विचार शून्य पुरुष करता है जैसे सभी नदियां स्वभाव से समुद्र में आय प्रवेश करती हैं, तैसे ही विचार-शून्य पुरुष में सभी आपदायें आ कर प्रवेश करती हैं

हे राम जी! कीच का कीट होना, मार्ग का कन्टक बनना और बिल का सर्प होना सो तो भला है, परन्तु जो विचार से रहित होकर भोगों में दौड़ता है, सो स्वान के समान है। ताते हे राम जी! विचार से रहित एक क्षण भी नहीं रहना। विचार से दृढ़ होकर निर्भय रहना और विचार करना कि मैं कौन हूँ तथा दृश्य जगत क्या है? ऐसा विचार करके सत्-स्वरूप आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना और दृश्य जगत का त्याग करना चाहिये।

हे राम जी! जो विचारवान है, सो संसार के भोगों में नहीं गिरता। वह पुरुष सत्य में ही स्थित होता है। जब विचार स्थित रहता है, तभी तत्व-ज्ञान होता है और तत्व-ज्ञान के होने से विश्राम मिलता है। विश्राम से चित्त में समता

आती है और समता बुद्धि होने पर सब दुःखों का नाश होता है । समता से ही प्रेम की जागृति होती है और प्रेम ही परमात्मा का स्वरूप है । "Love is God, God is Love."

"प्रेम ही परमात्मा है और परमात्मा ही प्रेम है"

साहिब का घर दूर है, अति सांकरी गैल ।
पाँव न पड़े पिपीलिका, तें कित लाद्यो बैल ॥
जब लगि मरने से डरे, तब लगि प्रेमी नाहीं ।
बड़ी दूर घर प्रेम का, समझो मन के माहिं ॥
बिना विचारे जो करे, सो पीछे पछताय ।
काम बिगाड़े आपनो, जगमें होय हंसाय ॥

—: प्रेम :—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं ।
शीश उतारे भुई धरे, तब बैठे घर माहिं ॥
प्रेम न बाड़ी ऊपजे, प्रेम न हाट बिकाय ।
राजा प्रजा जेहि रुचे, शीश दिये ले जाय ॥
प्रेम पियाला भरि पिया, रांचि रहा गुरु ज्ञान ।
दिया नगाड़ा शब्द का, लाल खड़े मैदान ॥
छिनहिं चढ़े छिनहि उतरे, सो तो प्रेम न होय ।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावे सोय ॥
आया प्रेम कहां गया, देखा था सब कोय ।
छिन रोवे छिन में हँसे, सो तो प्रेम न होय ॥

प्रेम पियारे लाल सों, मन दे कीजे भाव ।
सद्गुरु के प्रसाद से, भला बना है भाव ।।
जा घट प्रेम न संचरे, सो घट जान मसान ।
जैसे खाल लुहार की, स्वाँस लेत बिन प्रान ।।
प्रेम बिना धीरज नहीं, विरह बिना वैराग ।
सद्गुरु बिन जावे नहीं, मन मन्सा का दाग ।।
प्रेम तो ऐसा कीजिये, जैसे चन्द चकोर ।
चोंच टूटी भूई में गिरै, चितवै ताहि ओर ।।
अधिक सनेही माछरी, दूजा अल्प स्नेह ।
जबहि जल ते बीछरे, तब ही त्यागे देह ।।
जहाँ प्रेम तहाँ नेम नहीं, यहाँ न बुद्धि व्योहार ।
प्रेम मगन जब मन भया, तब कौन गिने तिथि वार ।।
प्रेम छिपाया ना छिपै, जा घट प्रगट होय ।
जो पै मुख बोले नहीं, नैन देत हैं रोय ।।
प्रेम भाव एक चाहिये, भेष अनेक बनाय ।
भावे गृह में बास कर, भावे वन में जाय ।।
प्रेमी ढूँढ़त मैं फिरूँ, प्रेमी मिला न कोय ।
प्रेमी से प्रेमी मिले, गुरु भक्ति दृढ़ होय ।।
कबीर हम गुरु रस पिया, बाकी रहे न छाक ।
पाका कलस कुम्हार का, बहुर न चढ़सी चाक ।।
सबै रसायन मैं किया, प्रेम समान न कोय ।
रंचक तन में संचरे, सब तन कंचन होय ।।
प्रेम दीवाने जो भए, मन भया चकनाचूर ।
छके रहें घूमत रहें, सहजो देख हज़ूर ।।

प्रेम दीवाने जे भए, कहें बहकते बैन ।
सहजो मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपके नयन ।।
प्रेम दीवाने जे भये, जाति वर्ण गई छूट ।
सहजो जग बौरा कहे, लोग गये सब रूठ ।।
प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर सरिस बखान ।
जो आवत येहि ढिग बहुरि, जात नही रसखान ।।
बिन गुण जोवन रूप धन, बिनु स्वार्थ हित जान ।
शुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखान ।।
चाहन हारे सुख-सम्पत्ति के, जग में मिलन घनेरे ।
कोऊ एक मिलत कहुं प्रेमी, नगर-नगर सब हेरे ।।
शीश काट पृथ्वी धरे, ता ऊपर रक्खे पाँव ।
प्रेम नगर के बीच में, ऐसा होतो आव ।।

परोपकार

परोपकाराय संता विभूतियः ।

दूसरों का संकट दूर करने के लिए परिश्रम करना ही श्रेष्ठता या परोपकार करना सज्जनों एवं सन्तों का लक्षण है। वे संकट जिस महत्व के होंगे, उनसे आगे सहायता करने वाले की श्रेष्टता भी उतनी ही अधिक होगी। यदि हमने किसी का एक घड़ी भर का संकट दूर कर दिया, तो यह भी हमारा अच्छा ही कार्य है । जैसे किसी का कांटा निकाल देना, प्यासे को जल पिला देना, भूखे को अन्न खिला देना भी अच्छा ही कार्य होता है परन्तु यदि कहीं हमने

एक वर्ष के लिए किसी की सहायता की, तो उस हिसाब से हमारी इस सहायता का श्रेय भी अधिक हुआ। इसी प्रकार यदि और भी अधिक समय के लिए हमने किसी का कष्ट दूर किया, तो पूछना ही क्या है ? परन्तु हमारा अन्तकाल में मृत्यु-दुःख सर्वथा नष्ट करने की शक्ति केवल अध्यात्म-विद्या में ही है। इसीलिए भगवान् श्री कृष्ण जी ने "अध्यात्म-विद्या विद्यानाम्" कह कर उस विद्या को प्रत्यक्ष परमेश्वर की सीढ़ी तक पहुँचा दिया है। अन्य किसी विद्या की शक्ति कुछ थोड़े से काल के आगे नहीं जाती। मनुष्य देह में सदैव वास करने वाली इच्छा और आशा तथा उनसे उत्पन्न होने वाली अतृप्ति का समूल नाश करके, उसको स्वःआनन्द-साम्राज्य के पद पर आरूढ़ करने की शक्ति केवल अध्यात्म-विद्या में ही है। ऐसी दशा में अध्यात्म-ज्ञान-दान के समान बड़ा पुण्य कार्य दूसरा और कौन हो सकता है ? अध्यात्म-ज्ञान दान का महत्व स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् जी ने इस प्रकार वर्णन किया है:—

य इदं परं गुह्यम् मद्भक्तेष्वभिधास्यतिः।
भक्ति मयि परां कृत्वा मामेवैष्यस्यसंशयः॥

परमार्थ-मार्ग दिखलाने वाले महात्मा ही मानव जाति के सच्चे हित-चिन्तक होते हैं। हम देखते हैं कि ऐसे महात्माओं में अनुपम शक्ति वास करती है। इस संसार में हम जो करते हैं, सब अपनी चित्त-शक्ति के बल पर करते हैं। इस शक्ति के बिना यह देह मानो केवल मिट्टी का पिण्ड है। इसलिए जो मनुष्य अपनी इस शक्ति का अनुभव अच्छी तरह कर लेता है,

वह सभी कार्यों को उचित रीति से करने के योग्य बन जाता है। फिर वह कार्य लौकिक हो, पारलौकिक हो, अथवा अन्य किसी प्रकार का भी हो। जो मनुष्य अपने में सदैव वास करने वाली आत्म-शक्ति का अनुभव नहीं कर पाता, वह स्वार्थ और परमार्थ दोनों के लिए अनुपयोगी सिद्ध होता है। अध्यात्म-ज्ञान के बाद यदि कोई ज्ञान उपयोगी है, तो वह बौद्धिक ज्ञान है। बौद्धिक ज्ञान-दान, वस्त्र-दान अथवा अन्न-दान से बहुत अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि मानव-जीवन का मुख्य कर्त्तव्य जो पुरुषार्थ सम्पादन करना है वह ज्ञान के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। जिसने कोई भी पुरुषार्थ सम्पादित नहीं किया, उसका जीना, मरना बराबर है। आपही सोचिए कि अज्ञान और उससे उत्पन्न होने वाली दुःख-परम्परा के योग से जो मनुष्य किसी न किसी तरह अपना जीवन व्यतीत करता है उस जीवन का वास्तव में क्या महत्व है? इन तीनों के बाद ही शारीरिक सहायता का नम्बर आता है। अपने शारीरिक बल से दूसरे की सहायता करना और उसको लाभ पहुँचाना, यह भी एक प्रकार का दान है, परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि दूसरों का दुःख निवारण करने के लिये केवल शारीरिक सेवा करना ही कोई बड़ा महत्व का कार्य है। वास्तव में केवल शारीरिक सहायता करना बिल्कुल निम्न श्रेणी की सहायता है। क्योंकि उससे केवल तात्कालिक लाभ होता है। उस सेवा का कोई भी सदा रहने वाला स्वरूप नहीं होता। भूख लगने पर किसी को भोजन देने से तात्कालिक सुख तो उसे अवश्य होगा, पर फिर तुरन्त ही उसे भूख लगेगी और उसके साथ-साथ दुःख

भी तैयार ही है,बस ! यही हाल अपनी अन्य आवश्यकताओं का भी समझना चाहिए। कोई आवश्यकता उत्पन्न हुई कि उस के पीछे-पीछे उसका बचा दुःख मौजूद ही है। यदि सचमुच हमें सुख प्राप्त करना है, तो किसी प्रकार की आवश्यकता हमारे सामने नहीं होनी चाहिए। जिस दिन हमारी सब आवश्यकतायें मिट जायेंगी, बस ! उसी दिन हम सच्चे सुखी होंगे। उस दशा में हमें भूख की बाधा नहीं सतावेगी और न संसार को कोई भी बात हमें अपने पद से हटा सकेगी। इसी प्रकार की दशा प्राप्त होने के योग्य जो सहायता हमें मिलेगी वही अत्यन्त श्रेष्ठ सहायता समझनी चाहिए। उसके नीचे बौद्धिक और उससे भी नीचे शरीरिक सहायतायें हैं। संसार में जो दुःख दिखाई देता है, वह केवल शारीरिक सहायता से कभी नष्ट नहीं हो सकता। इस समय जो मनुष्यों का स्वभाव हम देखते हैं, वह जब तक बिल्कुल न बदल जावे, तब तक अनेक प्रकार की आवश्यकतायें भी बनी ही रहेंगी। यदि वे पूरी न होंगी तो दुःख प्राप्त हुए बिना कदापि नहीं रह सकता और केवल शारीरिक सहायता से ऐसे दुःखों की निवृति सदव के लिए कभी नहीं होगी। सच्चे ज्ञान-दान से चित्त की शुद्धि करना ही इस रोग की राम बाण औषधि है। एक महात्मा ने चित्त शुद्धि की महान महिमा वर्णन की है। वह कहता है कि यदि चित्त शुद्ध है, तो शत्रु भी मित्र हो जाते हैं और सर्प तथा बाघ भी प्रेम की दृष्टि से देखते हैं।

संसार के सब पापों और दुःखों की उत्पत्ति अज्ञान से हुई है। सत्य-ज्ञान प्राप्ति से जिस दिन मनुष्य मात्र को अपनी

चैतन्य-शक्ति का परिचय होगा और उसमें पूर्ण आत्म-विश्वास उपजेगा. उसी दिन मानव जाति पूर्ण सुखी होगी। इसके पहले उस स्थिति की आशा भी नहीं करनी चाहिए। राष्ट्र का प्रत्येक घर चाहे सदावर्त बन जाये और प्रत्येक घर के पीछे एक निःशुल्क औषधालय भी खुल जाये, पर इससे मानव जाति की यह दुर्दशा कभी मिट नहीं सकती। मनुष्य जाति का आज जो स्वभाव दिखाई देता है, जब तक बिल्कुल न बदल जावे, तब तक यह दशा बनी ही रहेगी। श्री कृष्ण भगवान् ने गीता में जगह-जगह कहा है कि मनुष्य को नित्य-कर्म करना ही चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण जी का यह निश्चित मत है, कि कर्मण्यैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादियः। हमारे प्रत्येक कर्म से सुख और दुःख की मिश्रित उत्पत्ति होती रहती है। आप कोई भी कर्म लीजिए, उससे किसी को सुख और किसी को दुःख अवश्य होगा, ऐसा एक भी काम नहीं हो सकता कि जिससे किसी को सुख अथवा दुःख न हो। प्रत्येक कर्म के गर्भ से सुख और दुःख की मिश्रित सन्तति उपजती रहती है। तदपि ऐसा होने पर भी हमें कर्मों को करना ही चाहिए। यदि कोई यह समझे कि जब कर्मों से सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है, तब यदि कर्मों को न किया जावे तो सुख-दुख के द्वंद से मुक्त हो सकते हैं, पर यह उसका केवल भ्रम है। प्रत्येक कर्म जिस हिसाब से अच्छा अथवा बुरा होगा, उसी हिसाब से उससे सुख अथवा दुःख की उत्पत्ति होगी। सत्कर्म से सुख और दुष्कर्म से दुःख उपजता है। तथापि दुःख जिस प्रकार आत्मा को बान्धने वाला है, वैसे ही सुख भी बान्धने वाला है। यद्यपि

यह बात अनुभव की है कि सत्कर्म से सुख होता है तथापि वह सुख, कर्मों से नवीन उत्पन्न नहीं होता है। वास्तव में वह सुख अपने पास ही होता है, जो कि सत्कर्म के द्वारा अपने अनुभव में आता है। सत्कर्म से सुख उत्पन्न होता है। जब तक यह भ्रम कुछ भी बाकी है तब तक सुख-दुख के द्वन्द्वों से आत्मा की मुक्ति नहीं हो सकती। इसीलिए भगवान् श्री कृष्ण जी के मतानुसार यह भावना छोड़ ही देनी चाहिए, कि "मैं कर्म अमुक करता हूँ, अमुक कर्म करूँगा और इससे मुझे अमुक प्रकार के सख की प्राप्ति होगी।" जब कि कर्म करने के लिए आदेश है तब उसे करना तो अवश्य चाहिए परन्तु यह भावना छोड़ देनी चाहिए कि उससे हमें सुख की प्राप्ति होगी। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्" मनुष्य का कर्म करने में तो अधिकार है, पर फल पाने में अधिकार नहीं है। इसका मतलब यह है कि 'कर्म तो करना चाहिए, पर उसमें फल की आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। "अब इस बात का विचार करेंगे कि अनासक्ति क्या है ? भगवद्गीता का एक यह मुख्य-प्रतिपादन है कि प्रत्येक कर्म अनासक्ति से करना चाहिए। कर्म तो प्रत्येक को करना ही है, पर उसे फल की इच्छा न रखते हुए ही करना चाहिए।

प्रत्येक प्राणी में किसी न किसी प्रकार के जन्म-जात संस्कार रहते हैं। मन से तालाब की यदि तुलना की जाय, तो तालब के पानी में जिस प्रकार छोटी-छोटी लहरें उठती हैं, उसी प्रकार मन में भी बराबर लहरें उठती रहती हैं। मन की लहरों को चाहे किसी समय अनुभव न किया जा सके, तथापि

वे समूल कभी नष्ट नहीं होतीं किन्तु गुप्त रूप से मन में ही रहती हैं और कोई कारण पाकर तुरन्त ही वे फिर उठने लगती हैं। इसी गुप्त रूप को संस्कार की संज्ञा दी गई है। हम जितनी क्रिया करते हैं अथवा जितने भी विचार मन में लाते हैं, सब का प्रभाव मन पर पड़ता है। यह प्रभाव मन में छिपा बैठा रहता है और उस गुप्त स्थिति में ही मन के चलने की क्रिया जारी रहती है। हमारे वर्तमान व्यवहारों में जो कुछ स्वरूप हमारे अनुभव में आता है, वह इन अनेक प्रकार के संस्कारों की घटनाओं से उत्पन्न हुआ होता है। इसी स्वरूप को नित्य-व्यवहार में हम स्वभाव कहा करते हैं। अब मैं स्वयं जिस किसी स्वरूप से आप लोगों को दिखलाई देता हूँ, मेरा यह स्वरूप पूर्ण संस्कारों की घटनाओं से ही उत्पन्न हुआ है। प्रत्येक मनुष्य के इस स्वभाव-विशेष को ही चरित्र कहते हैं। पूर्व-संस्कार यदि अच्छे होते हैं, तो मनुष्य अच्छे चरित्र का और बुरे संस्कारों से बुरे चरित्र का होता है, यदि कोई मनुष्य नित्य बुरे शब्द सुनता रहेगा, मन में नित्य बुरे विचार लाता रहेगा और नित्य बुरे कार्य करता रहेगा, तो उसके संस्कार भी बुरे ही होंगे तथा ऐसे संस्कारों से जो चरित्र बनेगा, वह भी बुरा ही होगा। किसी प्रकार के बुरे संस्कारों की आदत जब एक बार मन में पड़ जाती है, तब उसे बुरे कर्मों की बुराई भी दिखाई नहीं देती फिर ऐसे मनुष्य के हाथों से बुरे काम स्वाभाविक ही होते रहते हैं। फिर आगे चल कर इन संस्कारों की प्रबलता इतनी बढ़ जाती है, कि वह किसी बुरी बात को जान-बूझ कर करने में भी प्रवृत्त हो जाता है। बुरे संस्कारों की प्रबलता के

आगे अच्छी वृत्तियों का कोई भी जोर नहीं चलता। पर अच्छे विचार लाने वाले और अच्छे काम करने वाले मनुष्यों के अच्छे संस्कार उससे उत्तरोत्तर अच्छे कार्य कराते हैं। अच्छे संस्कारों से उसके चरित्र का स्वरूप इतना पक्का बन जाता है कि कोई बुरा कर्म करने का विचार यदि क्षण भर के लिए भी उसके मन में आता है, तो उसका शरीर वह कर्म करने के लिए, आगे बिल्कुल ही नहीं बढ़ता। जब ऐसी दशा हो जाय, तभी समझना चाहिए, कि मनुष्य का चरित्र पक्का हो गया।

कछुए में अपने अंगों को अपने अन्दर समेट लेने की शक्ति होती है। उस की पीठ पर चाहे कितना ही ताड़न करो, पर कछुआ अपने निग्रह से अपने अंगों को बाहर नहीं आने देता। बस इसी प्रकार जिस मनुष्य का अपनी इन्द्रियों पर अधिकार हो जाता है, तब वह भी कछुए की तरह निग्रह करके अपनी इन्द्रियों से कोई भी बुरा काम नहीं होने देता। भगवान् श्री कृष्ण का वचन है :—

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्दियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

सदैव सद्-विचार रख कर, सत्-क्रिया के आचरण से उत्पन्न होने वाले संस्कारों की प्रबलता से जो चरित्र बनता है, उस की सहायता से इन्द्रिय-निग्रह करना बहुत कठिन नहीं होता। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इस जगह इन्द्रिय शब्द से केवल दृश्य और जड़ इन्द्रियों का ही निर्देश किया है। क्योंकि केवल जड़ शरीर को जगह पर से न हिलाते हुए भी

यदि नित्य बुरी बातों का चिंतन किया जाएगा, तो चरित्र बिगड़ने में विलम्ब नहीं लगेगा। इसलिए कर्मेन्द्रियों के साथ-साथ ज्ञानेन्द्रियों का निग्रह भी आवश्यक है। इन्द्रिय-निग्रह के पक्के हो जाने पर मनुष्य को स्थित-प्रज्ञ कह सकते हैं और स्थित-प्रज्ञ की ही सत्य से भेंट होती है। फिर यह द्वंद्वातीत होकर बिल्कुल सुरक्षित जगह में जा बैठता है। फिर उसके हाथ से कोई भी बुरा कार्य होना असम्भव ही नहीं, अति असम्भव होता है। संसार के अत्यन्त दुष्ट नर-पशुओं का घेरा चाहे उसके आस-पास पड़ा रहे, तो भी उसके चरित्र में कुछ परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार की स्थिति को ब्राह्मी-स्थिति कहते हैं। यह स्थिति जहाँ एक बार प्राप्त हो गई, कि फिर मनुष्य किसी प्रकार के मोह में न पड़ते हुए मुक्त-अवस्था में प्रवेश करता है। बस! यही मुक्त-अवस्था जो सम्पूर्ण योगों का ध्येय है, प्राप्त करनी है। प्रत्येक योग के दिखलाए हुए मार्ग चाहे भिन्न-भिन्न दीख पड़ें, पर उन सबका योग एक ही जगह होता है। ज्ञान-योग से बुद्ध को अथवा भक्ति-योग से ईसामसीह को जो स्थिति प्राप्त हुई है वह स्थिति केवल कर्म-योग से भी चाहे जो मनुष्य प्राप्त कर सकता है। बुद्ध ज्ञानी होकर भी कर्म-योगी थे और ईसामसीह शुद्ध भक्त थे, परन्तु दोनों को एक ही स्थिति की प्राप्ति हुई। अब यहाँ पर इस बात का थोड़ा सा खुलासा करना आवश्यक है, कि यह मुक्त अवस्था क्या है? सुख-दुःख, पाप-पुण्य, सत्कर्म-दुष्कर्म इत्यादि जो द्वंद हम सदैव देखते हैं, उनसे जो अलग हो गया है वही मुक्त है। जिस प्रकार दुःख, पाप और दुष्कर्म मुक्ति के लिये बाधक हैं, उसी

प्रकार सुख, पुण्य और सत्कर्म भी सच्ची मुक्ति में बाधा डालते हैं। एक को लोहे की जंजीर से और दूसरे को सोने की शृंखला से बाँधिये, पर दोनों के बन्धन का बन्धन-स्वरूप वास्तव में समान ही है। बस ! इसी प्रकार पुण्य-कर्म करके सुख भोगने वाला मनुष्य और दुष्कर्म करके दुःख भोगने वाला मनुष्य, दोनों मुक्ति की दृष्टि से समान ही बन्धन-युक्त हैं। अपने पैर में लगे हुए कांटे को निकालने के लिए जैसे हम दूसरे कांटे का उपयोग करते हैं और काम हो जाने पर, जिस प्रकार वे दोनों ही कांटे फेंक देते हैं, उसी प्रकार अपने मन को दुष्कर्म की ओर से हटाने के लिए ही हमें सत्कर्म का उपयोग करना है। जहाँ मन एक बार दुष्कर्मों की ओर से हट गया, कि फिर सत्कर्म का भी हमारे लिए कोई उपयोग नहीं रहता। सत्कर्म से भी फिर हमें अपने मन को रोकना पड़ेगा। किसी भी कर्म के करने की आवश्यकता का मालूम न होना ही अनासक्ति है। कर्म करो ! परन्तु मन पर उस का कोई विशेष प्रभाव न होने दो। जिस प्रकार किसी तालाब के ऊपरी भाग पर लहरें आती हैं और चली जाती हैं, पर लहरों से तालाब की शांति भंग नहीं होती। उसी भांति भगवान् श्री कृष्ण कहते हैं, कि तुम कर्म करते हुए भी अपने मन को विचलित न होने दो। पर हम जो कुछ कर्म करेंगे, उनका कुछ न कुछ दुःख-सुख का प्रभाव हमारे मन पर अवश्य ही पड़ेगा, यह हमारा नित्य का अनुभव है। इसीलिए अब हमें इस बात पर विचार करना चाहिये कि यह अनुभव रहते हुए भी आज की स्थिति में जो बात हमें असम्भव जान

पड़ती है वह असम्भव बात कैसे सिद्ध की जा सकती है ? इसलिए भगवान् श्री कृष्ण का उपदेश है कि तुम जो कुछ भी कार्य करो, अलिप्त चित्त से करो । कर्म के संस्कारों को अपने मन में बार-बार मत आने दो । तुम्हारी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ बराबर कर्म में लगी रहनी चाहिये परन्तु उस उद्योग का प्रभाव तुम्हारे मन पर नहीं पड़ना चाहिये । जैसे हम किसी के घर पर मेहमान के तौर पर जाकर जिस दृष्टि से उस घर की वस्तुओं को देखते हैं, उसी दृष्टि से हमें संसार के सम्पूर्ण पदार्थों को देखना चाहिये । तुम सदा उद्योग अवश्य करते रहो परन्तु इनमें लिप्त मत हो जाओ । केवल उद्योग करना बाधक नहीं है । संसार में लिप्त होना ही परमार्थ मार्ग में बाधक है ।

एक समय मैं किसी के घर में गया था । मैंने वहाँ अनेकों मनुष्यों को भी देखा था परन्तु एक प्रेमी के सिवाय मैंने किसी का स्मरण नहीं किया । यदि बाह्य दृष्टि से देखा जाये तो मेरे नेत्रों से सभी रूप एक समान चित्रित हुए थे । किन्तु मुझे स्मरण एक का ही होता है । इसका कारण यह है कि एक के सिवाय बाकी रूप मैंने पहले कदाचित् ही देखे थे । इसी कारण उनके विषय में मेरे मन में कोई भी पूर्व संस्कार नहीं था । जिस पर मेरा स्नेह था उस प्रेम-पात्र की बात अलग है । उसे मैंने पहले कई बार देखा था । अतएव उसके विषय में कुछ पूर्व संस्कार मेरे मन में पहले ही से मौजूद थे । पहले अनेक प्रसङ्गों में उस मनुष्य के विषय में सैंकड़ों बातें मेरे कानों में आई थीं और सैकड़ों ही बातें मैंने उसके प्रति स्वयं अपने

चित्त में तैयार की थीं। इसीलिए उस विशिष्ट दिन उसकी प्रतिमा मेरे चित्त में प्रविष्ट होते ही उसे वहां पुराने संस्कार मिल गए। तब उसकी याद उन संस्कारों के सहवास में बनी रह गई। पहले यह सारा कल्पना समूह मेरे चित्त में सोया हुआ था। उस मनुष्य के रुप की प्रतिमा का आघात मेरे चित्त पर होते ही निद्रित कल्पना समूह एकदम जाग्रत हो उठा। उस प्रेमी ने भी इस नवीन मेहमान का प्रेम-पूर्वक स्वागत किया था। इसी बात से यह सिद्ध होता है कि जो बात किसी न किसी कारण से बार-बार मन में आती रहती है, वह मन में अच्छी प्रकार से जम जाती है और किसी काल में थोड़े आघात से भी जागृत हो उठती है।

मुझे, मेरे नित्य-कर्म में सैकड़ों ही मनुष्य मिलते हैं। पर मान लो उन सब में से किसी एक पर मेरा प्रेम हो जाता है, रात के समय जब मैं अपने बिछोने पर लेट कर दिन में देखे हुए मनुष्यों को याद करने लगता हूँ तो उस के सिवाय जिस पर मेरा प्रेम है, अन्य किसी मनुष्य का भी रुप मेरे ध्यान में नहीं आता। इसका कारण यही है कि जिस मनुष्य पर मेरा प्रेम है उसका रुप मेरे हृदय-पटल पर अंकित हो गया है। वह प्रतिमा मेरे चित्त पर ऐसी अंकित हो गई है कि सहसा वह वहाँ से निकल कर नहीं जा सकती। बाकी के देखे हुए सैंकड़ों रूपों पर मेरे मन की आसक्ति न होने के कारण उनके रूप मेरे हृदय पर अंकित नहीं हुए। इसी कारण मैं उसी का हूं जिस पर मेरा प्रेम है और वह मेरा है जिसका कि मुझ पर प्रेम है। यह लिप्तता प्रभु-प्रेम में बाधक है।

सन्त तुलसीदास जी कहते हैं —

या जग में जेहि लगि या तन की, प्रीत प्रतीति सगाई।
सो सब तुलसी प्रभु ही सों, सिमट होय एक ठाँई।

इस संसार में हम सदैव के लिए रहने नहीं आये हैं, संसार तो हमारी यात्रा में बीच का एक मुकाम है। इस प्रकार भी हम अनेक स्थानों पर मुकाम कर चुके हैं और आगे भी न जाने कितनी जगहों पर मुकाम करना है। यह आने-जाने और ठहरने का चक्र न जाने कब से लगा हुआ है। यों तो यह सारी सृष्टि आत्मा के कारण उत्पन्न हुई है पर यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिये कि आत्मा सृष्टि से उत्पन्न नहीं हुआ है। जीव-आत्मा की शिक्षा के लिए ही सारी सृष्टि दृश्य-रूप में प्रगट हुई है। इसके सिवाय इसके प्रकट होने का दूसरा कोई भी हेतु नहीं है। सृष्टि-उद्देश्य यही है कि जीव-आत्मा को सत्य-ज्ञान हो जावे और उस सत्य-ज्ञान के योग से जीव मुक्ति को प्राप्त हो। संसार जड़, असत्य, स्वपनवत् बदलने वाला तथा नाशवान है और परमात्मा सत्-चित्त-आनन्द स्वरूप है। सृष्टि रूपी ग्रन्थ पढ़कर (देखकर) जीव-आत्मा को नित्य परमात्मा का ज्ञान हासिल करके ज्ञानी बनना चाहिये और बाद में संसार रूपी ग्रन्थ को अलग रख देना चाहिए। किन्तु हम ने ऐसा न करते हुए अपनी दशा को बिल्कुल उलटा बना लिया है। हम अपने को स्वतन्त्र न समझते हुए ऐसा समझ बैठे हैं, कि हम भी सृष्टि के अन्य पदार्थों की तरह ही एक घटक (घड़ा) हैं। ऐसा समझ बैठे हैं कि जैसे देह के लिये ही आत्मा की योजना हुई हो और देह की

रक्षा करना तथा देह को सुखी रखना ही आत्मा का कर्म हो। आज के समय में लोगों ने देह को सुखी बनाने के कार्यों को ही परोपकार और परमार्थ समझा हुआ है। जब हमें किसी के बहुत खाने की हंसी करनी होती है तब अंग्रेजी की एक कहावत का प्रयोग किया जाता है, जिस का भावार्थ यह है कि अमुक व्यक्ति जीने के लिए नहीं खाता, बल्कि खाने के लिए ही जीता है। हम लोग यदि अपने जीवन को देखें तो उस पेटू मनुष्य से हमारी दशा कुछ बहुत ऊँची नहीं है। आश्चर्य की बात यह है कि हम अपने सदैव के इस बर्त्ताव से सम्पूर्ण जीवन की हँसी करा रहे हैं। चूँकि हमारी यह भावना दृढ़ हो गई है कि हम भी सृष्टि के पदार्थों में से एक हैं, इसलिये भाई-चारे के नाते से इन पदार्थों में लिप्त हो जाते हैं। जब एक बार हमें इस लिप्तता ने घेर लिया कि बस ! फिर जीव-आत्मा दृढ़ता पूर्वक बन्ध कर गुलाम की तरह कार्य करने लगता है। गीता के इस आदेश के अनुसार कि "सदैव कर्म करो," हम कर्म तो सदैव ही करते हैं किन्तु यह कर्म हम स्वयं मालिक बन कर न करते हुए गुलाम बन कर करते रहते हैं। यही कारण है कि कर्म-योग का उद्देश्य जो मोक्ष पाना है, उससे वंचित रहकर दिनों-दिन मोक्ष से दूर होते जा रहे हैं।

कर्म-योग का मुख्य उपदेश तो यह है कि कर्म तो अवश्य करो, पर स्वतन्त्र होकर कर्म करो। यह कभी मत भूलो, कि तुम्हारे कर्मों का अन्तिम परिणाम मोक्ष प्राप्ति है। हम अपने आस-पास सौ में से नब्बे लोगों को कर्मों में ही लगे देखते हैं। पर यदि आप इस बात का ख्याल करें, कि यह लोग किस

प्रकार कर्म करते हैं, तो आप को प्रत्यक्ष यह मालूम हो जाएगा कि केवल शरीर को सुख पहुँचाने की अभिलाषा के गुलाम बन कर कर्म करते हैं। इस प्रकार की दासता के कारण ही चारों ओर रुदन-स्वर सुनाई पड़ रहा है। इसलिये तुम मोक्ष-प्राप्ति के लिए स्वदेह को भूल कर और देह सुख-अभिलाषा की बुद्धि को एक ओर रखकर आत्म-प्रेम से पूर्ण हो कर कर्म करो। ऐसी स्थिति को अनासक्ति-योग कहते हैं।

प्रेम शब्द एक ऐसा है जो प्रत्यक्ष मालूम होने योग्य नहीं है। पूर्ण स्वतन्त्रता के बिना सच्चा प्रेम होना असम्भव है। आप किसी मनुष्य को गुलाम की तरह मोल ले लीजिये और उसके हाथ पैरों को बान्ध कर उससे काम लीजिये। काम तो वह अवश्य करेगा, पर क्या आप के प्रति उसके मन में प्रेम हो सकता है? इसी भांति जीवात्म स्वयं ही इन्द्रियों का गुलाम बन गया है। केवल इन्द्रियों के लिए कर्म करते रहने से इसके चित्त में प्रेम होना असम्भव है। इन्द्रिय-सुख के लिए तो यह चाहे जिस किसी का गला काटने के लिए तैयार हो जाता है। ऐसा मनुष्य चाहे जितना भी उद्योग करे, तात्विक दृष्टि से सच्चे कर्म की योग्यता उसके उद्योग में नहीं आ सकती। चाहे उसने अपने लिये प्रयत्न किये हों, अथवा अपने कुटुम्बियों के लिए कार्य किए हों, परन्तु सच्चे कर्म की योग्यता की दृष्टि से उनके कार्यों की कुछ भी कीमत नहीं हो सकती। जब तक हमारे कर्म अपने सुख की अभिलाषा की प्रेरणा से किये जा रहे हैं, तब तक यह कर्म उस गुलाम के कर्मों के समान ही है। सच्चे प्रेम से प्रेरित होकर जो कर्म किये जाते हैं, उस

का प्रति फल हमें पूर्ण सुख के रूप में मिलता रहता है, ऐसा एक भी प्रेम-प्रेरित कार्य नहीं हैं, जिससे हमारे चित्त को शान्ति तथा उससे उत्पन्न होने वाले सुख की प्राप्ति नहीं होवे सदा रहने वाले चैतन्य, ज्ञान और प्रेम का सदैव एक ही जगह वास रहता है। मानो यह तीनों एक ही जान हो गये हैं। इन तीनों में से यदि कहीं तुम्हें एक मिलेगा, तो बाकी दोनों भी वहीं मिलने चाहिए। वास्तव में यह तीनों एक ही मूल के तीन अङ्ग हैं, एक जल की ही तीन तरंगें हैं। उस मूल रूप का नाम सच्चिदानन्द है। सत् हमें प्रत्यक्ष सृष्टि के रूप में सुसज्जित (सजा हुआ) दिखाई दे रहा है। चित् सृष्टि के पदार्थों के ज्ञान से दिखाई देता है और प्रत्येक सजीव के हृदय में जो प्रेम अंश दिखाई देता है उसकी उत्पत्ति आनन्द से हुई है। इसलिए सच्चे प्रेम से दुःख की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। सच्चा प्रेम करने वाले को अथवा जिस वस्तु पर उनका प्रेम है, उस वस्तु से, उस प्रेम से दुःख होना सर्वथा असम्भव है। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह बात यदि सच है कि प्रेम पूर्ण रूप से सुखदाई है, तो फिर प्रेम करने वाला और उसका प्रेम विषय हर घड़ी दुख में डूबे हुए क्यों दिखाई देते हैं? इसके उत्तर के लिए हमको कोई ऐसा उदाहरण लेना चाहिए, जो कि संसार में सर्वत्र पाया जाता हो। एक पुरुष का एक स्त्री पर अत्यन्त प्रेम होता है। यहाँ तक कि उसके ध्यान में, मन में, स्वप्न में उसे छोड़कर और कुछ दीखता ही नहीं। आ-हा-हा! क्या ही स्वर्गीय प्रेम है!! कुछ न पूछिये!!! परन्तु जरा ठहरिये तो इस प्रेम का शास्त्रीय रीति से हमें पृथक्करण करने दीजिये,

तब आप को इसका सच्चा स्वरूप मालूम होगा। उस पुरुष की ऐसी इच्छा होती है कि वह स्त्री सदैव उसके पास ही रहे, पास ही खावे और पीवे। मतलब यह है, कि उसे करीब-करीब इसका गुलाम ही बन कर रहना चाहिए। मानो स्वतन्त्र रीति से उसे और कार्य ही नहीं है। उसके मुख से निकलने वाला प्रत्येक शब्द यह स्वीकार करने के लिए स्वयं तैयार रहता है। इसका मतलब यही है, कि उसे स्वयं अपना गुलाम बनाकर यह स्वयं भी उसका गुलाम बनता है। अब आप ही सोचिये, इन दो गुलामों के प्रेम का सच्चा स्वरूप चिरस्थाई कहाँ तक हो सकता है ? वह स्त्री कहीं यदि क्षण भर के लिये भी बाहर जाती है तो यह स्वयं अपने मन में उलटे-सीधे विचार लाकर अपने को दुःखी कर लेता है। मित्रो ! सच्चे प्रेम का यह स्वरूप कदापि नहीं है। इन्द्रिय-जन्य सुख की अभिलाषा से पागल होने वाले मनुष्य की, यह लहर मात्र है। वह तो चूँकि पागल ही बना हुआ है, इसलिये भ्रम से उसे प्रेम का आभास मात्र होता है और उस लहर के वेग में क्षणिक और मिथ्या प्रेम को स्वर्गीय प्रेम समझ कर वह नाचने लगता है तथा दूसरे को भी अपने ही समान क्षण भर के लिए पागल बनाता है। यदि इसके कहने के अनुसार, कोई बात करने से वह स्त्री इन्कार करती है, तो बस ! इसका मन बिगड़ने में देर नहीं लगती ! सच्चे प्रेम से उत्पन्न होने वाले चैतन्य तरंगों से दुःख कदापि अपना मार्ग नहीं निकाल सकता। जिस जगह दुःख की उत्पत्ति होती हुई देखी जाती है, वह सच्चा प्रेम ही नहीं है। वास्तव में वह और ही कुछ है और भ्रम से प्रेम समझकर

हम उसमें लिप्त हो जाते हैं। जिस दिन किसी वस्तु पर भी अथवा किसी प्राणी पर भी आपका सच्चा प्रेम होगा, फिर चाहे वह स्त्री हो, या पुत्र हो अथवा दूसरा कोई हो; उस दिन आपको विश्वव्यापी प्रेम का रहस्य मालूम हो जायेगा और उसी दिन इस बात का भी ठीक-ठीक खुलासा हो जायेगा कि अलिप्तता वास्तव में क्या वस्तु है। भगवान् श्रीकृष्ण जी कहते हैं :—

नमे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतंद्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
शंकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

हे अर्जुन ! मैं कर्म इसलिए नहीं करता कि मुझे इस संसार में कुछ प्राप्त करना है किन्तु इस संसार पर मेरा प्रेम है और इसीलिए इसके कल्याण का हेतु रखकर मैं कर्म करता हूँ। मैं यदि कर्म न करूँ, तो ये लोग भी कर्म न करेंगे और संसार भ्रष्ट तथा नाश को प्राप्त होगा।

(गी० अ० ३ श्लोक २२-२३-२४)

भगवान् के इस कथन से प्रेम और अलिप्तता का भाव बहुत कुछ हमको मालूम हो सकता है। अपने लिए कुछ इच्छा न होते हुए भी भगवान् केवल प्रेम-वश होकर कुछ कर्म करते हैं। इसीलिए वह कर्म अलिप्तता से होता हैं। उसमें इन्द्रिय-

जन्म सुख-अभिलाषा की जहां यत्किंचित भी घटा उत्पन्न हुई कि बस ! अलिप्तता और प्रेम का साथ ही नाश हो जाता है। इन्द्रिय-सुखार्थ प्रेम करने वाले मनुष्य का लक्ष्य बहुधा जड़ विषय से आगे नहीं जाता। हम कहते हैं कि अमुक पुरुष का अमुक स्त्री से प्रेम हो गया, परन्तु वास्तव में प्रेम उस स्त्री के शरीर पर ही होता है। वह उसके भिन्न-भिन्न अङ्गों का चिन्तन करता है अर्थात् जड़ विषयों में जो आकर्षण सदैव रहता है, उस आकर्षण का ही स्वरूप प्रेम के नाम से पहचाने जाने वाले विकार का ऐसा स्वरूप है। लोहे का जैसे चुम्बक पर आकर्षण रहता है, बस ! उस मनुष्य के प्रेम का भी वास्तविक-स्वरूप ऐसा ही है। इसलिए एक क्षुद्र कारण होने से भी उस प्रेम का विच्छेद हो जाता है तथा उसी से फिर दुःख की उत्पत्ति होती है। सत्य-प्रेम का स्वरूप इससे बहुत भिन्न है। वह जड़ विषयों से कदापि संलग्न नहीं होता किन्तु चैतन्य-रूप में, जो कि इन जड़ विषयों से अत्यन्त परे है, वह एक जीव होकर रहता है। सच्चा प्रेम करने वाले इस प्रकार के दो मनुष्य एक दूसरे से चाहे हजारों मील के अन्तर से रहते हों, पर उनके प्रेम में अन्तर नहीं पड़ता। वह प्रेम कभी नष्ट नहीं होता और न उससे कभी दुःख की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार की अलिप्तता प्राप्त करना कुछ सहज बात नहीं है। इसका क्षण-क्षण पर अभ्यास करने से कदाचित् जीवन भर में यह प्रेम प्राप्त हो जाय तो हो जाय। इसकी प्राप्ति होने पर ही सच्चे प्रेम की अथवा मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस समय जो हमारे आस-पास संसार के बन्धन खूब दृढ़ हो रहे

हैं, वे तड़ा-तड़ टूट जाते हैं और सृष्टि फिर हमारे लिए शृंखला बनने का काम छोड़ देती है। उस के उपरांत जो कुछ हम करते हैं, उसके भले-बुरे फल हमें भोगने नहीं पड़ते। फिर हमें यह देखने की आवश्यकता ही नहीं रहती कि हमारे कार्य के फल मीठे हैं अथवा कटु हैं।

सच पूछिए तो जिनको हम "अपना" कहते हैं, उन्हीं पर क्या हमारा सच्चा प्रेम होता है? हम स्वयं अपने लड़के पर जो प्रेम करते हैं, वह भी वास्तव में 'प्रेम' कहलाने योग्य नहीं होता। उसमें भी कहीं न कहीं स्वार्थ या अंश रहता ही है। सूक्ष्म विचार करने पर मालूम होता है कि हमारी दृष्टि स्वार्थ से आगे प्रायः कभी जाती ही नहीं। यद्यपि हम ऊपर से यह कहा करते हैं, कि हमारा कह कार्य बिल्कुल लोगों की भलाई के लिए है, केवल देश के उद्धार के लिए है पर वास्तव में हृदय के अन्दर बहुत गहराई में कीर्ति की ईच्छा छिपी बैठी रहती है। जहाँ किसी प्रकार की भी फल की आशा रहती है, वहाँ सच्चे प्रेम का प्रवेश हो नहीं सकता। फिर जहाँ सच्चा प्रेम ही नहीं, वहाँ अलिप्तता कहाँ से आएगी? अतएव जब हम कार्य करें, तब हमें केवल कर्त्तव्य की दृष्टि से ही करना चाहिए। उसमें प्रतिफल की कोई भी आशा रखना हितकर नहीं होता। ऐसे कर्मों का अभ्यास ज्यों-ज्यों दृढ़ होता जाएगा, त्यों-त्यों हम में सच्ची अलिप्तता आती जाएगी।

यह पहले बतला चुके हैं, कि हम सदैव अपनी इन्द्रियों की सुख अभिलाषा के दास बने रहते हैं। जिस प्रकार गुलाम बन कर काम करने से वह काम फल-रूप से हमारे लिए बाधक

होता है, उसी प्रकार अपनी इन्द्रियों को वश में रख कर और उनके स्वामी बनकर निर-इच्छा से किया हुआ कर्म, मोक्ष-दायक होता है। भगवान श्री कृष्ण का वचन है:—

वशे ही यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता

अधिकार और न्याय के शब्द व्यवहार में हम सदैव सुना करते हैं। पर सच पूछिए तो छोटे-छोटे छोकरों की बड़-बड़ से इन शब्दों का कोई अधिक महत्त्व नहीं है। मानव जाति के नित्य-व्यवहार को हम सदैव सुना करते हैं। तब उसमें मुख्य दो मनो-धर्म हमें दिखाई देते हैं, एक सामर्थ्य और दूसरा दया। मनुष्य के साधारण बर्ताव में से किसी न किसी एक मनो-धर्म की प्रबलता हमें दिखाई देती है। दया को भूल कर जब मनुष्य अपनी सामर्थ्य प्रकट करने लगता है तो उस समय उसको स्वार्थ-बुद्धि बहुत बढ़ी हुई होती है, एक साधारण श्रेणी के मनुष्य का व्यवहार यदि हम देखें तो, वह भी बहुधा अपने सारे सामर्थ्य का उपयोग करता है, आजलोगों में दया बहुत कम पाई जाती है, जिस हृदय में दया है, वह प्रत्यक्ष स्वर्ग ही है। जिस के हृदय में पूर्ण दया भरी हुई है, उस मनुष्य को सच-मुच बड़ा भाग्य शाली समझना चाहिये। सच्ची न्याय-बुद्धि संसार में बहुत थोड़ी होती है। इसलिए अधिकार और त्याग प्रणाली की रचना दया के आधार पर होनी चाहिये। हमारी धर्म-बुद्धि की वृद्धि में बाधा डालने वाला सबसे बड़ा यदि कोई विघ्न है, तो वह अपने कर्मों के प्रतिफल की इच्छा करना ही है। ऐसी इच्छा करने से धर्म-बुद्धि की वृद्धि नहीं हो सकती, किन्तु उसके कारण हमारे ऊपर अन्य अनेक संकट आते हैं।

किसी प्रकार की भी इच्छा न रखते हुए कर्म करके उसे ईश्वर-अर्पण करना साकार परमेश्वर की पूजा का सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। जैसे हम देवता पर चढ़ाई हुई वस्तु फिर वापिस नहीं लेते, बस ! इसी तरह कर्म करते हुए वे सब बुरे अथवा भले कर्म परमेश्वर को अर्पण करने चाहिये। कर्म करते समय यह बात सदैव यदि सब ध्यान में रखेंगे तो धीरे-धीरे वैसी आदत हम डाल सकेंगे। प्रत्येक कर्म को यदि हम 'कृष्णार्पण' करें,तो किसी मनुष्य से भी प्रतिफल की इच्छा हम नहीं रख सकते।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्त पस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

स्वयं परमेश्वर भी इसी प्रकार सदैव कर्म करते हुए,फल की इच्छा न रखने के कारण ही नित्य मुक्त रहता है। इस रीति से कर्म करने वाला मनुष्य किसी बड़े शहर में अत्यन्त पापी लोगों की बस्ती में भी चाहे रहता रहे, तो भी उसे पाप कर्म स्पर्श नहीं कर सकते। कमल-पत्र जिस प्रकार पानी में रह कर भी भीगता नहीं, उसी प्रकार ऐसा मनुष्य चाहे प्रत्यक्ष पाप-कूप में डूबा रहे पर उसे पाप का स्पर्श भी नहीं हो सकता।

ब्रह्मण्यधाय कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा करोतियः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा॥

जो पुरुष आसक्ति और फल-आशा को त्याग कर परमात्म-बुद्धि से कर्मों को करता है वह जल में रहने वाले कमल-पत्र की नाईं पापों में लिपायमान नहीं होता।

इसी विषय में महाभारत में एक कथा आती है। महाभारत युद्ध में कौरवों की पराजय होने के उपरान्त, जब पाण्डवों को राज्य-पद की प्राप्ति हो गई तब उन्होंने एक बड़ा भारी राजसूय यज्ञ किया। उस यज्ञ में दीन-हीन लोगों को दान देकर पानी की तरह धन को खर्च किया गया। ऐसे दान को देखकर लोग दांतों तले उंगली दबाने लगे। जिसे देखिये! वही पाण्डवों के यज्ञ का यश गाते हुए यही कह रहा था कि भाई! ऐसा यज्ञ हमारे देखने व सुनने में कभी नहीं आया। उस यज्ञ के समाप्त होते समय एक नेवला वहाँ आया, जिसका आधा शरीर सोने का और आधा शरीर जैसा का तैसा था। नेवला यज्ञ स्थल में जाकर खूब लेटने लगा और लेटते-लेटते कहने लगा, देखो! यह लोग कितने नासमझ हैं जो यह कहते हैं कि यहाँ पर बड़ा भारी यज्ञ हुआ है। मुझे तो यहाँ पर यज्ञ होने का कोई भी चिन्ह दिखाई नहीं देता? लोगों ने कहा, अरे नेवले! तू यह क्या मूर्खता की बात कह रहा है? यहाँ पर जैसा यज्ञ हुआ है, वैसा यज्ञ तो आज तक किसी ने भी नहीं किया। देखो! यज्ञ का धन पाकर इस हस्तिनापुर में कोई भी निर्धन मनुष्य नहीं रहा। फिर तू ऐसा क्यों कहता है कि यहाँ यज्ञ हुआ ही नहीं? नेवला कहने लगा, जिस यज्ञ की महिमा के आप लोग पुल बाँध रहे हो, यह यज्ञ तो भिक्षा में पाए हुए सेर भर सत्तू के दान के बराबर भी नहीं है। आप लोग शान्त चित्त से मेरी बात को ध्यान से सुनो! मैं इसका कारण भी बताता हूँ।

मैं जहाँ से आ रहा हूँ, वहां एक छोटे से ग्राम में एक अति निर्धन ब्राह्मण-परिवार रहता था। उस परिवार में केवल चार

ही प्राणी थे। एक ब्राह्मण, उसकी पत्नी, एक लड़का और लड़के की स्त्री। उस गरीब ब्राह्मण को जो कुछ भी अध्यापन से प्राप्त हो जाता था, उसी में सारा परिवार जीवन निर्वाह करता था। एक बार तीन वर्ष तक वर्षा न होने के कारण बड़ा भारी अकाल पड़ गया। ऐसी स्थिति में कई-कई दिन अन्न न मिलने के कारण उस बेचारे ब्राह्मण परिवार के कष्टों का कोई भी पारावार नहीं रहा। ऐसी दशा में जबकि उनके कई उपवास हो चुके थे, ब्राह्मण को कहीं से एक सेर जौ का आटा मिल गया। उन्होंने उस आटे के चार भाग करके पनेथी (बाटी) तैयार की। अभी खाने को बैठे ही थे, कि इतने में दरवाजे पर एक अतिथि आकर खड़ा हो गया। "अतिथि देवो भव" अतिथि को ज़रूर देना चाहिए, ऐसी धर्म और शास्त्र की आज्ञा है। अतएव वह ब्राह्मण अतिथि से बोला, आइये महाराज! भोजन तैयार है। ऐसा कह कर ब्राह्मण ने अपने भोजन की थाली अतिथि के आगे रख दी। अतिथि ने उस अन्न का एक ही ग्रास करते हुए कहा, भले आदमी! मैं दस दिन का भूखा हूँ, तुम्हारे इस थोड़े से अन्न से मेरी कैसे तृप्ति हो सकती है? इससे तो मेरी क्षुधा की मात्रा और भी बढ़ गई है। अतिथि के ऐसे वचन सुन कर ब्राह्मण-पत्नी आगे आकर कहने लगी, महाराज! लीजिए, यह मेरा भाग भी आप स्वीकार कीजिए। ब्राह्मण ने पत्नी की क्षुधा के कारण कमजोर स्थिति देखते हुए ऐसा न करने के लिए कहा परन्तु धर्मनिष्ठ ब्राह्मण-पत्नी कहने लगी, स्वामी! हम गृहस्थी हैं, अतिथि को तृप्ति से भोजन कराना हमारा धर्म है। अतिथि ने वह भोजन भी पा लिया।

पर उसकी क्षुधा शान्त नहीं हुई। तब ब्राह्मण पुत्र ने अपना भाग भी अतिथि के आगे रखते हुए कहा, महाराज ! मेरा यह भाग भी आप ग्रहण करके मुझ पर भी अनुग्रह कीजिए, क्योंकि पिता के धर्म-कार्य में योग देना पुत्र का भी धर्म है। अतिथि ने वह अन्न भी खा लिया किन्तु उसको उससे भी सन्तोष नहीं हुआ। तब ब्राह्मण-पुत्र की स्त्री ने भी अपना भाग अतिथि के सन्मुख रख दिया। उस भाग को पाकर अतिथि की तृप्ति हो गई। और वह ब्राह्मण परिवार को आशीर्वाद देता हुआ चला गया, उसी रात को भूख से व्याकुल होकर ब्राह्मण-परिवार ने शरीर त्याग दिया।

अतिथि ने जिस स्थान पर बैठकर भोजन किया था। उस स्थान पर पनेथी के कुछ कण गिर पड़े थे। वह अन्न इतना पवित्र था और वह यज्ञ इतना उत्तम था कि उन कणों में लेटने के कारण ही मेरा आधा शरीर सोने का हो गया है। जिसे कि तुम देख ही रहे हो। अब मैं सारे संसार में घूम-फिर कर देख रहा हूँ कि कहीं और भी ऐसा यज्ञ हुआ है पर मुझे वैसा यज्ञ कहीं भी नहीं मिला। इसी कारण मेरा आधा शरीर अभी तक वैसा का वैसा ही है। यज्ञ की बड़ी भारी महिमा सुन कर ही मैं यहाँ आया था। मगर यहाँ आने पर भी मेरा पूरा शरीर सोने का नहीं हुआ। इसी से मैंने समझ लिया कि यहाँ यज्ञ हुआ ही नहीं।

सज्जनो ! भारतवर्ष का वह स्वर्ण-युग अब काल के गाल में समा गया है। आज भू के गर्भ से ऐसे सच्चे पुत्र रत्न बहुत ही कम उत्पन्न होते हैं। जब मैंने अंग्रेजी सीखना आरम्भ किया

था, तब मैंने अंग्रेजी की पुस्तक में एक कहानी पढ़ी थी। जो इस प्रकार थी।

किसी ग्राम का रहने वाला गरीब विधवा का इकलौता पुत्र एक बड़े नगर में एक अमीर आदमी के यहाँ नौकरी किया करता था। उसे जो कुछ वेतन मिलता था, वह स्वय कष्ट पा कर भी वेतन का कुछ न कुछ भाग बचा कर अपनी माता को पहुँचाया करता था। एक दिन जब कि गर्मी का महीना था, वह लड़का पंखा खींचते २ सो गया। पंखा बन्द होने से अमीर आदमी कमरे से बाहर आया। उसने देखा, लड़का अचेत पड़ा सो रहा है और उसके सीने पर एक पत्र पड़ा हुआ है। पत्र अभी-अभी उसकी माता के पास से आया है। जिसे पढ़ते-पढ़ते उसे नींद आ गई है। अमीर आदमी ने धीरे से उस पत्र को उठाया और पढ़ने लगा। उसमें लिखा था, बेटा ! परमात्मा तुम्हें चिरंजीव रखे। तुम सदा सुखी रहो और भगवान् तुम्हारे कार्य में सफलता प्रदान करे। तुमने जो अपनी नेक और कष्ट कमाई से जो भी थोड़ा बहुत बचा कर भेजा है, उसी में अपना कार्य चला रही हूँ। पत्र पढ़ते-पढ़ते अमीर की आँखों में आँसू आ गये। जब लड़का सो कर उठा, तो अमीर आदमी ने उसे अपने पास बुला कर कहा, बेटा तुम एक अच्छी माँ के फरमांबरदार बेटे हो। माता के प्रति तुम्हारी ऐसी सेवा-भक्ति को देख कर मैं बहुत खुश हुआ हूँ। आगे से मैंने तुम्हारा वेतन दुगुना कर दिया है, ताकि तुम अपनी वृद्ध माँ की खूब सेवा कर सको।

मैं आप से सच कहता हूँ कि हमारे यहां के लड़कों को इस कहानी का कुछ भी तात्पर्य नहीं जान पड़ता। कितने ऐसे लड़के

हैं, जो सचमुच स्वयं कष्ट पाकर और सेवा करके अपने माता-पिता की आत्मा को प्रसन्न करते हैं। यह कहावत चली ही आती है कि 'सब अपने-अपने लिए हैं।' इन्हीं को स्वार्थी और पेट-पालू कहते हैं। उस समय इस कहानी का महत्व मेरी समझ में अच्छी प्रकार नहीं आया था। पर अब मैं प्रत्यक्ष ही देख रहा हूँ। माँ-बाप भूखों मर गये, स्त्री और बच्चे भीख मांगते रहे, तो भी अजीर्ण होने तक खाने वाले लोगों की इस अपने देश में कोई कमी नहीं है। धिक्कार है! सौ बार धिक्कार है, ऐसे जीव को!! ऐसे मनुष्यपन को!!! किसी भी गृहस्थ-आश्रमी मनुष्य को अपने सामने ऐसा राक्षसी उद्देश्य नहीं रखना चाहिए। अपने पास जो कुछ भी है, उसमें दूसरों का भी भाग है।

यहाँ तक जो विवेचन किया गया है उससे कर्म-योग का रहस्य आपकी समझ में आ गया होगा। चाहे देह-पात का समय आ जावे, तो भी आश्रम-धर्म से विमुख न होते हुए और किसी प्रकार का हल्ला न मचाते हुए, प्रत्येक की सेवा के लिए आगे बढ़ना ही कर्म-योग का निश्चित किया हुआ एक मुख्य कार्य है। चाहे हजारों लोगों ने आपको धोखा दिया हो, तो भी यदि कोई माँगने वाला सामने आ जावे, तो उसे कुछ न कुछ देना ही आपका कर्त्तव्य और धर्म है। किए हुए उपकार का अथवा दान का कभी भी उच्चारण नहीं करना चाहिए। यहाँ तक कि जिसके साथ कुछ भलाई की है, या जिस किसी को कुछ दान दिया है, उससे धन्यवाद तक पाने की भी इच्छा नहीं रखनी चाहिए "नेकी कर कूएं में डाल" भलाई कर और

भूल जा। अपनी भलाई के कार्य को नहीं, बल्कि अपनी बुराइयों को देख। शेख शादी से किसी ने पूछा, तुमने भलाई करना कैसे सीखा ? उन्होंने उत्तर दिया, अपनी बुराइयों से, मुझे दूसरों की जो बात बुरी लगती गई, मैं उसे छोड़ता गया। क्योंकि मुझ में यह समझ आती गई कि जो बात दूसरों की मुझे बुरी लगती है, मेरी वही बात दूसरों को भी बुरी लगती होगी।

अब तो आपको यह अच्छी तरह मालूम हो गया होगा कि गृहस्थ-आश्रम का पालन करना, संन्यास-धर्म से कितना कठिन और गहन है। सच्चा त्यागी होकर कुछ न करते हुए रहना जितना कठिन है, उतना ही नहीं बल्कि उससे भी कहीं अधिक गृहस्थ-आश्रम में रहना कठिन है। मगर फल दोनों का एक ही मिलता है। कर्मों का संन्यास और निष्काम कर्म-योग दोनों परम कल्याण के करने वाले हैं। किन्तु इन दोनों में कर्मों के संन्यास से निष्काम कर्म-योग साधन करने में सुगम होने के कारण श्रेष्ठ है। (गी० ५-२)

ज्ञेय: स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥
(गी० ५-३)

हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी वस्तु के पाने की आकांक्षा रखता है, वह निष्काम कर्म-योगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है। क्योंकि राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसार बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

सांख्ययोगो पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
(गी० ५-४)

सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोग और निष्काम-कर्मयोग को मूर्ख लोग ही अलग-अलग फल वाला कहते हैं, न कि पंडित जन अर्थात् ज्ञानी पुरुष तो दोनों को फल रूप से एक ही मानते हैं क्योंकि ज्ञान प्राप्त कर कर्म में लगा हुआ पुरुष दोनों के फल रूप परमात्मा को प्राप्त होता है ।

परन्तु निष्काम कर्म-योग के बिना संन्यास अर्थात् मन और इन्द्रियों एवं शरीर द्वारा होने वाले कर्मों में कर्त्तापन का त्याग होना बड़ा ही कठिन है किन्तु भगवत्-स्वरूप का चिन्तन करने वाला और भगवत् नाम का स्मरण करने वाला निष्काम कर्म योगी शीघ्र ही परमात्मा रूपी शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।
(गी० ५-६)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्व भूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
(गी० ५-७)

वश में किया हुआ है शरीर और जीति हुई हैं इन्द्रियां, ऐसा पवित्र अन्तःकरण वाला पुरुष सब प्राणियों में एक ही परमात्मा को देखता हुआ निष्काम-कर्मयोगी, कर्म करता हुआ भी कर्मों के फल में लिपायमान नहीं होता । जैसे जल में कमल पत्र नहीं भींगता ।

अनुभव ज्ञान

आत्म अनुभव ज्ञान की, जो कोई पूछे बात।
सो गूंगा गुड़ खाय के, कहे कौन मुख स्वाद ।।

ज्यों गूंगे के सैन को, गूंगा ही पहिचान ।
त्यों ज्ञानी के सुख को, ज्ञानी होय सो जान ।।

नर-नारी के स्वाद को, खस्सी नहीं पहिचान।
तस ज्ञानी के सुख को, अज्ञानी नहीं जान ।।

आत्म-अनुभव सुख की, क्या कोई बुझै बात।
कै ज्ञानी कोई जानहिं, कै अपनो ही गात ।।

आत्मा अनुभव जब भयो, तब नहीं हर्ष-विषाद।
चित्त दीप सम ह्वै रहे, तजि करि मोह-विवाद ।।

कागद लिखे सो कागदी, कि व्योहारी जीव।
आत्म-दृष्टा क्या लिखे, जित दीखे तित पीव ।।

कहन सुनन की गम नहीं, देखा देखी बात ।
दूल्हा दुलहिन मिल गये, फीकी पड़ी बरात ।।

भरो होय सो रीत हो, रीता होय भराय ।
रीतो-भरो न पाइये, अनुभव सोई कहाय ।।

ज्ञानी मूल गंवाईया, आप भये कर्त्ता ।
ताते तो संसारी भला, जो सदा रहे डरता ।।

चरण कमल वन्दौं हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लाँघे, अंधे को सब कुछ दर्शाई।
बहिरो सुने मूक पुनि बोले, रंकुहु लै सिर छत्र धराई।
'सूरदास' स्वामी करुणामय, बार-बार वन्दौं तेहि पाई।

अविगत, गति कछु कहत न आवे ।
ज्यों गूंगो मीठे फल को रस, अन्तर्गत ही भावे ॥
परम स्वाद सब ही जू निरन्तर, अमित तोष उपजावे ।
मन बाणी से अगम अगोचर, सो जाने जो पावे ॥
रूप रेख गुण जाति जुगति बिनु, निरालम्ब मन चक्रित धावे ।
सब विधि अगम विचार्रहिं ताते, सूर सगुण लीला पद गावे ।

बिनु पद चलई, सुनहि बिनु काना ।
कर बिनु कर्म करै विधि नाना ॥
आनन रहित सकल रस भोगी ।
बिनु बाणी वक्ता बड़ योगी ॥
तन विनु परस, नयन बिनु देखा ।
गहइ घ्राण बिनु वास असेषा ॥

॥ वैराग्य ॥

भोगो न भुक्ता वयमेव भुक्ता तपो न तप्ता वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव याता तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

विषयों को हमने नहीं भोगा किन्तु विषयों ने ही हमको भोग लिया । हमने तप न तपे परन्तु तपों ही ने हमें तपा डाला । काल व्यतीत न हुआ किन्तु हमारी आयु ही व्यतीत हो चली । तृष्णा जीर्ण न हुई किन्तु हम ही जीर्ण हो गये ।

बलिभिमुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥

मुँह का चमड़ा सिकुड़ गया, सिर के सब बाल धवल हो गये और सब अंग शिथिल पड़ गये पर एक तृष्णा ही तरुण होती जाती है।

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानोविगलितः ।
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमा ॥
शनैर्यष्ठ्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने ।
अहो मूढ़ः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥

विषय भोगों की इच्छा भी न्यून हुई, मनुष्यों में अपना मान भी घटा, अपने समान अवस्था वाले भी मृत्यु को प्राप्त हो गये और जो इष्ट मित्र हैं, वह भी शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होने वाले हैं। स्वयं भी लाठी टेक कर चलने लगे और नेत्रों के आगे अन्धियारी आ गई। तिस पर भी यह शरीर ऐसा निर्लज्ज है कि अपने मरण को श्रवण करके चकित होता है।

यत्रानेके क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैका ।
यत्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते ॥
इत्थं चेमौ रजनि दिवसौ दोलयन् द्वाविवाक्षौ ॥
कालः काल्या सह बहुकलः क्रीडति प्राणशारैः ॥

जिस स्थान में अनेक पुरुष थे उस स्थान में अब एक ही पुरुष दृष्टि पड़ता है। जहाँ एक पुरुष था, वहाँ अनेकों पुरुष हो गये और फिर वहाँ एक भी न रहा। इससे निश्चय यही हुआ कि संसार रूपी चौपड़ में काल-पुरुष अपनी काल शक्ति से रात और दिन के पासों से प्राणियों की गोटें बना-बना कर खेल रहाहै।

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवनं ।
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोऽपि न ज्ञायते ॥
दृष्टवाजन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते ।
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

सूर्य के उदय अस्त होने से दिन प्रतिदिन आयु घटती जाती है, अनेक कार्यों और व्यापारादिकों के भार में काल व्यतीत होता हुआ जान नहीं पड़ता और जन्म, वृद्ध-अवस्था विपत्ति और मरण देखकर भी हृदय में त्रास उत्पन्न नहीं होता। इससे यह निश्चय होता है कि मोह-मयी-प्रमाद रूपी मदिरा पी के जगत मतवाला हो रहा है।

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः ।
ख्यातस्तवं विभवैर्यशांसि कवयोदिक्षु प्रतन्वन्ति नः ॥
इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं ।
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्त तो निस्पृहाः ॥

यदि तुम राजा हो तो हम भी गुरु की सेवा से बुद्धिमान हो कर उच्च पद को प्राप्त हुए हैं। तुम धनादिकों से प्रसिद्ध हो, तो हमारी विद्या का यश भी बुद्धिमान कवि-जन देश-देशान्तरों में वर्णन कर रहे हैं। यदि तुम हम से मुख फेरते हो, तो हम भी तुम से अत्यन्त निःपृह हैं।

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला ।
रागग्राहवती वितर्कविहंगा धैर्य द्रुमुध्वंसिनी ॥

मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी ।
तस्या पारगता विशुद्धमनसो नंदन्ति योगीश्वराः ।।

आशा रूपी नदी, मनोरथ रूपी जल, तृष्णा रूपी लहर, संशय और नाना तर्क रूपी मगर एवं पक्षी, मोह रूपी भंवर चिन्ता रूपी तट पर खड़े हुए धैर्य रूपी वृक्ष को गिराने वाले हैं। इस संसार रूपी भयंकर नदी में मन रूपी भौंरा बह रहा है। इस दुस्तर भव-नदी को कोई बिरले योगी-जन ही पार कर पाते हैं।

विवेकव्याकोशे विदधति शमे शाम्यति तृषा—
परिष्वङ्गे तुंगे प्रसरतितरां सा परिणतिः
जराजीर्णैश्वयग्रसनागहनाक्षेपकृपण—
स्तृषापात्रं यस्यां भवति मरुतामप्यधिपतिः ।।

जिस समय विवेक के प्रकाश से शान्ति का उदय होता है उस समय तृष्णा भी शांत हो जाती है पर विषय के संसर्ग से वही तृष्णा ऐसी प्रबल हो जाती है कि जिसके होते हुए वृद्धावस्था से जीर्ण, ऐश्वर्य रूप मोह की अत्यन्त आसक्ति के त्यागने में इन्द्र भी असमर्थ होता है। अर्थात् महान पद की प्राप्ति की तृष्णा को इन्द्र भी नहीं त्याग सकता।

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं—
न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।।
सम्मानिताः प्रणयिनो विभवस्ततः किं—
कल्पस्थितंतनुभृतां तनुभोस्ततः किम् ।।

नाशवान शरीर-धारियों ने सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करने वाली लक्ष्मी पाई तो क्या ? शत्रुओं के सिर पर भी चरण दिया तो क्या ? धन से मित्रों का सत्कार किया तो क्या ? फिर इस शरीर से कल्प भर भी जिये तो क्या ? अर्थात् परलोक के लिये ईश्वरीय ध्यानादिक साधन न किया, तो कुछ भी न किया।

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं
स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः ।
संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता-
वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम् ॥

जन्म मरण का भय हृदय में न हो, बन्धू-वर्ग में आसक्ति न हो, कामदेव का विकार चित्त से दूर हो, संसर्ग दोष से मुक्त हो निर्जन बन में स्थिति हो, इन उपरोक्त साधनों सहित वैराग्य होवे तो फिर इससे अधिक ईश्वर से कौन सी वस्तु याचना योग्य है ?

तस्मादनन्तमजरं परम विकासि-
तद्ब्रह्म चिंतय किमेभिरसद्विकल्पैः ।
यस्यानुषंगिण इमे भुवनाधिपत्य-
भोगादयः कृष्णलोकमता भवन्ति ॥

जिस परब्रह्म का लेश-मात्र आनन्द पाने वाले पुरुषों को इन्द्रादि पद भी तुच्छ प्रतीत होता है तुम उसी अनन्त अजर और सर्वोत्तम, शोक-रहित, परब्रह्म का चिन्तन करो। इस मिथ्या सांसारिक विकल्पों का क्या फल है ? इसलिए देहादि

अहंकार, ममत्व-भाव त्याग कर परब्रह्म का ध्यान करना श्रेष्ठ फल है ।

त्रैलोक्याधिपतित्वमेव विरसं यस्मिन्हाशासने ।
तल्लब्ध्वासनवस्त्रमानघटने भोगे रतिमा वृथाः ॥
भोगः कोऽपि स एक एव परमो नित्योदितो जृम्भते ।
यत्स्वादिविरसा भवन्ति विषयास्त्रैलोक्यराज्यादयः ॥

जिस परब्रह्म-ज्ञान के आगे त्रैलोकी का राज्य सुख भी फीका हो जाता है उसे प्राप्त होकर भोजन, वस्त्र और मान के निमित्त सांसारिक भोगों में प्रीति मत कर । वही एक भोग सब से श्रेष्ठ और नित्य उदित और प्रकाशित है जिस के स्वाद के सन्मुख त्रैलोक्य-भोगादि सब ऐश्वर्य नीरस हो जाते हैं ।

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्री-
रर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूगाः ।
कण्ठा श्लेषोपगूढंतदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥

विचारने का विषय है कि मनुष्य की आयु जल-तरंग की नाईं चंचल है, यौवन अवस्था की शोभा भी अल्प-काल रहने वाली है और धन भी मन के संकल्प विकल्प के सदृश क्षणिक है । भोग के समूह भी वर्षा-काल के मेघ की बिजली की तरह चंचल हैं । प्यारी स्त्री का संसर्ग भी बहुत काल स्थिर नहीं रहता । इस कारण संसार के भय रूपी समुद्र से पार होने के हेतु केवल परब्रह्म में चित्त को लय करो ।

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषयाः ।
वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून् ॥
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः ।
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्त विदधति ॥

चिरकाल पर्यन्त सकाम कर्म रूप संचय किए हुए विषय अन्त में अवश्य ही छूटेंगे। फिर उनका वियोग होने में क्या संशय रहा ? इस कारण मनुष्य पहले आप ही उन विषयों को क्यों न त्याग दें ? क्योंकि जब वे विषय आपसे छूटेंगे तब मन को बड़ा सन्ताप देंगे, पर जो पुरुष उन विषयों को अपने-आप छोड़ देगा, तो उसे अनन्त सुख की प्राप्ति होगी।

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं ।
शय्या च भूःपरिजनो निजदेहमात्रं ॥
वस्त्रं च जीर्णं शतखण्डमयी च कन्था ।
हाहा तथापि विषाय न परित्यजन्ति ॥

महान् आश्चर्य है कि जो पुरुष भिक्षा माँगने से प्राप्त हुए नीरस अन्न का एक बार भोजन करते हैं, भूमि पर सोते हैं, कुटुम्ब भी जिनका देह मात्र ही है, जो सैकड़ों जीर्ण वस्त्रों के टुकड़ों की गूदड़ी शरीर पर धारण किए हुए हैं, आश्चर्य है कि ऐसी दशा प्राप्त होने पर भी विषय-वासना उनसे नहीं छूटती।

विद्यानाधिगता कलंकरहिता वित्तं नोपार्जितं ।
शुश्रूषापि समाहितेन मनसा पित्रोर्न सम्पादिता ॥

आलोलायतलोचनाः प्रियतमाः स्वप्नऽपिनालिङ्गता।
कालोऽयं परपिण्ड लोलुपतया काकैरिव प्रैर्यंते।

न तो हमने आवागमन-संसार चक्र के कष्टों का नाश करने के निमित्त, परमेश्वर के चरण कमलों का विधिपूर्वक ध्यान किया, न सुख-प्राप्ति के निमित्त उत्तम धर्मों का संचय किया तथा न एकाग्र चित्त होकर माता-पिता की सेवा की, केवल पराई आशा का लोभ करते-करते काक के समान हमने अपना सम्पूर्ण समय वृथा ही व्यतीत कर दिया।

स्नात्वा गाङ्गः पयोभिः शुचि कुसुमफलैरचयित्वा विभो।
त्वां ध्येये-ध्यानं नियोज्य क्षितिधरकुहरग्रावपर्यंकमूले॥
आत्मारामोऽफलाशी गुरुवचनरतस्त्वत्प्रसादात्मरारे।
दुःखामोक्ष्येक दाहं तव चरणरतो ध्यानमार्गैक प्रश्नः॥

हे प्रभो! गंगा-जल से स्नान करके सुन्दर पवित्र फूलों से तुम्हें पूज कर, पर्वत की कन्दरा में पत्थर की पवित्र चट्टान पर बैठ, ध्यान योग्य तुम्हारी कल्याण दायक मूर्ति में ध्यानावस्थित होऊँ, विश्वासपूर्वक गुरु के वचन से आत्मा-राम में प्रीति करके कर्मों का फल त्याग कर, तुम्हारी कृपा से मैं कब इस जन्म-मरण के दुःख से छूटूँगा।

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता।
मानन्दाश्रु जलं पिबन्ति शकुना निःशंकमङ्कशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतटे
क्रीडाकाननकेलि कौतुकजुषामायुः परं क्षीयते॥

जो उत्तम पुरुष पर्वत की कन्दरा में रहते हुए परब्रह्म की ज्योति का ध्यान करते हैं और जिसके आनन्द के आंसू पक्षी निडर हो, गोद में बैठकर पीते हैं वह ही धन्य है और हम लोगों की तो अवस्था केवल मनोरथ रूपी बगीचे में जो क्रीड़ा का वन है, जिसमें लीला के कौतुक करते हुए ही क्षीण होती है।

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परिर्जयन्ती
रोगाश्च शत्रवइव प्रहरन्ति देहम्।
आयुः परिस्रवति भिन्नघटादिवाम्भो
लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम्॥

वृद्धावस्था बाघनी की तरह सन्मुख खड़ी है। सब रोग शत्रुओं के समान देह पर दण्ड-प्रहार कर रहे हैं। आयु दिन प्रतिदिन इस प्रकार निकलती जाती है, जैसे फूटे घड़े से पानी निकलता जा रहा हो तिस पर भी जिसमें अपना बुरा हो लोग वही काम करते जाते हैं, यह बड़ा आश्चर्य है।

भोगा भंगुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भव
स्तत्कस्यैव कृतेपरिभ्रमतरे लोकाः कृतं चेष्टितैः।
आशापाशशतोपशान्तिविशदं चेतः समाधीयतां॥
कामोच्छित्तिवशे स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः॥

जितने भी भोग हैं, उनकी वृत्ति नाशवान है, उनके संसर्ग से भव-भय हैं। यह जान कर भी अरे लोगो! किसलिए भोग रूपी चक्र में भ्रमते हो? ऐसी चेष्टा से क्या फल मिलता है? यदि हमारे वचन का विश्वास मानो! तो स्वयं प्रकाश रूप,

परब्रह्म में, आशापाश को छेदन करके शुद्ध हुआ चित्त अनुराग सहित निरन्तर लगाओ।

गंगातीरे हिमगिरिशिला बद्धपद्मासनस्याद्।
ब्रह्मध्यानाऽभ्यसनाविधिना योगनिद्रांगतस्य॥
किं तैर्भाव्यं मम सदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः।
कण्डूयन्ते जरठहरिणा स्वाङ्गमेङ्ग मदीये॥

जिस समय हम गंगा के तट पर हिमालय की शिला पर पद्मासन बाँधे बैठेंगे और ब्रह्म-ज्ञान के अभ्यास में विधि-पूर्वक आँख मूंदे योगनिद्रा को प्राप्त होंगे, देखें ! हमारे ऐसे सुदिन कब होते हैं, जहाँ निःशंक होकर बूढ़े-बूढ़े हिरन हमारी देह में अपना अंग रगड़ के खुजलाहट मिटावेंगे।

खेचरी मुद्रा विधि

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरामृत्युर्देवदेहः स जायते॥

जो मनुष्य इस खेचरी मुद्रा का साधन करते हैं उनको मूर्छा, क्षुधा, भूख, प्यास और आलस्य नहीं सताता है तथा न रोग, न बुढ़ापा न मौत पास आती है। देवताओं जैसी उसकी देह हो जाती है। (घेरंड संहिता श्लोक २६)

नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजगमः॥ घे०॥

उनको आग भी नहीं जला सकती, पवन सुखा नहीं सकती, पानी गीला नहीं कर सकता तथा न उसे साँप काट सकता है ।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योतचक्रं तदुच्यते ॥

इसके अभ्यास करने से सर्वदा अन्तर्मुख वृत्ति होने से, योगी आत्मा के परम-आनन्द का अनुभव करके पीछे देहान्त-काल में परम-पद कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त होता है ।

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥
(गो० प०) ।

तालू छिद्र के ऊपर जिह्वा प्रवेश करके एक घड़ी मात्र खेचरी मुद्रा स्थित रहे तो योगी को सर्प, बिच्छू आदिकों का विष न लगे और बुढ़ापा, रोग, मृत्यु को जीत जावे तथा बलीपलित (जो चमड़ा ढीला होकर सलवटें पड़ती हैं) न होवे ।

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवितष्त ॥

तालु के ऊपर छिद्र में जिह्वा लगाकर स्थिर करके भ्रू-मध्य गत, चन्द्रमा से निकलते हुए अमृत का जो योगी पान करे, तो वह निःसन्देह मृत्यु को जीत लेता है । यह गोरखनाथ निश्चय से कहते हैं ।

मूलं सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया ।

निरन्तरं कृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यूह पिबेत् ॥
तैन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातंगकेसरी ।

यह खेचरी मुद्रा सर्व सिद्धियों की माता है और यह देवी हमको प्राणों से भी अधिक प्रिय है । जो निरन्तर इस अभ्यास से नित्य अमृत पान करता है, तो उसके कारण शरीर सिद्ध हो जाता है । अर्थात् नाश नहीं होता और मृत्यु रूप हस्ती को खेचरी रूप सिंह मार देता है । (शिव संहिता ।

मूलं—गुरुपदेशतोमुद्रां योवेत्ति खेचरीमिमाम् ॥
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम् ॥

गुरु उपदेश से जिस को यह खेचरी मुद्रा सिद्ध होगी वह नाना पाप रत् हुआ भी बुद्धिमान साधक परम गति को प्राप्त होगा । अर्थात् मोक्ष हो जायेगी । (शि० सं०)

मूलं—साप्राणसदृशी मुद्रा यस्मिन् कस्मिन् न दीयते ।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिता ॥

हे सुर-पूजिते पार्वती ! यह खेचरी मुद्रा प्राण के बराबर है । इसे सामान्य मनुष्यों को देना उचित नहीं है । इस मुद्रा को यत्न करके गुप्त रखने में कल्याण है । (शि० सं)

वलीपलित वेषघ्नी मुद्रेयं खेचरी सदा ।
नतस्य क्षरते विंदुर्मुद्रां यो वेत्तिखेचरीम् ॥

वलीपलित, जो बुढ़ापे की देह का चर्म सिकुड़ने और देह के कम्पन का यह खेचरी मुद्रा सदैव नाश करने वाली है

जो मनुष्य खेचरी जानता है, उसे कामदेव क्या काल भी नहीं जीत सकता।

नित्यमंतर्मूखत्वेन परमानन्दमात्मना ।
अनुभूय चिरं योगी कैवल्यपदमश्नुते ॥

जिह्वा को तिरछी करके तीनों नाड़ियों [illegible]र्ग में जो कपाल छिद्र है, उसमें जिह्वा को योजित करे। यही खेचरी मुद्रा है इसी को व्योम-चक्र भी कहते हैं। (गो० प०)

सुनो खेचरी बात साधो, सुनो खेचरी बात रे ।
सबसे बड़ी खेचरी मुद्रा, योगी जन की मात रे ।
जो जन साधन करत निरन्तर, भवसागर तर जात रे ॥
जीभ तले की नाड़ कटे जब, तब पीछे उलटात रे ।
धीरे-धीरे गल के ऊपर, छेद माँहि ठैरात रे ॥
पीछे ध्यान धरे भृकटी में, काँपे सब ही गात रे ।
ब्रह्म ज्योति का दर्शन होवे, झरे सुधा दिन-रात रे ॥
दिन-दिन ध्यान करे जब योगी, काया सुध बिसरात रे ।
ब्रह्मानन्द स्वरूप समावे, फेर जन्म नहीं पात रे ॥

॥ अनहद नाद विधि ॥

अर्द्धरात्रिगते योगी जंतूनां शब्दवर्जिते ।
कर्णोपिधाय हस्ताभ्यां कूर्यात्पूरक कुम्भकम् ॥

जब आधी रात बीत जाय, तब योगी पुरुष को एकान्त जगह में, जहाँ जीव-जन्तु किसी का बोल न सुन पड़े, तहाँ बैठ कर दोनों हाथों से कान बन्द करके पूरक और कुम्भक करे अर्थात् श्वाँस को रोक कर ध्यान से सुने । (घेरंड-संहिता)

शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम् ।
प्रथम झिंझिनादं च वंशीनादं ततः परम् ॥
मेघझर्झरभ्रमरीघण्टाकांस्यं ततः परम् ।
तुरी भेरीमृदङ्गादिनिनादानकदुन्दुभिः ॥

जो भीतर का नाद है, उसको दाहिने कान से सुने । वह पहले झींगुर का सा नाद (सुर) मालूम होता है । फिर वंशी का सा शब्द होता है। फिर उसके बाद बादल की सी गर्जन होगी, फिर झांझ की सी आवाज आवेगी । फिर भौंरा का सा शब्द होगा और आगे घंटा तथा कांसे के पात्र की सी आवाज आयेगी । फिर तुरई का शब्द तथा भेरी, मृदङ्ग और नगाड़े की सी आवाज आवेगी । (घे०सं०)

एवं नाना विधो नादो जायते नित्यमभ्यासात् ।
अनाहतस्य शब्दस्यं तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ॥
ध्वनेरंतर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरंतर्गतं मनः ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
एव च भ्रामरी सिद्धि समाधिसिद्धिमाप्नुयात ॥

ऐसे नाना प्रकार के राग रोज के अभ्यास से सुनने में आते हैं और शब्द अपने आप ही होता है, उस शब्द की अद्भुत ध्वनि है तथा उसी ध्वनि के आनन्द से ज्योति के अन्तर्गत मन लीन हो जाता है। यही भगवान का परमपद है। इसी तरह भ्रामरी समाधि सिद्ध हो जाती है (घेरंड-संहिता से)।

चिणति प्रथमे नादे चिंचिणीति द्वितीयके।
घंटानादस्तृतीये च शंखनादश्चतुर्थके॥
तंत्री पञ्चम के नादे षष्ठे तालं प्रचक्षते।
वंशीवाद्यस्तथा चान्यो मृदङ्गस्तदनन्तरम्॥
भेरीनादस्तथा तत्रदशमेऽभ्रसमो भवेत।
नवमं च परित्यज्य दशमं यः समभ्यसेत्॥
भित्वा सर्वाणि कर्माणि चिदानन्दायते ततः॥

नाद के सुनने में प्रथम चिण-चिण जैसा शब्द होता है, दूसरा झनकार, तीसरे घन्टा, चौथे शंख-नाद, पाँचवाँ वीणा, छठा ताल, सातवाँ वंशी, आठवाँ मृदङ्ग, नौवाँ भेरी शब्द का अभास करके नाद होता है। इसको अभ्यास से रोज सुने, इस नाद को सुन कर योगी ब्रह्मानन्द को प्राप्त होता है।

(यो० रहस्य प्र०)।

घुर अगम देश तक शब्द ही का है जीना।
दस मञ्जिल है जाने कोई चतुर प्रवीना॥
कहीं-कहीं मधुर बाँसुरी, बजे कहीं-कहीं वीणा।
घनघोर शब्द हो कभी शब्द हो झीना॥
ये गुप्त भेद किसी विरले पर खुल जावे।
फिर उसको पूर्ण ब्रह्म साफ दिखलावे॥

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय शाम्भवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तस्थमेकधीः ।।

मनरूपी मत्त-मत्तङ्ग विषय रूपी उद्यान में सदा भ्रमण किया करता है । एक मात्र नाद का श्रवण करना ही मन मतङ्ग के लिए अंकुश रूप है । अर्थात् अनहद शब्द जब सुनाई देने लगता है, तब नाद ध्वनि के अन्तर्गत मन लय को प्राप्त होता है ।

तीनों बन्द लगाय के अनहद सुने टकोर ।
नानक सुन्य समाधि में, नहिं साँझ नहिं भोर ।।

निरंजन धुन

निरंजन धुन को सुनता है सन्त सुजान ।।
बैठ एकाँत जमा कर आसन, मून्द लिये दोऊ कान ।
झीनी धुन में, सुरत लगावे, करता नाद पिछान ।।
घंटा शख बन्सरी वीणा, बाजे माधुरी तान ।
ताल मृदँग नगारा, पीछे गर्जन मेघ समान ।।
दिन दिन सुन-सुन नाद धुनि को, होवे मन गलतान ।
ब्रह्म ज्योत घट में दर्शावे, बिसरे काया भान ।।
तन, मन की दुविधा सब मेटे, करे निरन्तर ध्यान ।।
ब्रह्मानन्द मिटे भव बन्धन, पावे पद निर्वाण ।। निरंजन···

अनहद की धुन

अनहद की धुन प्यारी साधो, अनहद की धुन प्यारी रे ।।
आसन पद्म लगाकर, कर से मून्द कान की बारी रे ।

झीनी धुन में सुरत लगावो, होत नाद झनकारी रे ॥
पहले-पहले रिल-मिल बाजे, पीछे न्यारी-न्यारी रे ।
घंटा शंख बन्सरी वीणा, ताल मृदंग नगारी रे ॥
दिन-दिन सुनत नाद जब विकसे, काया कम्पत सारी रे ।
अमृत बून्द झरे मुख माहिं, योगी-जन सुखकारी रे ॥
तन की सुध सब भूल जात हैं, घट में होय उजारी रे ।
ब्रह्मानन्द लीन मन होवे, समझो बात हमारी रे ॥

* नाड़ी *

लिंग मूल से कुछ ऊपर नाभि के थोड़ा नीचे कन्द के सदृश समस्त नाड़ियों का मूल (उत्पत्ति-स्थान) पक्षी के अण्डे के समान आकार वाला है । इन बहत्तर हजार नाड़ियों में मुख्य बहत्तर नाड़ी हैं और मुख्य वायु चलाने वाली दस ही प्रधान नाड़ी हैं ।

इड़ा च पिंगला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैवं यशस्विनी ॥
आलम्बुषा कुहूश्चव शङ्खिनी दशमा स्मृता ।
एतन्नाड़ीमय चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥

इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शङ्खिनी मुख्य दस नाड़ियों के नाम हैं । ये नाड़ियां मय चक्र योगाभ्यासी को अवश्य जाननी

चाहिए। नासिका के वाम भाग में इडा, दक्षिण भाग में पिंगला और इन के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी रहती है। इन तीनों की जड़ें मूलाधार चक्र की कर्णिका है जिसके वाम कोण से इड़ा, दक्षिण कोण से पिंगला उत्पन्न हुई हैं। ये तीनों नाड़ी अपनी-अपनी ओर के नासिका-छिद्र से बहती हैं, मध्य में सुषुम्ना नाड़ी मूलाधार से ब्रह्म-रंध्र पर्यन्त मिली हुई है। अन्य-अन्य नाड़ियाँ उक्त चक्र से उत्पन्न होकर प्रत्येक रंध्र में स्थित हैं। वैसे वाम नेत्र में गान्धारी, दक्षिण नेत्र में हस्तिजिह्वा, दक्षिण कर्ण से पूषा, वाम कर्ण में यशस्विनी, मुख में अलम्बुषा स्थित है। लिंग देश में कुहू, मूल-स्थान में शंखिनी, ये दो उस कंद से अधोमुख होकर नीचे और उर्ध्व-मुख होकर ऊपर को गई हैं। इस प्रकार यह दसों नाड़ियां प्राणवायु के एक-एक मार्ग में आश्रय करके स्थित हैं। (गो० प०)

इडा मोक्षवती गङ्गा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥

मेरुदण्ड के मध्य स्थित सुषुम्ना अत्यन्त सूक्ष्म और स्थूल नेत्र के अगोचर होने से अन्तःसलिला सरस्वती रूप है। जब योगी, योगबल से अपनी आत्मा को ब्रह्मरंध्र स्थान में त्रिवेणी तीर्थ में स्नान कराते हैं, तो उनको मोक्ष मिलता है।

प्रकटं प्राण सञ्चार लक्ष्येद्देह मध्यत।
इडापिंगला सुषुम्नाभिर्नाभस्ति सृभिर्बुध॥

देह के मध्य में जो प्राण का सञ्चार है, उसी प्राण को इडा, पिंगला, सुषुम्ना, इन तीन नाड़ियों को बुद्धिमान मनुष्य जाने।

इडावामे च विज्ञेयां पिंगलादक्षिणेस्मृता ।
इडानाड़ीस्थितावामा ततो व्यस्ता च पिंगला ॥

वाम भाग में इड़ा, दाहिने में पिंगला नाड़ियों को समझना चाहिए ।

इडायांतुस्थितश्चंद्रः पिंगलायां च भास्करः ।
सुषुम्नाशम्भुरूपेण शम्भु हंस स्वरूपतः

इडा में चन्द्रमा, पिंगला में सूर्य और सुषुम्ना में 'हंस' रूप स्थित है और 'हंस' स्वयंभु रूप में स्थित है ।

इडागंङ्गेतिविज्ञया पिंगलायमुनानदी ।
मध्येसरस्वतीं विद्यात्प्रयागादि समस्तथा ॥

इडा नाड़ी गंगा, पिंगला जमुना और मध्य की सुषुम्ना नाड़ी सरस्वती कहलाती है । इन तीनों के संगम को प्रयाग-राज या त्रिवेणी कहते हैं । सरस्वती को वीणा बजाते हुए 'हंस' वाहिनी कहा जाता है । 'हंस' और सरस्वती को पहले अच्छी प्रकार से सद्गुरु की शरण में जाकर जान लेना चाहिये ।

॥ अष्टांग योग ॥

योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । योग-अभ्यासी को योग-सिद्धि के लिए योग के इन आठों अंगों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए । इन के साधन से योग द्वारा जीव परमानन्द को प्राप्त होता है ।

यम—देहादौ विरक्तिःयमः।

अहिंसा, चोरी न करना, सत्य बोलना, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह अर्थात् शरीर यात्रा के सिवाय अधिक संग्रह न करना। पांचों का नाम यम है। देह से विरक्त अर्थात् विषयों से मन को हटाना यम है।

नियम—स्वात्मत्वेऽनुरक्तिः नियमः।

शौच, सन्तोष, तप और स्वाध्याय प्रणव-शब्द का जप, ईश्वर प्रणिधान(ईश्वर में भक्ति) इन पाँचों का नाम नियम है।

आसन—प्रत्येक दशा या आत्मचिन्तनम् आसनम्।

योग के तीसरे अंग का नाम आसन है। आसनों के अभ्यास से शरीर योग-युक्त तथा मन स्थिर हो जाता है। संसार में जितनी योनियाँ हैं, उतने ही आसन हैं। महादेव जी ने पूर्वकाल में चौरासी लाख आसनों का वर्णन किया है। जिन में चौरासी आसन विशेष हैं। चौरासी में से दस और दस में से मुख्य चार ही माने जाते हैं। जिसका नाम यह है, सिद्धासन–प्राणायाम काल में पद्मासन नाद श्रवण काल में, स्वस्तिका आसन–जप काल में और वीर आसन ध्यान काल में करना हितकर बतलाया है। सिद्ध आसन करने की विधि यह है कि वाम पद की एड़ी गुदा के नीचे और दाहिने पद की एड़ी लिंग मूल की जड़ में स्थापन करे तथा मेरुदण्ड को सीधा करके सुख से बैठे; यही आसन सर्वोत्तम है। वाम पद को दाहिने जंघा के नीचे और दाहिने पद को वाम जंघा के ऊपर रख कर सीधा शरीर करके बैठने का नाम स्वस्तिका आसन है। दोनों जँघाओं के ऊपर पाँव धारण करके सीधा बैठने का नाम पद्म आसन है

और दोनों पाँवों को दोनों जंघाओं के नीचे धारण करके सीधा बैठने का नाम वीरासन है।

प्राणायाम =सोऽहंभावना जप प्राणायामः।

प्राणायाम के जानने वा करने से योगी सिद्धियों का पात्र हो जाता है और आयु में वृद्धि होती है। प्राणायाम के साधन-काल में योगी पुरुषों ने सिद्धासन को ही परम श्रेष्ठ माना है। योगी लोगों ने प्राणायाम के कई भेद कथन किये हैं। जिनमें चन्द्र भेदन और भस्त्रि दो ही मुख्य हैं। यहां चन्द्र भेदन को मुख्य मान कर विधिवत् कहा जाता है।

वामनासिकया प्राणं पूरयेच्चंद्रमार्गतः।
कुंभयित्वोदरे सम्यक् सूर्यद्वारेण रेचयेत्॥

पहिले चन्द्रमा के मार्ग वाम नासिका पुट से प्राण को पूरक करे, और उस पूरक किये हुए प्राण को पेट में अपनी शक्ति अनुसार रोक कर कुम्भक करे, पीछे सूर्य द्वार दाहिने नासिका पुट से रेचन कर देवे। इसी प्रकार पिंगला से पूरक करे, यथा-शक्ति पेट में कुम्भक करके पीछे वाम-नासिका छिद्र से धीरे-धीरे रेचन करे। इसकी विधि यह है कि अगर एक मिनट पिंगला से पूरक करे तो चार मिनट अर्थात् चौगुने समय तक कुम्भक और पूरक के दुगुने तथा कुम्भक के आधे समय में धीरे-धीरे रेचन करे। १० गिनने तक पूरक, ४० गिनने तक कुम्भक और २० गिनने तक रेचन करे।

किन्तु वास्तव में यह करने से नहीं होता केवल गुरु कृपा से ध्यान योग द्वारा यह योग सिद्ध तथा प्राणायाम सद्गुरु कृपा से ही हो सकता है।

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

जल के स्नान से शरीर के अंगों और सत्य आचरण से मन की शुद्धि होती है। तप से विद्या एवं भूतात्मा और ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है। इसलिये स्नान तथा भोजन से पूर्व आत्म-चिन्तन का साधन करना चाहिए। (मनु ५–१०६)

योगाङ्गामुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।

योग साधन से प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में ज्ञान की वृद्धि होती है। जब तक मुक्ति नहीं होती, तब तक आत्म-ज्ञान बढ़ता ही जाता है। (योग साधना-पाद सू० २८)

दह्यन्तेध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

अग्नि में तपाने में सुवर्णादि धातुओं का जिस प्रकार मल नष्ठ हो जाता है वैसे ही प्राणायाम करने से मन और इन्द्रियाँ दोष रहित होकर निर्मल हो जाती हैं। (म० अ० ६–७)

समेशुचौ शर्करावह्नि बालुकाविवर्जिते शब्द जलश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले चक्षुपीडने गुहानिवाता श्रयणे प्रयोजयेतः ॥

योग का साधन स्थान वर्णन करते हुए ऋषि कहता है। सम,पवित्र, कंकड, अग्नि, रेत, शब्द कोलाहल और जलाश्य आदि से रहित, मन के अनुकूल, आँख को पीड़ा न देने वाली गुफा या वायु रहित स्थान में विवेक पूर्वक योग का साधन करे। (श्वेता० अ० २-१०)

तस्मान् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिर्विच्छेदाः प्राणायामाः ॥

श्वास-प्रश्वास की गति को प्राणायाम कहते हैं।
(पातंजल साधन-पाद ४९)

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरक कुम्भकैः ॥

पूरक, कुम्भक और रेचक में प्राण-अपान की सम गति करने को प्राणायाम कहते हैं। (योग याज्ञवल्क्य ६-२)

प्रत्याहार—विषयादिन्द्रियनिग्रहः—प्रत्याहारः

श्रोत आदि इंद्रियाँ शब्दादिक विषयों में स्वभाव से ही विचरती है। इनको विषयों से निवृत्त करना ही प्रत्याहार कहलाता है।

धारणा—अन्तःकरण धर्मम् वर्ज्जिता धारणाः।

संसार के विषयों से चित्त को रोककर किसी एक स्थान पर बार-बार प्रयत्न से निरोध करना ही धारणा है।

ध्यान—त्रिकुटी विरामे सच्चिदानन्द भावनं ध्यानम्।

जो सूर्य आदि, प्रकाशमान पदार्थों का भी प्रकाशक है, उस प्रकाशमान ईश्वर को जान कर ध्यान करने से जीव जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पा जाता है। (यजु० अ० ११ मं० १९)

बड़े से बड़ा, सूक्ष्म से अति सूक्ष्म, निराकार, अनन्त सामर्थ्यवान, सर्वत्र व्यापक, प्रकाश रूप, अद्वितीय, कारण से स्थूल कार्य रूप जगत के रचने वाला और जो विनाश करने की सामर्थ्य रखता है, उस ईश्वर को छोड़कर जो अन्य की उपासना करता है, उससे अन्य भाग्य-हीन पुरुष कोई भी नहीं है।
(यजु० अ०१७ मं०१९)

पृथ्वी और लोक लोकान्तरों तथा जीवों के मध्य में अन्तर्यामी रूप में जो परिपूर्ण भरा हुआ है ऐसे परमेश्वर को अपने अन्त:करण में ही खोजना चाहिए।

(अथर्व० का० १० अ० ४ व० २२ म० १०)

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युते भान्तिकुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वतस्य भाषा सर्वमिदविभाति।।

(श्वेता० अ० ६-१४, कठो० अ० २-२-१५)

उस परमेश्वर में सूर्य नहीं चमकता अर्थात् उस परमेश्वर को सूर्य प्रकाशित नहीं करता। न उसे चन्द्रमा और तारे ही प्रकाशित करते हैं। न उसे बिजलियाँ ही प्रकाशमान कर सकती हैं। अग्नि तो उसे प्रकाशमान कर ही कैसे सकती है। वास्तव में यह सभी पदार्थ उसकी ज्योति से ही चमकते हैं।

हिरण्यमये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥

(मुण्ड० २-२-६)

परम-कोश हृदय-आकाश में निर्मल, निष्कल; प्रकाशमय-ब्रह्म विराजमान है। वह शुद्ध-ब्रह्म ज्योतियों की परम ज्योति है। आत्म-ज्ञानी पुरुष ही उस शुद्ध-स्वरूप को जानते हैं।

ब्रह्मवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिद वरिष्ठम्॥

प्रकाशवान भगवान को जानने वाला ऐसी धारणा करे कि ऊपर-नीचे, दाएं-बाएं, आगे-पीछे, उत्तर-दक्षिण में ब्रह्म ही फैला हुआ है। यह सारा विश्व ब्रह्म से ओत-प्रोत है और जो सबसे श्रेष्ठ है, वह ब्रह्म का ही प्रकाश है। (मुण्ड० २-२-५१)

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम, यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्याकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥

इस परम-धाम, आश्रय रूप ब्रह्म को जिसमें कि यह सारा विश्व रहता है, उसे आत्म-ज्ञानी अथवा सत्संगी ही जानता है। जो निष्काम भक्त-जन उस परम-पुरुष परमात्मा की उपासना एवं ध्यान करते हैं, वे जन्म के बीज को लांघ कर जन्म-मरण से पार हो जाते हैं। (मुण्ड० ३-१-१)

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते, ज्योतिष्मानस्मिंल्लोकेभवति, ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति । य एतमेवं विद्वांश्तुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ।

जो उपासक भगवान के ज्योतिष्मान स्वरूप को जान कर उपासना एवं आराधना करता है वह इस लोक में ज्योति बाला हो जाता है। उसे महान्-प्रकाशमान, ज्योति दिखाई देने लगती है और वह तेजोमय लोकों को प्राप्त करता है। इसी को भगवान् के ज्योतिष्मान स्वरूप की उपासना कहा है।

(छा० प्र० ४-७-४)

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासः, यथा पाण्डवाविकम्; यथेन्द्रगोपो तथाऽग्न्यर्चिः यथा पुण्डरीक्कम् यथा सकृद्विद्युत्तम । सकृद्विद्युत्तेव ह वां अस्य श्रीर्भवतिय एवं । वेद अर्थात आदेशो नेति-नेति । (बृह० उ०अ० २ ब्रा० ३-६)

आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम, महत्पदमत्रैतत् समर्पितम् । एजत्प्राणः न्निमिषच्च यदेतज्ञानथ सदसद्वरेण्यं, परं विज्ञानाद्य द्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ (२रा० मुण्ड०, ख० २-१)

भगवान की उपासना का वर्णन करते हुए मुनि कहते हैं— वह ईश्वर अपने बनाए हुए आकृति-मान जगत में प्रगट है। सबके अत्यन्त ही समीप, सबका साक्षी और प्रसिद्ध है। वही सबका परम धाम है। जिसमें प्राण लेने, आँख झपकने वाला गतिमान शब्द पिरोया हुआ है; सो उस भगवान को जान!

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिंल्लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म, स प्राणस्तदु वाङ्मनः तदेतत्सत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि॥

वह ईश्वर प्रकाशमय और सूक्ष्म पदार्थों से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। उसी में सभी लोक-वासी निवास करते हैं वह अविनाशी और बहुत ही महान् है वही सबका प्राण, वाणी और मन है। वह सत्य और अमृत है। वह ध्यान के द्वारा बींधा जाता है अर्थात् उसी के ध्यान से उस में प्रवेश कर सकते हैं। इसीलिए उसी में ध्यान लगाना चाहिए। उसको पाने के लिए, हे प्यारे! तू उस परमेश्वर परम ज्योति में ध्यान लगा। (२रा मुण्ड० ख० २-२)

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं संधयीत।
आयम्य मद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥

ध्यान की विधि को बताते हुए मुनि कहते हैं—तू उपनिषद् द्वारा वर्णित ब्रह्म-विद्या के महा-अस्त्र रूप धनुष को ध्यान से हृदय रूपी हाथों से मजबूत पकड़ और उसमें उपासना रूपी तीखा तीर लगा। हे प्यारे! परमेश्वर के परम प्रकाश स्वरूप में एकाग्रचित्त से सुरति रूपी धनुष-डोरी को खेंच कर, उस शब्द को बींध॥ (२रा मुण्ड० ख० २-३)

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

इसी ध्यान के विषय को दुहराते हुए अंगिरा ऋषि कहते हैं, कि भगवान का नाम धनुष अभ्यासी भक्त की आत्मा बाण और ब्रह्म-स्वरूप लक्ष्य है । दुष्ट कर्म रूपी प्रमाद को त्याग कर सावधानी से उसे बींधना चाहिए । लक्ष्य को पाने के लिए अभ्यासी को नाम-ध्यान में बाण की तरह तन्मय होना चाहिए । (२ रा मुण्ड० ख० २-४)

नीहार धूमार्कानित्पानलानां खद्योत विद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभि व्यक्तिकराणि योगे ॥

कुहरा, धुआं, सूर्य, चन्द्रमा तारागण, बिजली अग्नि,वायु जुगनू स्फटिक मणि आदि के सदृश चमत्कारक-रूप, प्रकाश योग में पहले-पहल दिखाई देने वाले, परमेश्वर की प्राप्ति कराने वाले होते हैं । यह सारे आत्मिक-दृश्य भगवान् के परिचायक हैं । ध्यान योग में ऐसी लीलायें सद्गुरु की कृपा से भक्तों को आप ही आप दिखाई पड़ती हैं । (श्वेता० २-११)

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(यजु० अ० ३१ मंत्र १८)

अन्धकार से अत्यन्त परे प्रकाश स्वरूप उस महान् परमेश्वर को मैं जानता हूँ । जिसको जान कर उपासक मृत्यु को लांघ जाता है इसके सिवाय मुक्ति का दूसरा मार्ग नहीं है ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ (गी० ११-२)

आकाश में हजारों सूर्यों के एक साथ उदय होने से जो प्रकाश ऊत्पन्न हो वह भी उस प्रकाश के सदृश कदाचित ही होवे। जो महात्मा कृष्ण ने अर्जुन को दिखाया।

If the Splendour of a thousand suns were to blaze out together in the sky, that also might not resemble the glory of that Mahatma (Gita—XI-12)

न तद्भासते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

उस स्वयं प्रकाशमय परमपद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकती है तथा जिस परम-पद को प्राप्त हो कर मनुष्य संसार चक्र में नहीं आते हैं वही मेरा परमधाम है। (गीता १५-६)

Nor doth the sun lighten there,nor moon, nor fire, having gone neither they return not; that is My supreme abode. (Gita—XV-6)

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामि ना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ (गी० ८-८)

हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वर के ध्यान के अभ्यास रूप योग से युक्त अन्य तरफ न जाने वाले चित्त से निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाश स्वरूप, दिव्य परम-पुरुष अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होता है।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्य रूपादित्यवर्णतमसः परस्तात्॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

इससे जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म, सबके धारण पोषण करने वाले, अचिन्त्य स्वरूप, सूर्य के सदृश, नित्य, चेतन, प्रकाश-रूप अविद्या से अति परे शुद्ध, सच्चिदानन्दघन परमात्मा को स्मरण करता है, वह भक्ति युक्त पुरुष, अन्तकाल में भी योगबल से भृकुटि के मध्य में प्राण को अच्छी प्रकार स्थापन करके, निरन्तर मन से परमेश्वर का स्मरण करता हुआ उस दिव्य स्वरूप परम-पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है। (गी० ८-९,१०)

At the time of relinquishing mortal body, with unshaken mind fixed in devotion, by the power of yoga drawing together his life breath in the centre of two eye-brows, he goeth to this spirit supreme Divine. (VIII-9,10)

राम भक्ति चिन्ता मणि सुन्दर। बसइ गरुड़ जाके उर अन्दर॥
परम प्रकाश रूप दिन राती। नहिं चाहिये कछु दिया घृत बाती॥
रूप रेख बरनौं कहा, कोटि सूरज प्रकाश।
अगम अगोचर रूप है, पावे गुरु का दास॥ यारी साहेब
बहिर्जगत में खोज रहे हो, एक झलक भर जिसकी।
अन्तर्जगत में देखो तो तुम, ज्योति जग रही उसकी॥ बा. कृ.

बलिहारी गुरु आपने देवाड़ी सत्-बार॥
जिन मानुष ते देवता कियो, करत न लागी बार।
जे सौ चन्दा उगवें, सूरज चढ़ें हज़ार।
ऐता चांदन होंदियाँ, गुरु बिन घोर अंधार॥
ज्ञानांजन सत्गुरु दिया, अज्ञान अंधेरे विनाश।
हरि कृपा ते संत भेटिया, नानक मन प्रकाश॥ नानक

कोटि चन्दा उगवें, सूरज कोटि हजार।
सद्गुरु मेल्यां बाहरे, दीषत घोर अंधार॥
सूर्य-चन्द्र तहाँ प्रकाशित नांहि, नहिं नभ मण्डल तारा।
उदय न अस्त दिवस नहिं रजनी, बिना ज्योति उजियारा॥
कोटि चन्दा आनि घर, सूरज कोटि मिलाय।
दादू गुरु गोविन्द बिन, तो भी तिमर न जाय॥

निरंजन घर का भेद सुनो सब सन्त ॥टेक॥

नहिं काशी नहिं पुरी द्वारिका, नहिं गिरि शिखर रहंत।
नहिं पताल नहिं स्वर्ग लोक में, क्यों फिरता भरमंत॥
काया नगरी बीच मनोहर, त्रिकुटि महल सुहंत।
तिस के ऊपर बसे निरंजन, जग-मग जोत जगंत॥
नेत्र बन्द कर दृष्टि जमावे, निशिदिन ध्यान धरंत।
आसन थिर कर साधन कीजे, बैठ भवन इकंत॥
पहले-पहले रवि शशि तारे, बिजली की चमकंत।
ब्रह्मानन्द स्वयंभु ज्योति, फिर पीछे दर्शंत॥

घट में ही उजियारा साधो, घट में ही उजियारा रे ॥टेक॥

पास बसे और नजर न आवे, बाहर फिरत गंवारा रे॥
बिन सद्गुरु के भेद न जाने, कोटि जतन कर हारा रे।
आसन पद्म लगाकर बैठो, उलट नैन का तारा रे।
त्रिकुटी महल में ध्यान लगाओ, देखो खेल अपारा रे।
नहिं सूरज नहिं चाँद चाँदनी, नहिं बिजली चमकारा रे।
जग-मग ज्योति जगे घट माँहि, पार-ब्रह्म विस्तारा रे॥
जो योगी जन दर्शन पावे, उघड़े मोक्ष द्वारा रे।
ब्रह्मानन्द सुनो रे अवधू, वो है देश हमारा रे॥

आकाशे यत्र शब्दः स्यत्तदाज्ञाचक्रमुच्यते ।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात्॥

जिस आकाश में वह शब्द ब्रह्म स्थित है उसे आज्ञा चक्र कहते हैं । वहाँ कल्याण कारी आत्म-स्वरूप शब्द का ध्यान करके योगी जन मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ।

शब्दहि धरती शब्द अकाश । शब्दहिं शब्द भयो प्रकाश ॥
सकल सृष्टि शब्दहिं के पाछे । नानक शब्द घटाघट आछे ॥

निर्मल गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मनं सर्वगं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥

आज्ञा चक्र के ऊपर शून्य स्थान में करने योग्य ध्यान है । स्वरूप को आच्छादित करने वाला, मलित सम्बन्ध से रहित आकाश के समान, एकाकार, सर्वव्यापक, प्रकाशमान, तेज-स्वरूप का ध्यान करने से योगी मुक्ति को प्राप्त होता है ।

भ्रुवोर्मध्ये मनोर्ध्वं च यत्तेजः प्रणवात्मकम् ।
ध्यायेज्ज्वयालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदेवहि ॥

दोनों भवों के बीच में तथा मन के ऊपर जो प्रणव (प्राणों के उत्पन्न करने वाला शब्द) है, वह तेज-वलीयुक्त शिखा है, वही तेजोध्यान है अर्थात् ज्योति-ध्यान है । (घे० सं०)

आसने स्थितो योगी स्थिरकायः समाहितः ।
निमील्ये नयने पश्येद् भ्रुवोर्मध्यं सदा धिया ॥

पहले आसन से बैठ करके शरीर को स्थिर करे और फिर चित्त की एकाग्रता से दोनों नेत्रों को बन्द करके अन्दर से मन की वृद्धि रूप दृष्टि से दोनों भवों के मध्य में ध्यान आँखों की पुतलियों को मिला कर लगाना चाहिए ।

स्वयं ज्योतिर्मयो भूत्वा योगी तत्गत्मानसाः ।
ब्रह्मण्येव लयं याति परे ज्योति स्वरूपणी ॥

योगी तिस ज्योति के ध्यान की तत्परायणता से स्वयं भी उस परम ज्योति स्वरूप में समा जाता है ।

सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ मनु० अ० ६-६५॥

देह से उत्पन्न होने वाले विकारों से मन को हटा कर योग अभ्यास द्वारा परमात्मा के स्वरूप का ध्यान करे ।

स्पर्शान्कृत्वा वहिर्वाह्यांश्चक्षु शचैवान्तरे भ्रवो ।
प्राणा पानौ समौ कृत्वा नासाभ्यंतर चारिणो॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥

बाहर के विषय भोगों का चिन्तन न करते हुए बाहर ही त्याग कर और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के मध्य में स्थिर करके तथा नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को सम कर के जीती हुई हैं इन्द्रियां मन और बुद्धि जिसकी ऐसा जो मोक्ष परायण मुनि इच्छा भय और क्रोध से रहित है वह सदा मुक्त ही है । (गी० ५-२७, २८)

Having external contacts excluded and with gaze fixed between the eyebrows having made equal the outgoing and ingoing breath moving within the nostrils.
(Gita 5-27)

With Senses mind and Reason ever controlled & oderly pursuing liberation, the Sage, having for ever cast away desire fear and passion verily is liberated.
(Gita 5-28)

समाधी—परब्राह्मी स्थिति समाधी :—

चित्त का जो समाधान है अर्थात् स्थिर चित्त की जो शांत अवस्था है, उसे ही मुनि समाधी कहते हैं।

यदापंचवतिष्ठान्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहुः परमां गतिम्॥

देह-धारी को आत्मा का ज्ञान समाधी में ही होता है। उस समाधी का चिह्न यह है कि जब पाँचों ज्ञान इन्द्रियाँ मन के साथ निश्चल हो जावें और बुद्धि भी चेष्टा न करे, उसे ही सन्त-जन समाधी या परम-गति कहते हैं। (कठो० २–६, १०)

समाधीश्च परो योगो बहुभिर्यो न लभ्यते।
गुरोः कृपाप्रसादेन प्राप्यते गुरुभक्तितः॥

समाधी योग से परे कोई योग नहीं है, यह योग भक्ति के अभ्यास से तथा गुरु की कृपा से प्राप्त होता है।

विद्याप्रतीतिः स्वगुरुप्रतीतिरात्मप्रतीतिर्मनसः प्रबोधः।
दिने दिने यस्य भवेत्स योगी सशोभ नाभ्यसमुपैतिसद्यः॥

जिसका योग विद्या में विश्वास हो, गुरू में विश्वास हो, आत्मा में विश्वास हो, जो मन स्थिर रखे, वही योगी, नित्य के सुन्दर अभ्यास से ब्रह्म को प्राप्त करता है।

साधनात्खेचरी मुद्रा रसनोर्ध्वगता सदा।
तदा समाधिसिद्धिः स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम्॥

खेचरी मुद्रा को साधकर जिह्वा को तालू के छिद्र में लगाने का अभ्यास करे। तालू के ऊपर अमृत-कूप से अमृत टपकता है। उसको पान करने का अभ्यास से समाधि सिद्ध होती है।

अभेद्यः सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्रणां योगी युक्तः समाधिना ॥

जब योगी इस विधि से समाधि युक्त हो जाता है तो उसे शस्त्र नहीं काट सकता। सिंह, सांप, गज,व्याघ्र आदि हिंसक पशु भी नहीं खा सकते । न ही उस पर कोई तन्त्र-मन्त्र और यन्त्र चल सकते हैं । उसके लिए अग्नि शीतल और ज़हर अमृत हो जाता है। प्रह्लाद, मीरा, आदि भक्तों के मार्ग में कोई भी वस्तु या शस्त्र बाधा न डाल सका । ।

बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा ॥
साध्यते न च केनापि योगी युक्तः समाधिना ।

योगी जब समाधी में स्थिर हो जाता है, तो उसको बुढ़ापा और मृत्यु दुःख नहीं दे सकते। वह अजर-अमर हो जाता है। उस पर काल का कोई भी वश नहीं चलता। न वह पाप कर्म बन्धनों में लिप्त होता है और न उसे कोई विषय वासना में लगा सकता है । समाधीस्थ पुरुष को कोई भी अपने क़ाबू में नहीं कर सकता।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभ मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

भगवान कहते हैं, हे अर्जुन ! जिस अवस्था में योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित् उपराम हो जाता है और जिस अवस्था में परमेश्वर के ध्यान से शुद्ध हुई बुद्धि द्वारा परमात्मा

का साक्षात्कार करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही सन्तुष्ट होता है, उस परमात्मा की प्राप्ति रूप लाभ को प्राप्त होकर, भगवत् प्राप्ति रूप अवस्था में स्थित हुआ योगी, बड़े भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होता। (गी० ६-२०,२२)

That in which the mind finds rest, quietened by the practice of yoga, that in which he, seeing the self, in the self is satisfied(6-20)

Which having obtaind, he thinketh there is no greater gain beyond it wherein established he is not shaken even by heavy sorrow.

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।
पातंजल, विभूतिपादः ॥ ३ ॥

वेदों का समाधी के विषय में केवल मात्र इतना ही अर्थ है, कि निराभास होकर परमात्मा के स्वरूप में स्थिर हो जावे, इसी का नाम समाधी है। यहाँ पातंजलि योग शास्त्र में वर्णन किया गया है।

यमश्च नियमश्चैव आसनंचतथैव च ।
प्राणायामस्तथा गार्गि प्रत्याहारश्च धारणा ॥
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि वरानने ॥
योगी याज्ञवल्क्यः १।४५

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के आठों अंगों को योगी लोग अच्छी प्रकार जानते हैं और वही इनके पूरे रहस्य को समझा सकते हैं। जो इनका सम्पूर्ण रूप से पालन करता है वह योग-आरूढ़ पुरुष पराकाष्ठा वाली परम-शाँति वा परम-गति को प्राप्त कर लेता है।

सारांश :—

"ध्यान के लिए यम, नियम, आसन और समाधी के लिए प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आवश्यक साधन हैं तथा ध्यान और समाधी ये दोनों योग के लिए परमावश्यक साधन हैं। इसीलिये ये आठों योग के अंग माने जाते हैं।

समाधी—प्राण-अपान को सम करके परमेश्वर का ध्यान करना समाधी है।

ध्यान—चित्त की वृत्ति (मन) को विषयों से हटा कर परमात्मा में लगाना ध्यान है।

योग—ध्यान और समाधी लग जाने पर परमेश्वर की प्राप्ति का नाम योग है। अतः सब योग के ही साधन हैं।"

॥ आत्मनिवेदन-भक्ति ॥

यदि हमें किसी देश या गाँव में रहना हो, तो सर्वप्रथम हमें वहाँ के मुखिया या स्वामी से मिलना चाहिए। यदि हम वहाँ के स्वामी से नहीं मिलेंगे, तो कैसे वहाँ सुख से रह सकते हैं? इसलिए जिसे जहाँ रहना हो, उसे वहाँ के स्वामी से अवश्य भेंट करनी चाहिए। उसके लिए यही सर्वोत्तम है।

इस सारे विश्व की रचना करने वाला एवं स्वामी परमेश्वर है। विवेकी पुरुष इसका रहस्य अच्छी तरह जानते हैं। इसलिए जो लोग बुद्धिमान् हैं, वे प्रभु से अवश्य भेंट करते हैं। जो लोग भेंट नहीं करते, उन्हें संसार में अनेक प्रकार के संकट भोगने पड़ते हैं। गाँव में वहाँ का अधिपति बड़ा होता है। उससे

बड़ा देश का अधिपति और उससे भी बड़ा नृपति होता है। राष्ट्र का प्रभु राजा और बहुत से राष्ट्रों का पति महाराज, तथा महाराजाओं का भी राजा चक्रवर्ती होता है। नरपति, गजपति हयपति और भूपति सब में चक्रवर्ती राजा बड़ा होता है। इन सबको बनाने वाला ब्रह्मा है। उस ब्रह्मा का बनाने वाला (पिता) कौन है? **जो ब्रह्मा, विष्णु, और महेश का भी बनाने वाला है, उस परमेश्वर को अनेक यत्न करके पहचानना चाहिए।** जब तक उस ईश्वर की प्राप्ति न हो, तब तक यम-यातना से छुटकारा नहीं मिलता। उस ब्रह्माण्ड-नायक से भेंट का न होना अच्छा नहीं है। जिस ईश्वर ने मनुष्य को संसार में भेजा है और जो सारे ब्रह्माण्ड की रचना करता रहता है, उसे न पहचानने वाला पतित है। इसलिए ईश्वर को पहचान कर अपना जन्म सार्थक करना चाहिए। यदि उसका ज्ञान न हो, तो सत्संग करना चाहिए। श्री सद्गुरु की कृपा से ही उसका सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। भगवान् को जानने वाला ही शाश्वत-अशाश्वत का निर्णय करता है। उसी महानुभाव को सन्त या साधु समझना चाहिये। जो मनुष्यों में रहकर लोगों से भिन्न अर्थात् अलौकिक बातें बतलाता हो और जिसके हृदय में आत्मा का साक्षात् हो गया हो, अर्थात् निर्मल ज्ञान की जागृति हुई हो, जिसको सायुज्य-मुक्ती प्राप्त हो गई हो, उसी को साधु समझना चाहिये। पेट भरने के लिये जो विद्यायें सीखी जाती हैं, उन्हें भी ज्ञान कहते हैं, पर यह सार्थक नहीं है। जिस ज्ञान से ईश्वर पहचाना जाये, वही सार्थक है।

स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदम् सामवेदं वाथर्वणं चतुर्थम् इतिहासपुराणं पञ्चम् वेदानांवेदनम्, पित्र्यम्, राशिम् दैवम्, निधिम् वाको वाक्यमेकायनम् देवविद्याम्, ब्रह्मविद्याम्, भूताविद्याम्, क्षत्र विद्याम्, नक्षत्रविद्याम्, सर्पदेवजवविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥

नारद ने कहा, भगवन् ! मैं ऋग्वेद को जानता हुँ। यजुर्वेद को, सामवेद को चौथे अथर्ववेद को, पाँचवे इतिहास पुरान को वेदों के वेद-व्याकरण को पितृ-कर्म को, गणित-शास्त्र को, भाग्य-विज्ञान को, विधि-ज्ञान को, तर्क-शास्त्र को- नीति-शास्त्र को, देवों के ज्ञान को, भक्ति शास्त्र को, पाँच तत्त्वों की विद्या को, धनुर्वेद को, ज्योतिष-शास्त्र को, सर्पों के ज्ञान को और गन्धर्व-संगीत, नृत्य-विद्या को मैं जानता हूँ। हे भगवन् ! यह सब विद्या मैं अध्ययन करता हूँ तथा मुझे ये विद्याएँ आती हैं।

(छा० ७-१-२)

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् श्रुतं हेव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति । सोऽहं भगवः शोचामि। तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति। तं होवाच यद्वैकिंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ।

हे भगवन् ! इन सर्व विद्याओं में सम्पन्न मैं मन्त्रवत् ही हूँ ग्रन्थों के पाठ का ज्ञाता ही हूँ, मगर आत्माका ज्ञाता नहीं हूँ भगवन् ! मैंने आप से सुना है, कि आत्म-ज्ञाता शोक और जन्म-मरण की चिन्ताओं को तर जाता है। परन्तु भगवन् ! मैं शोक करता हूँ। भगवन् ! उस चिन्तातुर शोक से मुझको पार तार देवें। नारद से सनतकुमार ने कहा, तूने जो कुछ

भी यह अध्ययन किया है, यह विद्या मान प्रतिष्ठा तथा केवल पेट भरने ही की विद्यायें हैं। अनेक प्रकार की विद्याऐं तथा मन्त्रोपदेश होते हैं जिनका पूरा-पूरा वर्णन करने को एक स्वतंत्र शास्त्र चाहिए। पर फिर भी यहाँ कुछ मन्त्रोपदेश बतलाये जाते हैं। ओंकार, शिव, भवानी, विष्णु, गणेश, कृष्ण आदि अनेक शक्तियों के अनेक मन्त्र होते हैं। कोई बहुत से भूत, बिच्छू साँप का विष उतारते हैं। कोई भूचरी, चाचरी आदि मुद्रायें बतलाते हैं। कोई-कोई अनेक प्रकार के आसनों का साधन, कोई चमत्कारपूर्ण दृश्य दिखलाते हैं, कोई शरीर की रचना की बातें बतलाते हैं, कोई सगुण और निर्गुण की बातें बतलाते हैं। कोई तीर्थ, व्रत बताते हैं, कोई महा-वाक्य (प्रज्ञान-ब्रह्म, अहंब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि अयात्मा ब्रह्म जो क्रमशः ऋग, यजु, साम और अथर्ववेद है) कोई वासुदेव सर्वमिति, "सियाराम मय सब जग जानी" और कोई सर्वं खल्विदं ब्रह्म का उपदेश देते हैं। कोई वशीकरण, मोहन, उच्चाटन आदि के प्रयोग बतलाते हैं। इसी प्रकार के असंख्य मन्त्र-तन्त्र उपदेश और विद्यायें हैं। पर बिना ज्ञान के यह सब निरर्थक है। इस विषय में भगवान श्रीकृष्ण का वचन है :—

नाना शास्त्रं पठेल्लोके नानादैवत पूजनम्।
आत्मज्ञान बिना पार्थ सर्वकर्म निरर्थकम्॥
शैवशाक्तागमाद्यये अन्ये च बहवो मताः।
अपभ्रंश समास्तेऽपि जीवानां भ्रान्त चेतसाम्॥
नहिं ज्ञानेन सदृशम् पवित्र मिद मुत्तमम्।

भाव यह है कि ज्ञान के समान पवित्र और उत्तम कोई भी वस्तु नहीं है। इसलिए पहले आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सब मन्त्रों से आत्मज्ञान का मन्त्र कहीं बढ़ कर है। इस विषय में श्रीकृष्ण जी ने अनेक स्थानों पर यही कहा है कि:—

यस्य कस्य च वर्णस्य ज्ञान देहे प्रतिष्ठितम्।
तस्य दासस्य दासोऽहं भवे जन्मनि जन्मनि॥

आत्मज्ञान की महिमा तो चतुर्मुख ब्रह्मा भी नहीं जानते, बेचारा जीवात्मा-प्राणी तो क्या जान सकता है ? सब तीर्थों में स्नान और दान करने का जो फल है, उसमें ज्ञान का फल करोड़ गुने से कहीं अधिक फलदायक है।

पृथीव्यां यानि तीर्थानि स्नानदानेषु यत्फलम्।
तत्फलम् कोटि गुणितं ब्रह्मज्ञान समोपमम्॥

कोटि-कोटि तीर्थ आदि शुभ कर्मों के करने का वह फल कदापि नहीं होता जो ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मज्ञान का फल होता है आत्मज्ञान अति गहन से भी गहन है। अब उसके लक्षण बतलाये जाते हैं। जब तक सच्चा और स्पष्ट आत्म-ज्ञान न हो तब तक सब प्रकार के ज्ञान निष्फल होते हैं। क्योंकि उस सच्चे ज्ञान के बिना मन की विकलता या चंचलता दूर नहीं होती पर ज्ञान शब्द का उच्चारण करते ही भ्रम उत्पन्न होता है। इस प्रकार लोग कह सकते हैं कि यह भ्रम कैसा और इसका रहस्य क्या है ? अतः अब क्रम से यह विषय बतलाया जाता है। भूत, भविष्य और वर्तमान काल की बात मालूम होने को भी ज्ञान कहते हैं पर वह वास्तविक ज्ञान नहीं

है। बहुत कुछ विद्या अध्ययन करना, संगीत-शास्त्र, वैद्यक और वेदों का अध्ययन करना भी ज्ञान नहीं है। अनेक प्रकार के व्यवसायों और दीक्षाओं तथा परीक्षाओं का ज्ञान भी ज्ञान नहीं है। अनेक प्रकार की स्त्रियों और पुरुषों की परीक्षा करना भी ज्ञान नहीं है। अनेक प्रकार के घोड़ों, हाथियों और जंगली जानवरों की परीक्षा करना भी ज्ञान नहीं है। अनेक प्रकार के पक्षियों जलचरों सतेज या अग्निमय-पदार्थों, रसों, बीजों, अंकुरों पुष्पों, फलों, वनस्पतियों, दुखों, रोगों, चिन्हों, यन्त्रों, मूर्तियों, क्षेत्रों, ग्रहों, पात्रों, भविष्य में होने वाली बातों, कालों, तर्कों अनुमानों और निश्चयों आदि की परीक्षा-ज्ञान भी ज्ञान नहीं है। अनेक प्रकार की विद्याओं, कलाओं, चातुर्यों, शब्दों, अर्थों भाषाओं, वरों, स्वर्णों, लेखों, मतों, ज्ञानों, प्रवृत्तियों, रूपों, रचनाओं सुगन्धियों, सृष्टियों, विस्तरों, पदार्थों व भूमिपतियों आदि की परीक्षा भी ज्ञान नहीं है। परिमित भाषण करना, किसी बात का तत्काल उत्तर देना या हाजिर जवाबी अथवा शीघ्र कविता करना भी ज्ञान नहीं है। नेत्रों के संकेत से भाषण करना या समझना, भेद की बात जानना या संकेत कला जानना भी ज्ञान नहीं है। काव्य कौशल, सङ्गीत कला, गीत, प्रबन्ध या गीत-रचना, नृत्य-कला और सभा-चातुर्य भी ज्ञान नहीं है। वाग्विलास या अच्छी बातें करना, मोहन कला, रम्य और मधुर-गायन-कला, हास्य-विनोद और काम कला, अनेक प्रकार के कौशल, चित्र कला, अनेक प्रकार के बाजे बजाने आदि की अनेक विचित्र चौंसठ कलायें हैं। इन के अतिरिक्त और भी दूसरी कलायें जैसे चौदह विद्यायें पूर्ण रूप से जानना भी ज्ञान

नहीं है । चाहे कोई सभी कलाओं में प्रवीण हो और विद्या मात्र से परिपूर्ण हो, तो भी उसे केवल कौशल ही कहेंगे । वह कभी ज्ञान नहीं हो सकता । यद्यपि यह सब बातें भी ज्ञान के समान ही जान पड़ती हैं, पर मुख्य ज्ञान कुछ और ही है । ज्ञान का उस प्राकृतिक ज्ञान से कोई भी सम्बन्ध नहीं है । दूसरे के मन की बात जान लेना भी ज्ञान ही समझा जाता है, पर यह आत्म ज्ञान का लक्षण नहीं है। यदि कोई बड़ा महानुभाव मानस पूजा करते-करते बीच में कुछ भूल गया और किसी ने उसे टोक दिया कि तुम ने यहां पर भूल की है, तो इस प्रकार मन की स्थिति जानने वालों को परमज्ञाता कहते हैं, पर यह भी वह ज्ञान नही हैं जिससे मोक्ष प्राप्त होती है। ऐसे अनेक प्रकार के ज्ञान कहे जाते हैं जिनका पूरा-पूरा वर्णन नहीं हो सकता पर जिस ज्ञान से सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है, वह ज्ञान कुछ और ही है। ज्ञान का वास्तविक अर्थ विमल आध्यात्मज्ञान ही है । ईश्वर को जानना, सत्य का स्वरूप पहचानना और नित्य तथा अनित्य का विचार करना ही सच्चा ज्ञान है । जिस ज्ञान के द्वारा इस दृश्य प्रकृति का अन्त हो जाता है, कोई पंच-भौतिक वस्तु नहीं रह जाती और द्वैत-भाव का समूल नाश हो जाता है, उसी को ज्ञान कहते हैं । जो मन और बुद्धि के लिए अगोचर है, जिसके सामने तर्क नहीं ठहर सकता, जो अलेख है तथा परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी चार प्रकार की वाणियों में सर्वश्रेष्ठ वाणी परा से भी परे है । जहां अहं-ब्रह्मास्मि का ज्ञान भी अज्ञान ही है और जो परम-विमल तथा शुद्ध-स्वरूप ज्ञान है, वही सच्चा ज्ञान है ।

प्राचीन काल में बड़े-बड़े अत्रि आदि ऋषीश्वर, महामुनि-व्यास, वशिष्ठ, समाधानी-शुक, नारद, महाज्ञानी जनक, वामदेवादि योगेश्वर, वाल्मीकि, अध्यात्म के जानने वाले शौनक तथा सनक आदि मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि अनेक महात्मा इसी शुद्ध-ज्ञान के द्वारा सालोक, सामीप्य सारूप्य, और सायुज्य मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। महादेव जी भी सदा इसी परम-ज्ञान में मग्न रहते हैं। यही ज्ञान वेदों और शास्त्रों का सार है। सद्गुरु-प्रतीति और आत्म-प्रतीति विचार यही है।

यह ज्ञान तीर्थ, व्रत, तप, दान, धूम्रपान, जलती हुई आग के ऊपर उल्टे होकर लटकने से या पंचाग्नि वा गोराजन (ईश्वर के नाम पर अपने आप को जलाना) से भी प्राप्त नहीं होता। यह समस्त साधनों का फल और सर्व ज्ञान की चरम सीमा आत्मज्ञान है। इसी से सब संशयों का समूल नाश होता है। अनेक भाषाओं और उन सब के ग्रन्थों से लेकर वेदान्त तक सब का गहन अर्थ वही एक ज्ञान है। पुराणों से उसका पता नहीं चलता, वेद-वाणी उसके वर्णन में नेति-नेति करके चुप हो जाती है। पर सत्गुरु की कृपा से मैंने यहां उसका रहस्य बतलाया है। यद्यपि संस्कृत, मराठी और अंग्रेजी आदि ग्रन्थों का मुझे कोई भी ज्ञान नहीं है। पर मेरे हृदय में कृपा मूर्ति सत्गुरु स्वामी विराजमान हो गये हैं। इसीलिये अब मुझे संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों की कोई आवश्यकता नहीं रही। मेरे स्वामी ! कृपा पूर्वक मेरे हृदय में आकर बस गये हैं। वेदाभ्यास व सब ग्रन्थों का अध्ययन अथवा किसी प्रकार का कोई प्रयत्न किए बिना ही केवल सद्गुरु की कृपा से सब बातें

सहज में हो जाती हैं। वेदान्त तथा समस्त शास्त्रों को मथ कर जो गहन पदार्थ निकाला गया है वह गहन से भी अति गहन 'सद्गुरु स्वामी' का परम हितकारक वचन है जिससे अवश्य ही समाधान होता है। सद्गुरु का वचन ही वेदान्त-सिद्धान्त और प्रत्यक्ष आत्म-अनुभव ज्ञान है। जो अत्यन्त गहन है और जिससे मुझे अत्यन्त सुख-शान्ति मिली है, वही अपने हृदय की बात मैंने आप लोगों को बतलाई है। केवल श्री श्री १०८ श्री सत्गुरु स्वामी के वचन से ही परम पवित्र शुद्ध-ज्ञान और परम-शान्ति मिलती है।

* ईश्वर दर्शन *

जो भगवान् को चाहता है वह पाता है।

आज संसार के अधिकांश लोग नास्तिक ही हैं। वर्तमान युग में पाश्चात्य संसार में एक नास्तिक या जड़वादी सम्प्रदाय प्रकट हुआ है। पर इसे देख कर मुझे अत्यन्त हर्ष होता है। क्योंकि यह कपट-शून्य नास्तिक सम्प्रदाय है। कपटी धर्म-वादियों से ये नास्तिक कई गुणा अच्छे हैं। धर्म-वादी नास्तिक, धर्म की वा ईश्वर-भक्ति की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, धर्म तथा ईश्वर के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क करते हैं परन्तु धर्म को या ईश्वर-भक्ति को वे नहीं जानते और न ही चाहते हैं। धर्म को तथा ईश्वर-भक्ति को समझने या उसे प्राप्त करने की वे चेष्टा भी नहीं करते। ईसा की यह बात याद रखियेगा कि "मांगने पर ही पाओगे, खोजने पर ही तुम्हें मिलेगा, दरवाजा

खटखटाते ही खोल दिया जायेगा ।" कबीर साहब ने भी कहा है—

जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ ।
मैं बौरी ढूंढन गई, रही किनारे बैठ ॥
वस्तु कहीं ढूंढे कहीं, केहि विधि ग्रावे हाथ ।
कहे कबीर वस्तु तब पाइये, भेदी लीजे साथ ॥
भेदी लीन्हा साथ कर, दीन्ही वस्तु लखाय ।
कोटि जन्म का पन्थ था, पल में पहुँचा जाय ॥

ईसा ने साफ़ कहा है, देखोगे नजर ग्राएगा, बोलोगे-बोलेगा ।' ये बात उपन्यास, रूपक या कल्पना नहीं हैं। ये ग्रक्षरशः सत्य हैं। ये बातें कोरी काल्पनिक नहीं हैं। वरन् प्रत्यक्ष ग्रनुभव के स्वरूप हैं । ये बातें एक ऐसे मनुष्य के मुँह से निकली हुई हैं, जिन्होंने ईश्वर को उपलब्ध किया था। जिन्होंने ईश्वर का प्रत्यक्ष ग्रनुभव किया था ग्रौर उनके साथ वार्तालाप किया था। उनके साथ एक जगह निवास किया था। हम ग्रौर ग्राप मकान को जितना प्रत्यक्ष देखते हैं, उससे उन्होंने कहीं ग्रधिक स्पष्टता से भगवान के दर्शन किए थे। ग्राज तक भगवान को जिसने खोजा, उसने पाया जैसे कि ध्रुव, प्रह्लाद भक्तों ने उस को पाया था । जिस प्रकार नदी से पार होने का साधन नौका, दूध से मक्खन निकालने का साधन मथनी, ग्रन्धेरे को दूर करने का साधन सूर्य, ग्रज्ञान को नष्ट करने का साधन ज्ञान, ज्ञान को प्राप्त करने का साधन गुरु की सेवा, जीवित रहने का साधन श्वास है, इसी प्रकार प्रभु को पाने का साधन ग्रखण्ड प्रेम-भक्ति है।

छिन चढ़े छिन उतरे, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसे, प्रेम कहावे सोय॥

देखा-देखी प्रेम का, कभी न चढ़सी रंग।
विपत पड़े यों छांड़सी, ज्यों कैंचुली भुजंग॥

प्रेम-प्रेम सब कोई कहे, प्रेम न चीन्हे कोय।
जेहि प्रेम सांई मिले, प्रेम कहावे सोय॥

एक समय कोई शिष्य अपने गुरु के पास जाकर कहने लगा प्रभो! मुझे ईश्वर का दर्शन करवाईये, मैं ईश्वर को देखना चाहता हूं। गुरु ने एक दृष्टि शिष्य की ओर डाली और हंस कर चुप लगा गए। शिष्य नित्य प्रति यही प्रश्न करने लगा, कि मुझे ईश्वर को साक्षात दिखलायें।

गर्मियों के दिनों में एक रोज गुरु जी शिष्य को साथ लेकर नदी पर स्नान करने के लिए गए। पानी में ज्यों ही शिष्य ने डुबकी लगाई कि गुरु ने उसे ऊपर से दबा लिया। शिष्य ने अपना सर पानी से निकालने का बहुत उपाय किया, अन्त में गुरू जी ने उसे छोड़ दिया। पूछा, जब तुम पानी के अन्दर थे तब तुम्हें सबसे अधिक किस वस्तु की आवश्यकता थी? जिसके बिना तुम बेचैन हो रहे थे। शिष्य ने कहा महाराज! वायु के बिना श्वास रुक गया था। यदि आप एक क्षण और न छोड़ते, तो प्राण निकल जाते। गुरुमहाराज ने कहा प्यारे! वायु की तरह क्या कभी इतना अभाव भगवान के लिए भी अनुभव करते हो! यदि ऐसी बेचैनी भगवान के लिए हो जावे, तो तुम एक क्षण में उसे पा जाओगे।

जब तक तुम्हें ईश्वर को पाने के लिए ठीक ऐसी ही प्यास, ऐसी ही आकांक्षा उत्पन्न नहीं होती, तब तक आप कितना ही वाद-विवाद कीजिए, चाहे जितनी पुस्तकें पढ़िए और मन माने कितने ही बाह्य अनुष्ठान कीजिए, किन्तु इनसे कोई भी फल प्राप्त नहीं होगा । जब तक परमात्मा को पाने के लिए हृदय अत्यन्त व्याकुल नहीं हो जाता, तब तक आप भी किसी तरह नास्तिकों से कम नहीं ! नास्तिक तो भाव की चोरी नहीं करते, आप वह भी करते हैं । जिसप्रकार मछली पानी के बिना, जीव श्वासों के बिना, पतिव्रता नारी पति के बिना जीवित नहीं रहती, उसी प्रकार सच्चा ईश्वर भक्त ईश्वर दर्शन के बिना कभी भी जीवित नहीं रह सकता ।

एक दिन बीरबल से अकबर बादशाह ने कहा कि तुम्हारे ग्रन्थों में ऐसी कथायें आती हैं, कि भक्त पर विपत्ति आने पर भगवान स्वयं दौड़े आते हैं । जब ईश्वर सर्व-समर्थ है, तो यह काम अपने सेवकों से क्यों नहीं कराता ? बीरबल ने बादशाह की बात का उत्तर देने के लिए पन्द्रह रोज का समय माँगा जिसे बादशाह ने स्वीकार कर लिया ।

बीरबल ने बादशाह के शाहजादे की आयु का एक लकड़ी का लड़का बनवाया और उसे वैसे ही कपड़े पहना कर दाई से कहा, बादशाह जब शाम को बाग में सैर करने को आवें तो इस लकड़ी के लड़के को शाही तालाब में फेंक देना । परन्तु यह काम होशियारी से करना है । बादशाह को ऐसा मालूम न होने पावे कि बच्चा जान बूझ कर फेंका गया है । दाई ने जब बादशाह को तालाब के पास पहुँचते देखा, तो वैसे

ही किया जैसा कि बीरबल कह गए थे। बच्चे को तालाब में गिरते हुए देख कर बादशाह वस्त्रों सहित एकदम तालाब में कूद गए और लकड़ी के लड़के को उठा लिया। बीरबल ने कहा, देखो! जिस प्रकार आप अपने पुत्र-स्नेह के वशीभूत हो कर बिना सोचे विचारे पानी में कूद गए, वैसेही भक्तों के कष्टों को सहन न कर सकने के कारण भगवान् दौड़े चले आते हैं। आप के भी अनेक सेवक हैं यहाँ मैं भी मौजूद था, मगर आप मुझे आज्ञा न देकर स्वयं ही बच्चे की जान बचाने के लिए पहुँचे। इसी प्रकार भगवान भक्तों के लिए आता है।

आप लोग जानते हो कि जब आप का प्रिय पुत्र रोटी माँगता है, तो आप रोटी के बदले पत्थर, पानी के बदले कोई और चीज़ नहीं देते। जब आप ही ऐसा नहीं करते, तो परमपिता से आप दर्शन माँगें तो क्या परमात्मा और कुछ देगा? क्या ईश्वर न्याय नहीं करता? सांसारिक पिता के पास यदि रोटी न हो तो कहेगा ठहरो! पर परम-पिता परमात्मा के पास तो हर समय प्रत्येक वस्तु मौजूद है। पर भगवान को चाहता ही कौन है? क्या आप ऐसा समझते हैं कि ईश्वर को सारा संसार चाहता है और पाता नहीं! ऐसा कभी नहीं हो सकता।

मान लो किसी घर में कोई चोर रहता है। पास वाली कोठरी में जहाँ कीमती मणि या लाल रक्खा है। बीच की दीवार भी बहुत कमजोर और पतली है। चोर को किसी तरह लाल या मणि का पता लग जाता है। ख्याल करो! ऐसे अवसर पर चोर की क्या हालत होगी? जब तक वह उसे प्राप्त न कर ले, तब तक उसे रातों नींद नहीं आएगी। खाना

और आराम करना उसके लिए हराम हो जाएगा। चोर का मन इसी उधेड़-बुन में लगा रहेगा कि उस मणि को कैसे प्राप्त किया जावे। वह सदा यही विचार करेगा कि किसी प्रकार इस पतली दीवार को तोड़ डालूँ और मणि को निकाल लूँ। वास्तव में मनुष्य को क्या ऐसा विश्वास है कि आनन्द और महिमा के आधार स्वयं भगवान यहाँ उपस्थित हैं? नहीं! यदि ऐसा विश्वास हो जाता तो क्या यह उन्हें प्राप्त करने की चेष्टा न करके साधारण सांसारिक कर्मों में फँसा रह सकता? जब मनुष्य को पूरा-पूरा यह विश्वास हो जाता है कि ईश्वर है तब यह उसे पाने की आकांक्षा में पागल हो उठता है।

परन्तु यों तो सभी लोग किसी एक ढंग से जीवन बिता ही रहे हैं। जब कोई मनुष्य निश्चित रूप से यह जान जाता है कि जिस भाँति यह जीवन बीत रहा है, इससे बहुत अच्छा जीवन बिताया जा सकता है तो मनुष्य उसी की खोज करता है। जब मनुष्य यह समझ जाता है कि आत्मा अविनाशी और आनन्द-स्वरूप है तथा उस नित्य आनन्द की तुलना में जड़ देह का आनन्द कोई चीज़ नहीं है तब वह उस आनन्द को पाने के लिए पागल हो उठता है। इस उन्मत्तता, पिपासा या धुन को ही धर्म-जीवन में जागरण कहते हैं। जब से ऐसी जागृति आती है तभी से धर्म-जीवन प्रारम्भ होता है। वास्तव में बात यह है कि ईश्वर को छोड़कर अद्भुत पाँच तत्त्वों की खोज में या साँसारिक विषयों में ही जीवन को गँवाना नहीं चाहिए। हम लोगों को सदा यह याद रखना चाहिए कि ईश्वर ही प्रेम-स्वरूप है वह अद्भुत प्रेम संसार के मोह में या इन व्यापारों में नहीं है।

"उषित्वा जाह्नवी तीरे कूपं खनयति दुर्मति ।"

जो प्यास को दूर करने के लिए गंगा के तट पर कुँआ खोदने का परिश्रम करता है, उसे मूर्ख ही समझना चाहिए; जो हीरों की खान के निकट रहते हुए काँच के टुकड़ों की खोज करने के लिए इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। ईश्वर हीरों की खान है परन्तु हम लोगों ने व्यर्थ की बातों में पड़कर ईश्वर को भुला दिया है। यह मूर्खता नहीं तो क्या है ? इस से मनुष्य वीर्य-हीन हो जाता है । ईश्वर की पवित्रता, आध्यात्मिकता इत्यादि बातों को छोड़कर व्यर्थ की बातों के पीछे दौड़ना, दूसरे के मन की बातों को जानने के लिए उत्कण्ठित रहना मूर्खता है। तेजस्वी बन कर अपने पैरों पर खड़े हो जाइए और प्रेम-स्वरूप भगवान की ख़ोज कीजिए। परमात्मा ही महा-तेज और वीर्य को प्रदान करने वाला है। संसार में परमात्मा की शक्ति से बढ़कर कोई भी शक्ति नहीं है। प्रेम और पवित्रता से ही संसार का शासन होता है। दुर्बल मनुष्य कभी भी भगवान के प्रेम का अधिकारी नहीं हो सकता। अतएव शारीरिक, मानसिक, नैतिक या आध्यात्मिक किसी अंग में भी दुर्बल न रहिए। भूतों के गपोड़े ही आपको दुर्बल बना रहे हैं। इसीलिए आप इनका पूर्ण रूप से परित्याग करके, ईश्वर-प्रेम सम्बन्धी बातों पर ध्यान दीजिये। ईश्वर ही एक मात्र सत्य है। और शेष सभी कुछ असत्य है। ईश्वर के सिवाय सभी व्यवहार झूठा है। इसलिए ईश्वर-प्रेम, ईश्वर-सेवा, और ईश्वर-भक्ति कीजिए। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं:—

नाहं वेदर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्यं एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि माँ यथा ।
(गी० ११-५३)

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(११-५४)

न वेदों के पाठ से, न तप से, न दान से न पुन्य से मेरा यह रूप देखा जा सकता है परन्तु हे श्रेष्ठ तप वाले अर्जुन ! अनन्य भक्ति द्वारा मैं प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता हूँ, देखा जा सकता हूँ तथा मुझमें प्रवेश किया जा सकता है ।

निरातङ्के निरालम्बे निराधारे निरामये ।
योगी योगविधानेन परे ब्रह्मणि लीयते ॥

योग-अभ्यासी पुरुष अष्टाँग-योग का गुरु के बताये हुए विधि से अभ्यास करके जन्म-मरण आदि दुःखों से छूट कर रागादि द्वन्द्वों से रहित होकर, न स्पर्श होने वाले, अवलम्बन रहित अनिर्वचनीय, परब्रह्म-परमेश्वर में लीन हो जाता है ।

यथा घृते घृतं लिप्त घृतमेव हि जायते ।
क्षीरं क्षीरे तथा योगी त्वमेव ही जायते ॥

जिस प्रकार घृत में घृत मिलने से घृत, दूध में दूध मिलने से दूध ही कहलाता है, उसी प्रकार तत्त्व-स्वरूप परब्रह्म में योग अभ्यास करके योगी भी लीन हो जाता है ।

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
यत्स्वय चादिनाथस्य निगत वदनाम्बुजात् ॥

जो लोग योगशास्त्र को पढ़ते हैं और गुरु के बतलाये माग के अनुसार आचरण करते हैं। उन्हें और विस्तृत शास्त्रों के पढ़ने से या और बातों से क्या प्रयोजन है? योग-शास्त्र के आचरण का फल प्रत्यक्ष ही मिलता है। क्योंकि यह शास्त्र आदिनाथ शिव जी के स्वयं हृदय में अनुभूति होकर उनके मुखारविन्द से प्रगट हुआ है। इसलिए अनुभव होने से अति प्रमाणित भी है। परन्तु इसका प्रत्यक्ष ज्ञान बिना गुरु की सहायता से नहीं होता है।

स्नातंतेन समस्ततीर्थसलिले दत्ता द्विजेभ्यो धरा।
यज्ञानाँ च हुतं सहस्रमयुतं देवाश्च संपूजिताः॥
स्वद्वन्नेन सर्कापिताश्च पितरः स्वर्गं च नीताः पुनः।
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्नोति धैर्य मनः॥

साक्षात् मोक्ष के प्रतिपादन करने वाले जो लोग योगशास्त्र का आचरण करते हैं वे कृत्य-कृत्य हो जाते हैं। जिसका क्षण मात्र के लिए भी मन, ब्रह्म-ज्ञान और ब्रह्म-ध्यान में स्थिर हो गया है, मानो उसने गंगा, यमुना, प्रयाग पुष्कर आदि समस्त तीर्थों में स्नान कर लिया है, श्रेष्ठ देवताओं को समस्त पृथ्वी का दान देकर हजारों अश्वमेध, वाज़पेयादि-महायज्ञ कर लिये हैं। ब्रह्मा, विष्णु महेशादि समस्त देवता विधि पूर्वक पूजित कर लिए और स्वादिष्ट अन्न से पितर तृप्त करके स्वर्ग में बिठा दिये हैं अर्थात् इन कर्मों के करने से जो फल मिलता है, वह समस्त फल आत्म-चिन्तन रूप योगाभ्यास से उसी क्षण मिल जाता है।

शशिहीना यथा रात्रो रविहीने तथा दिनम्।

नृपहीनं यथा राज्यं गुरुहीनस्तथा नरः ॥

जैसे चन्द्र के बिना रात्रि, सूर्य के बिना दिन, राजा के बिना राज्य अथवा प्रजा होती है। वैसे ही बिना गुरु के मनुष्य है।

रजनीशेषयामस्य शेषद्धमरुणोदयः ।
तदा साधक उत्थायमुक्तस्वायः कृतासनः ॥
ध्यायेच्छरसि शुक्लाब्जे द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुम् ।
श्वेताम्बरपरीधानं श्वेतमाल्यनुलेपनम् ॥
वराभयकरं शान्तकरुणामयविग्रहम् ।

रात्रि के पिछले पहर के शेष समय में अरुण-उदय के समय (सूर्य के उदय होने के पहले) निद्रा त्याग कर आसन पर बैठकर मस्तक के ऊपर श्वेत कमल में द्विभुज, द्विनेत्र, सद्गुरु बैठे हैं, ऐसा ध्यान शिष्य को करना चाहिए। श्वेतवस्त्र पहने हैं, गले में श्वेत माला और मस्तक श्वेत चन्दन से अर्चित है। वे शान्त और करुणा के आधार हैं। हाथों में वर और अभय है।

भवपाशविनाशाय ज्ञानदृष्टि प्रदर्शिने ।
नमः सद्गुरवे तुभ्यं भुक्ति-मुक्ति प्रदायिनेः ॥

हे गुरुदेव ! आप संसार-बन्धन का नाश करने वाले हैं। आप ज्ञान-दृष्टि के दिखाने वाले हैं, आप ही भोग और मोक्ष देते हो।

नराकृतिरिति परब्रह्मरूपायाज्ञानहारिणे ।
कुलधर्मप्रकाशाय तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

हे सद्गुरुदेव ! आप नर रूप देह-धारी हैं पर अज्ञानहारी परब्रह्म-मूर्ति हैं। आप से कुल धर्मों ने प्रकाश पाया है, इस